प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति

●

लेखक
प्रो. अनंत सदाशिव अलतेकर, एम. ए. एल-एल. बी., डी. लिट.
भूतपूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास और संस्कृति विभाग, काशी
और पटना विश्वविद्यालय; निर्देशक, काशीप्रसाद
जायसवाल अनुशोधन संस्थान, पटना

●

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'प्राचीन भारतीय शासनपद्धति' के प्रथम संस्करण का जिस तरह स्वागत हुआ उससे यह सिद्ध हुआ कि उस ग्रंथ की अत्यन्त आवश्यकता थी और लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया। इस संस्करण में उसे सर्वांगीण व परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। फलस्वरूप प्रथमावृत्ति के २४८ पृष्ठों का ग्रंथ इस आवृत्ति में ३५५ पृष्ठों का हो गया। इस संस्करण में सम्मिलित नये विषय निम्नलिखित हैं :—

(१) प्रथम अध्याय में राज्यशास्त्र, दंडनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि शब्दों के अर्थ का शास्त्रीय विवेचन किया गया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र व शुक्रनीतिसार के विषय में अधिक विस्तृत विवेचन है।

(२) द्वितीय अध्याय में नगरराज्य का विवेचन अंतर्भूत है।

(३) तृतीय अध्याय में सर्वोच्च शासन का अधिष्ठान, प्रभुसत्ता के अधिकारों का विभाजन, धार्मिक विचारधाराओं का शासन-पद्धति पर प्रभाव इत्यादि नये विषय अंतर्भूत किये गये हैं।

(४) न्यायदान-पद्धति पर १२वां अध्याय नया जोड़ा गया है।

(५) चौदहवें अध्याय में मंडल-पद्धति का विवेचन हुआ है।

(६) प्रथम संस्करण के अंतिम अध्याय 'सिंहावलोकन व गुणदोष-विवेचन' को, जो केवल १९ पृष्ठों का था, इस संस्करण में तीन अध्यायों में विभाजित कर दिया गया है। १५वें अध्याय में 'राज्यशासन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण' में वैदिककाल से मौर्यकाल के अंत तक विभिन्न राज्य-पद्धतियों का विवेचन ३३ पृष्ठों में है। १६वें अध्याय में अन्धकार युग की शासन-पद्धति, गुप्तयुग की शासन-पद्धति, हर्षवर्धन की शासन-पद्धति, राष्ट्रकूट साम्राज्य की शासन-पद्धति, हर्षोत्तर-कालीन उत्तर भारतीय शासन-पद्धति, दक्षिण हिंदुस्थान की शासन-पद्धति, का विवेचन ४० पृष्ठों में किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत के राजकीय भूगोल में अनेक परिवर्तन हुए। इसलिए गुणदोष-विवेचन में भी पर्याप्त परिवर्तन करना आवश्यक हुआ। अंतिम अध्याय उसी के अनुरूप नये सिरे से लिखा गया।

द्वितीय संस्करण में प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति का विवेचन विस्तृत, सर्वांगीण और ठोस किया गया है। पाठक इस ग्रंथ में न केवल शासन-पद्धति के मूलभूत सिद्धांतों का विवेचन पायेंगे वरन् विभिन्न राजवंशों में उसका स्वरूप किस प्रकार बदलता गया यह भी जान सकेंगे। ग्रंथ की पादटिप्पणियों में आधारभूत वचनों का उल्लेख दिया गया है। अनेक जगह ये वचन उद्धृत भी किये गये हैं। इनसे गम्भीर अध्ययन करने के लिए संशोधकों को बहुमूल्य साहाय्य मिलेगा। आशा है कि सामान्य पाठक एवं विद्यार्थी, दोनों को इस ग्रंथ का विवेचन साधार, सर्वांगीण व विचार-सिद्ध होगा।

मैं छपाई के समय इतर कार्यों में व्यस्त था। इसलिए मुद्रण-संशोधन, भाषा संवारने आदि का कार्य भारती-भंडार के कुशल व्यवस्थापक श्री वाचस्पति पाठक ने अपने ऊपर लेकर उसे सुचारु रूप से सम्पन्न किया। इसके लिए मैं उनका बहुत ऋणी हूँ।

३-८-५९ — अनंत सदाशिव अलतेकर

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

मेरे ग्रंथ अभी तक प्रायः पहले अंग्रेजी में प्रकाशित हुए थे। पीछे उनका संस्करण मैंने अपनी मातृभाषा मराठी में प्रकाशित किया। मगर 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति' सर्वप्रथम हिन्दी में ही प्रकाशित हो रही है। अनेक कठिनाइयों के कारण इसका अंग्रेजी संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। मराठी संस्करण तैयार हो रहा है। ग्रंथ का सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशित होना इस समय उचित ही है। निकट-भविष्य में हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर आरूढ़ होगी। इसलिए हिन्दवासियों के लिए यह आवश्यक-सा हो गया है कि उनके मौलिक ग्रंथ सर्वप्रथम हिन्दी में ही प्रकाशित हों।

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति पर हिन्दी में कोई ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है जो उसका सांगोपांग निरूपण करे। अंग्रेजी में इस विषय पर अनेक ग्रंथ हैं किन्तु वे उसके अनेक पहलुओं में से एक या कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। मगर भारतीयों के राज्य-शासन विषयक तत्त्वों और सिद्धान्तों का सांगोपांग विवेचन करके उनकी शासन-पद्धति का साधार और सम्पूर्ण वर्णन करनेवाला

ग्रंथ अब तक अंग्रेजी में भी नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ इस कमी को पूरा करने के लिए लिखा गया है।

इस ग्रंथ की विशेषताओं पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना अनुचित न होगा। अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के जो ग्रंथ शासन-पद्धति का विशेष रूप से विवेचन करते हैं, केवल उन्हीं के आधार पर यह ग्रंथ नहीं लिखा गया है। इन ग्रंथों में अनेकविध व उपयुक्त साधन-सामग्री तो मिलती है पर वह कहाँ तक वास्तविक थी और कहाँ तक काल्पनिक इसके बारे में कभी-कभी संशय उत्पन्न हो सकता है। अतएव वैदिक, बौद्ध और जैन वाङ्मय, राजतरंगिणी के समान प्राचीन इतिहास, मेगॅस्थेनीस्, युआनच्वांग सदृश विदेशी इतिहासकार तथा यात्रियों के वृत्तांत, प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों आदि साधनों से प्रत्यक्ष ऐतिहासिक व सत्य से अधिक संबद्ध जो सामग्री प्राप्त होती है उसका भी सहारा लेकर प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के साधार, सांगोपांग किंतु अनतिविस्तृत विवेचन करने का प्रयत्न हमने इस ग्रंथ में किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास वैदिक, उपनिषद, मौर्य, गुप्त आदि कालखंडों में विभाजित है। विवेचित संस्थाओं और शासनतत्त्वों का विकास ऊपर निर्दिष्ट कालखंडों में किस प्रकार हुआ यह दिखाने का प्रयत्न प्रत्येक अध्याय में किया गया है। विभिन्न प्रांतों में शासन-संस्थाओं का विकास कभी-कभी किस कारण भिन्न प्रकार से हुआ इसे भी बतलाने का, जहाँ संभव था, प्रयत्न किया गया है।

प्रथम अध्याय में प्राचीन भारत के राज्यशासन के ग्रंथों का इतिहास देकर उनका स्वरूप और उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई, उसके कौन-कौन-से प्रकार थे, उनका स्वरूप क्या था, राज्य का ध्येय और कार्य क्या होना चाहिए आदि प्रश्नों के विषय में प्राचीन भारतीयों के क्या विचार थे, उनका परिचय द्वितीय और तृतीय अध्यायों में दिया गया है। चौथे अध्याय में राज्य और नागरिकों के परस्पर सम्बन्ध तथा विदेशियों और नागरिकों के भेद-भाव किस प्रकार के थे, नागरिकों की विभिन्न श्रेणियों के अधिकार कहाँ तक समान थे—इन विषयों का विवेचन किया गया है। इन अध्यायों का सम्बन्ध इस प्रकार राज्यशासन के मूल सिद्धान्तों से है।

इन अध्यायों में राज्यशासन के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन करके पंचम अध्याय से शासनपद्धति का वर्णन प्रारम्भ होता है। पंचम अध्याय में नृपतंत्र का विवेचन है। नृपपद का विकास कैसे हुआ, कालांतर में किस मर्यादा तक वह दैवी माना जाने लगा, राजा के अधिकार कैसे सीमित किये जाते थे,

उसमें कितनी सफलता मिलती थी आदि विषयों की चर्चा इस अध्याय में की गयी है।

गणतंत्रों या प्रजासत्तात्मक राज्यों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, उनका विकास किस प्रकार हुआ, उनमें वास्तविक राज्य-सत्ता सामान्य जनता के हाथ में किस अंश तक थी, उनके कौन-कौन-से प्रकार थे, तथा सरकार और लोकसभा एक-दूसर से किस प्रकार संबद्ध थे, गणतंत्रों का ह्रास और विनाश कब और क्यों हुआ इत्यादि विषयों की चर्चा षष्ठ अध्याय में की गयी है। केन्द्रीय लोकसभा के अधिकारों का विवेचन सप्तम अध्याय में है।

केन्द्रीय सरकार की रूपरेखा का दिग्दर्शन अष्टम और नवम अध्यायों में है। मंत्रिमंडल की उत्पत्ति, सत्ता और कार्यपद्धति का वर्णन अष्टम अध्याय में दिया है। केन्द्रीय सरकार और शासनाधिकारी कार्यसंचालन किस प्रकार करते थे, प्रान्तीय और जिले के शासकों का निरीक्षण, नियंत्रण और पर्यवेक्षण कैसे किया जाता था, अनेक शिलालेखों और ग्रंथों में बिखरी हुई सामग्री के आधार पर, इन प्रश्नों का उत्तर इस अध्याय में दिया गया है।

दशम और एकादश अध्यायों में प्रांतों, जिलों, नगरों और ग्रामों के शासन-प्रबंध का वर्णन और इतिहास दिया है। विभिन्न प्रांतों में इस विषय में कौन-कौन-से भेद थे इस प्रश्न का उत्तर भी, शिलालेखों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर, इन्हीं अध्यायों में दिया गया है।

त्रयोदश अध्याय में सम्राट् और करद सामंतों के सम्बन्ध पर प्रकाश डाला गया है और यह भी बतलाया गया है कि स्वतंत्र राज्य परस्पर कैसा व्यवहार करते थे।

राजा, गणतंत्र, केन्द्रीय-सभा इत्यादि जो राज्ययंत्र के विविध अंग हैं उनका विकास प्राचीन भारत में एक कालखंड से दूसरे कालखंड में कैसे हुआ उसका सम्यक् ज्ञान पाठकों को पहले तेरह अध्यायों से ठीक तरह होगा। किन्तु विविध कालखंडों में सम्पूर्ण राज्ययंत्र किस प्रकार था, इसका ज्ञान न होगा। इस प्रश्न का उत्तर चतुर्दश अध्याय के प्रथम खंड में दिया गया है।

प्राचीन इतिहास और संस्थाओं का ज्ञान हमें केवल ज्ञान के लिए ही प्राप्त न करना चाहिए; वरन् इसलिए भी कि आधुनिक समस्याओं के हल करने में हमें उनसे कहाँ तक सहायता मिल सकती है। अतएव अन्तिम अध्याय के दूसरे खंड में प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के गुण-दोष, उनसे राष्ट्र को क्या लाभ पहुँचा और कौन-सी हानि हुई, स्वतंत्र भारत के नवविधान के निर्माण में हमें उनसे कुछ लाभ हो सकता है या नहीं, इन प्रश्नों का विवेचन किया गया है।

यह पुस्तक एक संशोधनात्मक ग्रंथ है। आशा है कि इसमे विशेषज्ञों को भी अनेक विषयों के बारे में कुछ नये सिद्धान्त और निष्कर्ष ज्ञात होंगे। ग्रंथ में प्रतिपादित सब महत्त्व के सिद्धान्तों और विधानों के लिए मूल आधारभूत ग्रंथों के संदर्भ या उद्धरण पादटिप्पणियों में दिये गये हैं। उनसे अन्वेषकों को अधिक की अध्ययन सामग्री मिलेगी। किन्तु ग्रंथ का लेखन तथा विषयप्रतिपादन इस ढंग से किया है कि साधारण सुशिक्षित लोग भी उसे पढ़ कर समझ सकें तथा लाभ उठा सकें। संशोधनात्मक ग्रंथ रोचक एवं सुबोध भाषा में लिखने का यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसका निर्णय पाठक ही करेंगे।

मातृभाषा हिन्दी न होने, तथा उसमें लिखने के अभ्यास के अभाव के कारण मेरे लिए हिन्दी में ग्रंथ लिखना कष्टसाध्य-सा था। किन्तु इस कार्य में मुझे मेरे भूतपूर्व छात्र तथा लखनऊ के 'स्वतंत्र भारत' के विद्वान् संपादक श्रीयुत अशोकजी, एम० ए०, ने अनमोल सहायता दी। इसके लिए मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ। संभव है कि पाठकों को कुछ स्थानों पर मराठी भाषा के विशिष्ट शब्दों (जैसे Trustee के लिए विश्वस्त, Tribute के लिए खंडणी) वा वाक्य-रचनाओं का आभास हो। जब हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी, और उसमें मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाभाषी लिखने लगेंगे, तब कुछ अंश तक उसका स्वरूप बदलना अनिवार्य-सा हो जायगा। अमेरिका की अंग्रेजी में जैसे 'अमेरिकॅनिज़म' आती है वैसे ही महाराष्ट्रियों की हिन्दी में कुछ 'मराठीपन' अवश्य आयेगा। आशा है कि हिन्दी को अन्ततोगत्वा उससे लाभ ही पहुँचेगा।

राज्यशास्त्र विषय के अनेक शब्दों के हिन्दी प्रतिशब्द अभीतक निश्चित नहीं हुए हैं; Republic, Democracy, Oligarchy, Political obligatinos आदि शब्दों के हिन्दी प्रतिशब्दों के विषय में अभी तक हिन्दी-लेखक एकमत नहीं हैं। ऐसे शब्दों के निर्माण तथा निश्चित करने में मुझे मेरे सहाध्यापक प्रो० कन्हैयालाल वर्मा, प्रो० केशवप्रसाद मिश्र, प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा और डॉ० राजबली पांडे से सहायता मिली। इसलिए मैं उनको धन्यवाद देना चाहता हूँ। नये शब्दों के निर्माण में स्वभावतः संस्कृत भाषा के शब्दभंडार का आश्रय लेना पड़ा। इन सब शब्दों की सूची परिशिष्ट नं० १ में ग्रंथ के अंत में दी गयी है। पुस्तक पढ़ने के पूर्व यदि पाठक पहले हिन्दी की और तत्पश्चात् अँग्रेजी की सूची देखें तो मुझे आशा है कि उन्हें ग्रंथपठन में सहायता मिलेगी।

संस्कृतादि भाषाओं के प्राचीन ग्रंथकारों व ग्रंथों और प्राचीन इतिहास के

अनेक राजाओं और राजवंशों का काल सामान्य पाठकों को विदित नहीं होता। ग्रंथ में उनका अनेक बार उल्लेख करना आवश्यक था। अनेक स्थानों में उनका काल भी कोष्ठों में दिया गया है। किन्तु पाठकों के सुभीते के लिए परिशिष्ट २ में इन सबकी काल-सूची अकारादिक्रम से दी गयी है। आशा है उसके कारण पाठकों को ग्रंथपठन में बड़ी सहायता मिलेगी।

पाद-टिप्पणियों में ग्रंथों के नाम का उल्लेख संक्षेप में करना अपरिहार्य है। संक्षिप्त ग्रंथ-नामों की अकाराविक्रम से सूची परिशिष्ट ४ में (*अब ग्रंथ के आरम्भ में) दी गयी है। उसे भी पाठक कृपया प्रथम देखें। परिशिष्ट ३ में आधारभूत संस्कृत तथा अंग्रेजी ग्रंथों के नाम दिये गये हैं। परिशिष्ट ४ में विस्तृत वर्णानुक्रमणिका दी गयी है जिससे पाठकों को ग्रंथांतर्गत कोई भी विषय आसानी से मिल जायगा।

मेरे सहाध्यापक और राज्यशास्त्र के अध्यापक प्रो० कन्हैयालाल वर्मा जी ने इस ग्रंथ की पांडुलिपि संपूर्ण पढ़ी और उसकी भाषा, शब्दप्रयोग और सिद्धान्तों के बारे में मुझे अनेक महत्त्व की सूचनाएँ दीं। मैं उनका बहुत आभारी हूँ। मेरे दूसरे सहाध्यापक और भूतपूर्व शिष्य प्रो० अवध किशोर नारायण जी ने मुझे इस ग्रंथ के मुद्रित (प्रूफ) देखने में और शुद्धिपत्र बनाने में बहुत सहायता की है, जिसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रंथ के सर्वप्रथम हिन्दी में प्रकाशित होने का श्रेय मेरे भूतपूर्व छात्र और भारती भंडार ग्रंथमाला के विद्वान् संपादक पंडित वासुदेव उपाध्याय जी को है। यदि वे प्रेमादर से इस ग्रंथ के लेखन में मुझे बलात् नियोजित न करते तो वह इतनी जल्दी प्रकाशित न होता। मुझे विश्वास है कि इस ग्रंथ के प्रकाशन से हिन्दी भाषा-भाषियों को प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति का सम्पूर्ण और साधार ज्ञान प्राप्त होगा और हमारे संस्कृति के एक अंग के गुण-दोषों का विश्वसनीय चित्र मिलेगा।

काशी विश्वविद्यालय, १५-२-१९४८
वसंत पंचमी, सं० २००४

अनंत सदाशिव अलतेकर

विषय-सूची

परिशिष्ट

संक्षिप्त-ग्रंथ-नाम-सूची

अर्थ.—अर्थशास्त्र, कौटिल्य कृत
अ. वे.—अथर्ववेद
अ. स. रि.—अर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ऍन्युअल रिपोर्ट
अ. स. वे. इं.—अर्केऑलॉजिक सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया
आ. ध. सू.—आपस्तंब धर्मसूत्र
आ. श्रौ. सू.—आपस्तंब श्रौतसूत्र
इं अँ.—इंडियन अँटिक्वेरी
इंडि. अँटि.— "
इं. हि. क्वा.—इंडियन हिस्टॉरिकल क्वॉर्टर्ली
इं. म. प्रे.—इन्स्क्रिप्शन्स फ्रॉम मद्रास प्रेसिडेन्सी, रंगाचार्य द्वारा संपादित, तीन भाग
ईलियट्—हिस्टरी ऑफ इंडिया अॅज टोल्ड बाय हर ओन हिस्टोरियन्स, ईलियट और डौसन द्वारा संपादित
ऋ. वे.—ऋग्वेद
ए. इं.
ए. पि. इंडि. } —एपिग्राफिया इंडिका
ए. क.—एपिग्राफिया कर्नाटिका
ऐ. ब्रा.—ऐतरेय ब्राह्मण
का. सं.—काठक संहिता
गौ. ध. सू.—गौतम धर्मसूत्र
ज. आ. हि. रि. सो.—जर्नल ऑफ दी आंध्र हिस्टॉरिकल रिसर्च सोसायटी
ज. ए. सो. बें.—जर्नल ऑफ दी एशियाटिक सोसायटी ऑफ बेंगाल
ज. बॉ. ब्रँ. रॉ. ए. सो.—जर्नल ऑफ दी बांबे ब्रंच ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी
ज. रॉ. ए. स.—जर्नल ऑफ दी रॉयल एशियाटिक सोसायटी
जा.—जातक
जै. ब्रा.—जैमिनीय ब्राह्मण
तै. ब्रा.—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.—तैत्तिरीय संहिता
पं. ब्रा.—पंचविंश ब्राह्मण
पू. मी.—पूर्वमीमांसा
बृ. उप.—बृहदारण्यक उपनिषद्
बौ. ध. सू.—बौधायन धर्मसूत्र
बौ. श्रौ. सू.—बौधायन श्रौतसूत्र
भांडारकर, सूची—लिस्ट ऑफ ब्राह्मी इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ नॉर्दर्न इंडिया।
म. नि.—मज्झिम निकाय
म. भा.—महाभारत
मे. अ. स. इ.—मेमॉयर्स ऑफ दि अर्के-ऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिय।
राज.—राजतरंगिणी
राष्ट्रकूट—राष्ट्रकूटाज अॅण्ड देअर टाइम्स
राष्ट्रकूटों का इतिहास—" "
व. ध. सू.—वशिष्ठ धर्मसूत्र
वा. सं.—वाजसनेयी संहिता
श. प. ब्रा.
श. ब्रा. } —शतपथ ब्राह्मण
सौ. इं. इं.—सौथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स्, हुल्ट्श द्वारा संपादित
सौ. इं. ए. रि.—सौथइंडियन एपिग्रॅफी रिपोर्ट्स

अध्याय १

राजनीतिशास्त्र : उसके नाम, इतिहास व आधारभूत ग्रन्थ

●

शास्त्र का नाम

राजधर्म, राज्यशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि नामों से प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र संबोधित किया जाता था। इनमें से राजधर्म[1] व राज्यशास्त्र[2] ये नाम इस वास्ते दिये गये थे कि उस समय नृपतंत्र या राजतंत्र सामान्यतः प्रचलित था व इसलिए शासनशास्त्र को राजधर्म या राज्यशास्त्र का नाम देना स्वाभाविक था। दण्डनीति यह नामाभिधान भी समझने में कठिन नहीं है। दूसरे अनेक ग्रंथकारों के समान भारतीय राजनीतिशास्त्री भी राजसत्ता का अंतिम आधार, दण्ड या बलप्रयोग समझते थे। यदि राजसत्ता अपराधियों को दण्ड न देगी, तो समाज में मत्स्यन्याय या अराजकता शुरू होगी; दण्ड के भय से ही लोग न्याय्य पथ का अनुसरण करते हैं; जब सब लोग सोते हैं, तब दण्ड उनका रक्षण करता है। संक्षेपतः दण्ड ही धर्म है, ऐसी भारतीय शास्त्रियों की धारणा थी[3]। अर्थात् यह भी आवश्यक है कि दण्ड-प्रयोग सावधानता से किया जाय। यदि राजा कड़ा दण्ड दे, तो लोग उससे द्वेष करेंगे; यदि बहुत कम दण्ड दे, तो वे उसका आदर नहीं करेंगे;[4] यदि वह उचित मात्रा में दिया जाय, तो जनता सुखी होगी, समाज की प्रगति होगी व राजा का आसन स्थिर रहेगा।

कौटिल्य के अनुसार यह धारणा गलत है कि दण्ड से लोगों के मन में डर उत्पन्न होता है। अपराधी दंडित होते देखने से सामान्य जनता के मन में कायदे-कानून के अनुसार चलने की प्रवृत्ति स्वभावतः उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप दण्ड प्रयोग करना भी सुसंस्कृत समाज में धीरे धीरे अनावश्यक हो जाता

---

१ मनुस्मृति में इस शब्द का उपयोग किया गया है (अध्याय ७)।

२ महाभारत शांतिपर्व १.५८–६३ में इस शब्द का व्यवहार किया गया है।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ मनु, ८.१४ ।

४ तीक्ष्णदंडो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते। यथार्हदण्डः पूज्यः। कौटिलीय अर्थशास्त्र २.१। मनु ७. १९. २७ भी देखिये।

है। ऐसी परिस्थिति में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष ये ध्येय प्राप्त करने में समाज की अच्छी प्रगति होती है, व न केवल व्यक्ति का किन्तु समाज का भी कल्याण होता है[१]। दण्ड के कारण राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक ध्येयों का ठीक समन्वय कैसे करना चाहिए, यह लोग समझ सकते हैं। सभी संबंध दण्डनीति पर निर्भर हैं, ऐसा उशनस् का सिद्धांत था। (म० भा० १२-६२.२८-२९) मनु ने दण्ड देने वाली मानवी व्यक्ति को राजा नहीं माना है, किन्तु दण्ड को ही शासक समझा है[२]। ऐसी परिस्थिति में शासकों के कर्तव्य व समाज के कल्याण बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति नाम से संबोधित करना स्वभाविक ही था। उशनस्[३] व प्रजापति ने शासन-शास्त्र पर जो ग्रंथ लिखे थे, वे दण्डनीति नाम से ही प्रसिद्ध थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र भी उसी नाम से ज्ञात था।

शासनशास्त्र-निदर्शक नीतिशास्त्र शब्द नी=ले जाना, मार्गदर्शन करना इस धातु से सम्बन्धित है। नीति याने उचित-पथ-प्रदर्शन। उचित-अनुचित कार्यों को बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से विदित होने लगा व उसमें मानव-समाज के विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों की चर्चा होने लगी। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीतिशतक इस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। वैयक्तिक जीवन में योग्य मार्ग से जाना जितना महत्वशील है, उससे भी अधिक वह राजकीय क्षेत्र में है; कारण यदि वहाँ थोड़ी भी गलती हो, तो समाज बड़े कष्ट में मग्न हो जाता है। इसलिये नीतिशास्त्र शब्द संकुचित अर्थ में राजनीतिशास्त्र के लिए भी उपयोग में आने लगा। कामंदक व शुक्र के शासनशास्त्र विषयक ग्रंथ नीतिशास्त्र नाम से ही विदित हैं, राज्यशास्त्र या दंडनीति के नाम से नहीं। लक्ष्मीधर (ई० स० ११२५), अन्नंभट (ई० स० १२००) चण्डेश्वर (ई० स० १३५०) नीलकंठ व मित्रमिश्र (ई० स० १६२५) इत्यादि प्रबन्धकारों ने अपने ग्रंथों में जिस शासन-पद्धति का विवेचन किया है, वह नीति-कल्पतरु, नीति-चन्द्रिका, नीतिरत्नाकर, नीतिमयूख और नीतिप्रकाश नामों से यथाक्रम विदित हैं। नीतिशास्त्र का ध्येय जैसा समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति का साधन था, वैसा ही ध्येय शासनशास्त्र का था। इसलिए उसे भी नीतिशास्त्र कहने लगे।[४]

---

१ आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। अर्थशास्त्र १.४

२ स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शास्ता च सः। ७.७

३ स च औशनस्यां दण्डनीतौ परं प्राविण्यमुपगतः। मुद्राराक्षस, अंक १

४ सर्वोपजीवकं लोक स्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थ काम मूलं हि स्मृतं मोक्ष प्रदं यथा॥ शुक्र, १.५

अब हम यह देखें कि अर्थशास्त्र शब्द शासनशास्त्र के लिए कैसे रूढ़ हुआ। 'अर्थ' का अर्थ सामान्यतः पैसा या संपत्ति है; इसलिए अर्थशास्त्र शब्द प्रायः संपत्तिशास्त्र (Economics) के लिए प्रयोग करते हैं। किन्तु कौटिल्य का यह कहना है कि 'अर्थ' शब्द से जैसे मनुष्यों के व्यवसाय या धंधे दिग्दर्शित होते हैं, वैसे ही जिस भूमि पर रहकर वे व्यवसाय चलाते हैं, वह भूमि भी संबोधित हो सकती है; इसलिए भूमि को प्राप्त करने व उसका पालन करने का जो शास्त्र है, उसे भी अर्थशास्त्र कहना उचित ही है[1]। यह कारणपरम्परा सर्वमान्य होगी या नहीं, यह एक विवाद्य प्रश्न है। किन्तु चूँकि नीतिशास्त्र विषयक सबसे महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ अर्थशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध था, इसलिए अर्थशास्त्र शब्द भी राज-नीतिशास्त्र के अर्थ में रूढ़ हो गया[2]। शुक्रनीति (४.५.५६) में कहा गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र न केवल संपत्ति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है, किन्तु शासनशास्त्र के सिद्धान्तों को भी प्रस्थापित करना है। अर्थशास्त्र के प्रथम अध्याय का आलोकन करने से यह पता लगता है कि कौटिल्य प्रथम अपने ग्रंथ को दंडनीति यह नाम देना चाहते थे, किंतु अंत में उनका मन बदल गया व उन्होंने अर्थशास्त्र नाम निश्चित किया जिसका कारण उन्होंने ग्रंथ के अंतिम अध्याय में दिया है। कवि दण्डी ने कौटिल्य के ग्रंथ को दण्डनीति नाम दिया है।[3]

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राज्यशास्त्र के इतिहास में प्रथम वह 'राजधर्म' के नाम से विदित था, पीछे 'दण्डनीति' यह नाम अधिक लोकप्रिय हुआ व विकल्प से उसे दण्डनीति भी कहने लगे। आगे चल कर 'राजनीतिशास्त्र' या 'नीतिशास्त्र' यह नाम अधिकाधिक लोकप्रिय हुआ और दूसरे नाम पीछे पड़ गये।

नीतिशास्त्र का इतिहास

अब हमें नीतिशास्त्र का उदय कब हुआ व उसका विकास कैसे होने लगा,

---

१ मनुष्याणां भूमिरर्थः मनुष्यवती भूमिरर्थः। तस्याः पृथिव्या लाभ पालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति। १५.१

२ अमरकोश में अर्थशास्त्र दंडनीति का पर्यायवाची शब्द दिया गया है; मिताक्षरा (याज्ञ० १.३११, ३१३) ने भी यह मत स्वीकृत किया है।

३ अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्रैः संक्षिप्ता। अध्याय १

इसका विचार करना है। इस विवरण से शासनशास्त्र के आधारभूत कौन ग्रंथ हैं व उनसे हमें इस कार्य में कहाँ तक सहायता मिल सकती है यह भी पाठकों को विदित होगा। इससे पता चल जायगा कि इस कार्य में हमें किन कठिनाइयों का सामना करना और किन सीमाओं के भीतर रहना है।

खास राज्य-शास्त्र का वाङ्मय हमें ५०० ई० पू० के पहले नहीं मिलता। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि व्याकरण निरुक्त और ज्योतिष ऐसे अर्ध-लौकिक और अर्ध-धार्मिक विषयों के स्वतंत्र वाङ्मय का विकास भी ८०० ई० पू० के आसपास ही आरंभ हुआ। अतः ६०० ई० पू० के पहिले राज्यशास्त्र के स्वतंत्र वाङ्मय की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

वैदिक और ब्राह्मण काल में राज्यशास्त्र के ग्रंथ न होने पर भी वैदिक वाङ्मय भर में इतस्ततः स्फुट वचन मिलते हैं जिनसे तत्कालीन राज्यशास्त्र और व्यवस्था का थोड़ा परिचय मिल जाता है। ऋग्वेद में तो राज्यशास्त्र विषयक उल्लेख बहुत कम हैं[१]। पर अथर्व वेद में उनकी संख्या पर्याप्त है। परन्तु उनका संबंध प्रायः राजा से ही अधिक है[२]। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में राज्याभिषेक तथा राज्यारोहण या उसके बाद किये जाने वाले यज्ञों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। इससे राजपद की प्रतिष्ठा कैसी थी, राजकर्मचारी कौन थे, प्रजा से कौन-कौन से कर वसूल किये जाते थे इत्यादि विषय में बहुत अच्छी जानकारी प्राप्त होती है[३]। इनमें बहुत से ऐसे स्थल भी हैं जिनमें विभिन्न जातियों के परस्पर संबंध, अधिकार और स्थिति का विवेचन है जिससे भी राज्यतंत्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

ई० पू० ८ वीं शताब्दी से व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष आदि

---

१ निम्नलिखित स्थल विशेष महत्व के हैं :—
१०.१९१; १०.१७३; १०.१६६; १०.१२४-८; १०.९७,६; १०.७८.१; ४.४२; ९.९२,६; ७.६,५; ६.२८. ६; ४.४; १; ३.४३.५; १.२५.१०—१५; १.६७. १; १.२५.८; तथा १,१३०.१

२ निम्नलिखित स्थान महत्त्व के हैं :—
३.४—५; ६.८८; ५.१९; ७.१२; ६.४०.२; २०.१२७; ४.२२; १९.३१; ८.१०; ८.१३.

३ तै० स० ३.४—५; ८.९.१; का० सं० ३१.१०; १५.४; श० ब्रा० १.७.३ ४; ५.३.१.१; ३.३.६—९; ४.४.७; ९.३.४.५; १३.१.९.८; २-९.२—५; ४.४.१; ऐ० ब्रा० १.१४; २.३३; ८.१०—१२; १४; २३; ३१; प० ब्रा० १९.४.

विषयों का विशेषाध्ययन शुरू हुआ। इन विषयों के पंडित अपने-अपने विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखने लगे जिनसे अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुकर होने लगा। राज्यशास्त्र का आरंभ भी इसी युग में हुआ, परन्तु उपर्युक्त विषयों के बाद संभवतः धर्मशास्त्र के साथ। दुर्भाग्यवश इस विषय के सब प्राचीनतम ग्रंथ जो संभवतः ई० पू० छटीं शताब्दी में रचे गये, नष्ट हो गये। ई० पू० सातवीं सदी में राजनीतिशास्त्र का विकास होना स्वाभाविक ही था। उस समय देश में अनेक छोटे राज्य थे और उनके शासक अपने मंत्रियों व गुरुओं के साथ राज्य-शास्त्र के अनेक सिद्धांतों की चर्चा हमेशा करते थे। शांतिपर्व में जब धर्मराज अपने गुरु भीष्म से अनेक विवाद्य प्रश्न पूछते हैं, तब भीष्म स्वयं अपना मत देने के बजाय प्राचीन काल में उन विषयों पर राजाओं और ऋषियों के बीच में जो चर्चा हुई थी, उसका सारांश देते हैं। राजा के देवत्व पर चर्चा करते समय अध्याय ६५ में भीष्म मांधाता व इन्द्र के बीच में संवाद का सारांश देते हैं। दण्ड के महत्व को समझाने के समय वे राजा वसुहोम व मांधाता के संवाद का निर्देश अध्याय ६८ व १२२ में करते हैं; राजा के कर्तव्य-पालन का महत्व बताने के समय वे अध्याय ६० में यौवनाश्व व मांधाता के संवाद पर जोर देते हैं; पुरोहित का महत्व वर्णन करते समय वे अध्याय ७३ में ऐल व काश्यप में हुई चर्चा का सारांश देते हैं; कोश का महत्व बखानते समय अध्याय ८२ व १६४ में कालवृक्ष ऋषि व कोशलनरेश का वादविवाद दिया गया है; गणराज्यों की समस्याओं की अलोचना करते समय नारद व कृष्ण के संवाद का सारांश अध्याय ८१ में दिया गया है। शांतिपर्व में उद्धृत किये गये इन वादविवादों में कुछ जरूर राज्यशास्त्र पर लिखे गये ग्रंथों के अंशों के रूप में होंगे। ई० पू० ७वीं व ६वीं सदी में राज्यशास्त्र पर अनेक ग्रंथ जरूर अस्तित्व में थे, यद्यपि वे पीछे सब नष्ट हो गये। इन ग्रंथों का काल प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरिस्टॉटल से पूर्व था।

राज्यशास्त्र के निर्माताओं के सिद्धांतों और ग्रंथों के परिचय हमें केवल महाभारत और कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही होता है। यद्यपि इन दोनों ग्रंथों के विषय, रूप, दृष्टिकोण और परंपराएँ भिन्न हैं फिर भी इनमें उल्लिखित पूर्व सूरियों के नामों में अंतर नहीं है। महाभारत का इस विषय का वृत्तांत प्रायः दंतकथात्मक ही है। इसमें कहा गया है कि प्रारंभ में ब्रह्माजी ने उस समय फैली हुई अराजकता का अंत करके समाज-व्यवस्था पुनः स्थापित करने के बाद १ लाख श्लोकों में विशाल राज्यशास्त्र की रचना की। इसे क्रमशः शिव विशा-

लाक्ष, इन्द्र, बृहस्पति तथा शुक्र ने संक्षेप किया[1]। राज्यशास्त्र के अन्य ग्रंथकारों में मनु, भारद्वाज और गौरशिरस् का भी उल्लेख है।

इन देवताओं के नामों से यह न समझ लेना चाहिये कि इन ग्रंथों का अस्तित्व केवल महाभारतकार अथवा कौटिल्य की कल्पना में ही था। प्राचीन भारत के लेखकों की यह प्रथा थी कि वे बहुधा स्वयं अज्ञात रहकर अपने ग्रंथों पर देवताओं या पौराणिक ऋषियों के नाम दे दिया करते थे। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति तथा शुक्रनीति आदि ग्रंथों के नाम इसके उदाहरण हैं।

इस निष्कर्ष की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी होती है; जिसमें अनेक स्थलों में[2] विशालाक्ष, इन्द्र (बहुदंत), बृहस्पति, शुक्र, मनु, भारद्वाज और गौरशिरस् का उल्लेख करके इनके मंतव्यों पर विचार किया गया है। इनके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में पराशर, पिशुन, कौणपदंत, वातव्याधि, घोटमुख, कात्यायन, और चारायण आदि राज्यशास्त्र के प्रणेताओं का भी उल्लेख है।

अन्य शास्त्रों की भाँति राज्यशास्त्र में भी विभिन्न परंपराएँ थीं। कुछ मनु प्रजापति को अपना गुरु मानते थे, कुछ देवगुरु बृहस्पति को, कुछ उनके प्रतिद्वंद्वी असुरों के आचार्य शुक्र उशनस् को। कुछ ब्रह्मा के अनुयायी थे तो कुछ इन्द्र के और कुछ शिव के। प्रारंभ में शास्त्र के प्रवेशार्थियों के लिए सूत्रों की रचना हुई होगी बाद में इन्हें विशद ग्रंथों का रूप दिया गया। ये ग्रंथ लिखे तो गये मनुष्यों द्वारा पर नाम इन पर देवताओं या ऋषियों के दिये गये।

दुर्भाग्यवश इनमें से कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ ग्रंथों की सामग्री तो महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्म अध्याय में समाविष्ट कर ली गयी और बाकी ग्रंथ कौटिल्य की अनुपम रचना अर्थशास्त्र द्वारा पहले पिछाड़े गये और पीछे लुप्त हो गये। फिर भी कुछ ६वीं शताब्दी तक उपलब्ध थे, क्योंकि सुरेश्वराचार्य कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा टीका में विशालाक्ष का एक श्लोक उद्धृत किया गया है[3]।

---

१ शांतिपर्व ५७;५८.

२ देखिए पृष्ठ ६, १७, २७–२९, ३२–३, ६३, १७७, १९२, २५३, २५५, ३२२, ३२८–३०, ३७५, ३८२ (अर्थशास्त्र डा० शामशास्त्री सम्पादित द्वितीय संस्करण)

३ अर्थशास्त्र (त्रिवेन्द्रम् सं० सी०) भाग १ भूमिका पृष्ठ ६

फिर भी अर्थशास्त्र के उल्लेखों से उपर्युक्त लुप्त ग्रंथों के स्वरूप का अंदाज लग जाता है। राज्यशास्त्र इस समय अध्ययन का नया विषय था इसलिए अनेक ग्रंथकार वेद, दर्शन तथा वार्ता के मुकाबले राज्यशास्त्र के महत्व की चर्चा से ही अपने ग्रंथ आरंभ करते थे। उशनस् तो यहाँ तक कह गये हैं कि संसार के सब शास्त्रों में केवल राज्यशास्त्र ही अध्ययन योग्य विषय है।

इन ग्रंथों में नृपतंत्र का ही विवेचन है और आदर्श राजा के गुणों और उसकी शिक्षा के वर्णन ने ही अधिकांश स्थान ले लिया है। कोश, बल और दुर्गों के संबंध में उठनेवाली कठिनाइयों का भी सविस्तर वर्णन है। मंत्रिमंडल के कार्य और रूप-रेखा का भी विशद वर्णन मिलता है और ज्ञात होता है कि मंत्रियों की संख्या और गुणों के बारे में काफी मतभेद था। राष्ट्रनीति के सिद्धांतों की भी विवेचना की गयी है। भारद्वाज की राय बलवान के सामने झुक जाने की है तो विशालाक्ष के मत में लड़ते-लड़ते मर मिटना ही श्रेयस्कर है। वातव्याधि ने षाड्गुण्य के सिद्धांत को अस्वीकार और द्वैगुण्य का समर्थन किया है। मालूम होता है इन ग्रंथकारों ने कर-व्यवस्था संबंधी प्रश्नों पर विचार नहीं किया, कम से कम अर्थशास्त्र में इस विषय पर इनके मंतव्यों का उल्लेख नहीं है। राज्य की आय तथा प्रांतीय कर्मचारियों पर नियंत्रण के प्रश्न पर विचार किया गया है परन्तु स्थानीय शासन का विषय छोड़ दिया गया है। इन ग्रंथों में दण्ड और व्यवहार (दीवानी और फौजदारी) चोरी, डकैती, गबन आदि अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था[1] भी है। अंत में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे ग्रंथ कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्ववर्ती थे और उनमें अर्थशास्त्र के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और सप्तम अध्याय में वर्णित विषयों का विवेचन था। अवश्य ही अर्थशास्त्र का विवेचन उनकी अपेक्षा बहुत गहरा है।

महाभारत भी राज्यशास्त्र का महत्वपूर्ण आकर ग्रंथ है। शांतिपर्व के राजधर्मपर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्यों और शासन-व्यवस्था के अनेक अंगों का अत्यंत विशद वर्णन है। इसमें राज्यशास्त्र की महत्ता का वर्णन है (अध्याय ६३-६४) और राज्य तथा राजतंत्र की उत्पत्ति पर महत्त्वपूर्ण सिद्धांत स्थापित किये गये हैं (अध्याय ५६, ६६, ६७)। कई अध्यायों में राजा और मंत्रियों के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्व का वर्णन है। (५५-५६, ७०-८१, ७६,

---

१ देखिये—अर्थशास्त्र में पृष्ठ ९, ६८, १५७, १६१, १८५, १९२, १९६ और १९८।

६४, ६६, १२०) । छः अध्यायों में कर-व्यवस्था का विवेचन है (७१, ७६, ८८, ६७, १२०, १३०), परन्तु राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का विवरण अर्थशास्त्र (अध्याय २) के समान विशद नहीं है । स्वराष्ट्र शासन-व्यवस्था का वर्णन संक्षेप में एक अध्याय में है (८०), परन्तु परराष्ट्र-नीति और संधि-विग्रह विषय को अधिक स्थान दिया गया है (अध्याय २०, ८६, ६६, १००-१०३, ११० और ११३) । निस्संदेह महाभारत का राजधर्म विभाग का विवेचन पूर्ववर्ती ग्रंथकारों से अधिक सविस्तर और सांगोपांग है । संभवतः इसमें उनके कुछ सिद्धांत और कुछ श्लोकों का भी समावेश हुआ है।

शांतिपर्व के राजधर्मपर्व के अध्याय के अतिरिक्त भी महाभारत के कुछ अध्यायों में राज्यतंत्र पर विचार किया गया है । सभापर्व के ५वें अध्याय में आदर्श राज्य-व्यवस्था का सरस और सुन्दर वर्णन है । आदिपर्व के १४२वें अध्याय में विशेष परिस्थितियों में राज्य-कारभार में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है । सभापर्व के ३२वें और वनपर्व के २५वें अध्याय में आपद्धर्म का बड़ा मनोरंजक विवेचन है ।

महाभारत के पश्चात् कौटिल्य का प्रसिद्ध अर्थशास्त्र का उल्लेख करना क्रमप्राप्त है । वह राज्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है । यह भी उपर्युक्त ग्रंथों की श्रेणी में आता है परंतु इसमें सब विषयों का पूर्ण सविस्तर विवेचन किया गया है, पहले के आचार्यों के मतों पर विचार किया गया है और अपने मत स्थिर किये गये हैं । यह ग्रंथ धर्मशास्त्र की विचारधारा से प्रभावित नहीं हुआ है । धर्मशास्त्रग्रंथों में राजधर्म केवल एक खंड होता है । अर्थशास्त्र में राजा को वेद, तत्वज्ञान इत्यादि विषयों का अध्ययन करने को कहा है, किंतु ग्रंथ का एकमेव विषय राज्यशास्त्र है । उसमें आचार व प्रायश्चित्त का विचार भी नहीं किया है । प्रथम विभाग में नृपतंत्र से संबद्ध विषयों का विचार है । दूसरे विभाग में अनेक अधिकारियों का कर्तव्यक्षेत्र और अधिकारों का वर्णन किया गया है । अगले दो विभागों में दीवानी तथा फौजदारी कानून, दाय विभाग तथा रस्मरिवाजों का विवेचन है । पाँचवें विभाग में राजा के अनुचरों के कर्तव्यों का वर्णन तथा छठवें में राज्य के सप्त प्रकृतियों के स्वरूप और कर्तव्यों का विधान है । शेष ६ विभागों में परराष्ट्रनीति—विभिन्न राजाओं से संबंध, उनको पराभूत करने के उपाय, संधि-विग्रह के उपयुक्त अवसर, युद्ध चलाने के तरीके, शत्रुओं में फूट डालने के उपाय आदि का विशद वर्णन है ।

अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन-कार्य में राजा को मार्गनिर्देशन करना

था। नृपतंत्र या शासन-व्यवस्था के मूल सिद्धांतों का दार्शनिक विवेचन उसमें नहीं मिलता है। शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना ही इसका उद्देश्य था और युद्ध तथा शांतिकाल में शासन-यंत्र का क्या स्वरूप और कार्य होना चाहिये इसका जैसा व्योरेवार वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है वह बाद के ग्रंथों में—शुक्रनीति के अतिरिक्त—और नहीं मिलता।

अर्थशास्त्र के रचनाकाल के बारे में बड़ा मतभेद है। सर्वश्री श्यामशास्त्री, गणपत शास्त्री, न० ना० लॉ, स्मिथ, फ्लीट और जायसवाल के मत से यह चंद्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री कौटिल्य की ही कृति है। परंतु सर्वश्री विंटरनित्श जॉली, कीथ और देवदत्त भांडारकर का मत है कि प्रस्तुत ग्रंथ बहुत बाद में ईसवी सन् की पहली कुछ शताब्दियों में लिखा गया[१]। दोनों में से किसी की पुष्टि में पक्के प्रमाण नहीं मिलते और बाद में ग्रंथ में थोड़ी-बहुत जोड़-जाड़ होने के कारण इसके रचनाकाल की समस्या और भी उलझ गयी है। विंटरनित्श आदि का कहना है कि यदि ग्रंथ चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्री कौटिल्य प्रणीत है तो इसमें यूनानी इतिहासकारों द्वारा वर्णित मौर्य साम्राज्य और शासनव्यवस्था का उल्लेख क्यों नहीं मिलता। इसमें नगर की प्रबंध-समितियों और विदेशियों की देख-रेख का जिक्र भी नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें कौटिल्य का नाम अन्य पुरुष में प्रयुक्त है इससे भी स्पष्ट है कि इसका लिखनेवाला कोई और ही था।

श्यामशास्त्री और जायसवाल इसके विरोध में कहते हैं कि पुस्तक के अंत में स्पष्ट लिखा हुआ है कि नंदों का उच्छेद करनेवाले कौटिल्य ने इसकी रचना की है। यह कहना भी गलत है कि ग्रंथकार मौर्य साम्राज्य के विस्तार से अपरिचित था क्योंकि उसने लिखा है कि भारत में साम्राज्य की सीमा हिमालय से लेकर समुद्र तक हो सकती है। ग्रंथ का लक्ष्य औसत या साधारण राज्यतंत्र का वर्णन करना था। विशाल साम्राज्य की स्थापना तो भारत के इतिहास की असाधारण घटना थी अतः उसका विशेष वर्णन नहीं किया गया है। अवश्य ही अर्थशास्त्र में केवल विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का ही उल्लेख है, नगर-पंचायतों का वर्णन संभवतः इसलिये नहीं किया गया होगा कि वे गैरसरकारी

---

१ शामशास्त्री—अर्थशास्त्र की भूमिका; जायसवाल—हिंदू-पॉलिटी, अपेंडिक्स सी०; लॉ—कलकत्ता रिव्यू, १९२४, अर्थशास्त्र का परम्परागत काल, ई० पू० ३००, स्वीकार करते हैं। मगर जॉली—इंट्रोडक्शन टु अर्थशास्त्र, कीथ—संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४५८ से, तथा विंटरनित्श, गेशिरल्ट डर इंडेर लिटरेचर भाग ३, अर्थशास्त्र इससे बहुत अर्वाचीन समझते हैं।

संस्थाएँ थीं। भारतीय ग्रंथकारों में अपने नाम का प्रथम पुरुष के बजाय अन्य पुरुष में उल्लेख बहुत साधारण बात है, इसलिये कौटिल्य के नामोल्लेख से ही सिद्ध नहीं होता कि ग्रंथ कौटिल्य का रचा नहीं है।

यह सत्य है कि कौटिल्य यह नाम निंदाव्यंजक है, लेकिन कौणपदंत, वातव्याधि इत्यादि उसके जो पूर्वकालीन ग्रंथकार थे, उनके नाम भी उसी प्रकार के हैं। इसलिए केवल नाम के कारण कौटिल्य एक काल्पनिक व्यक्ति यह मानना ठीक न होगा। 'नवं शरावं' इत्यादि श्लोक कौटिल्य के अर्थशास्त्र के भाग १० अध्याय २ में व भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण नाटक में आता है, इसलिए कौटिल्य को भास का उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं होगा। हमेशा कौटिल्य जिनके मतों का या वचनों का आधार लेते हैं, उनका नाम देते हैं। यदि उन्होंने यह श्लोक भास से उद्धृत किया होता, तो वे उसका नाम जरूर देते। 'अयीह श्लोकौ भवतः' 'इस विषय में ये दो श्लोक हैं' इस प्रस्तावना से कौटिल्य ने 'नवं शरावं' व एक और श्लोक दिये हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये दो श्लोक सुभाषित वचनों के रूप में विद्वत्समाज में रूढ़ थे। न उनको कौटिल्य ने भास से या भास ने कौटिल्य से उद्धृत किया है।

मेगॅस्थनीज के ग्रंथ में कौटिल्य का निर्देश नहीं है, इसलिये वह मौर्य-कालीन ग्रंथकार या राजनीतिज्ञ नहीं था; यह मानना भी ठीक नहीं है। मेगॅस्थनीज का पूरा ग्रंथ उपलब्ध नहीं हुआ है, हो सकता है कि जो विभाग नष्ट हुए हैं, उनमें कौटिल्य का नाम आया होगा। पतंजलि ने मौर्यों का व चन्द्रगुप्त-सभा का उल्लेख किया है, लेकिन कौटिल्य का नहीं। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि व्याकरण-नियमों के उदाहरणों में जिनका उल्लेख करना आवश्यक था उन्हीं का निर्देश पतंजलि ने किया है। पाणिनि का कोई भी सूत्र या कात्यायन का कोई भी वार्तिक ऐसा नहीं है, जिसका व्याख्यान करते समय कौटिल्य का उल्लेख करना आवश्यक था। पतंजलि ने अशोक व बिंदुसार का उल्लेख नहीं किया है। क्या इसलिए तत्पूर्व उनका अस्त्वि न मानना ठीक होगा? अर्थशास्त्र के भाग २ अध्याय १२ में जो रस वा धातु-शास्त्र का ज्ञान दिग्दर्शित किया है वह ई० पू० तीसरी सदी में अज्ञात था, यह कहना भी ठीक नहीं है; चूँकि इस शास्त्र के ज्ञान व प्रगति का पूरा इतिहास अभी तक अज्ञात ही है।

कौटिल्य ने जिस समाज का चित्रण किया है उसमें विधवाओं के नियोग और पुनर्विवाह रूढ़ थे, विवाहविच्छेद अज्ञात नहीं था और लड़कियों का विवाह ऋतुप्राप्ति के पश्चात् प्रौढ़ावस्था में होता था। यह स्थिति मौर्ययुग में

थी। बौद्धों के प्रति अवज्ञा (पृष्ट १६६) तथा परिवार का प्रबन्ध किये बिना भिक्षु होने की मनाही (पृष्ट ४८) भी यह बताती है कि ग्रंथ की रचना ऐसे समय हुई जब बौद्धधर्म राजधर्म नहीं बन गया था परन्तु उसका प्रचार इतना था कि लोग परिवार छोड़कर भिक्षु बनने को उद्यत रहते थे। ग्रंथ में राज-कर्मचारी के लिए अनेक बार 'युक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है। अशोक के शिलालेखों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बाद में इसका चलन न रहा।

अर्थशास्त्र के भाग ११ अध्याय १ में मद्र, कंबोज, लिच्छवि व मल्ल गण-तंत्रों का उल्लेख आया है। मौर्यकाल के प्रारम्भ में ये सब गणतंत्र अस्तित्व में थे न कि ई० स० की चौथी सदी में इसलिए भी अर्थशास्त्र को मौर्ययुग का ग्रंथ मानना उचित होगा। यास्क ने जैसे नाम, आख्यान, उपसर्ग व निपात इन चार पदों का उल्लेख किया, वैसा ही कौटिल्य ने भी किया। वह पाणिनि के समान आठ पदों का निर्देश नहीं करता है। इसलिए उसका काल पाणिनीय व्याकरण के लोकप्रिय होने के पहले का याने ई० पू०-३०० मानना योग्य होगा।

मेगस्थनीज के इंडिका नामक ग्रंथ के जो खंड उपलब्ध हुए हैं, उनमें व अर्थशास्त्र में पर्याप्त साम्य है। मेगॅस्थनीज के समान ही कौटिल्य भी कहता है कि जब राजा शिकार को जाता था, तब रास्ते में उसके संरक्षण का अच्छा प्रबन्ध किया जाता था (भाग १ अध्याय २०)। दोनों ग्रंथकार कहते हैं कि राजा सभा में बैठे हुए ही अपना शरीर संवाहन कराता था व उसके अंगरक्षकों में धनुर्धारी स्त्रियाँ रहती थीं (भाग १ अ० १६)। अर्थशास्त्र (भाग ७ अ० १४) में सेतुबंध का वर्णन आता है, मेगस्थनीज में खेती की नहरों का। अर्थ-शास्त्र गुप्तचरों का वर्णन करता है, मेगॅस्थनीज में राज्य के एक कोने से दूसरे कोने तक घूमने वाले जासूसों का और राजा को दिये जाने वाले उनके वृत्तांतों का वर्णन है। मेगॅस्थनीज में जो जमीन नापने वाले अधिकारी हैं उन्हीं की श्रेणी के अर्थशास्त्र के गोप इत्यादि अधिकारी हैं। ग्रीक ग्रंथकार बजारहाट, नगर, इत्यादि के बड़े अधिकारियों का निर्देश करता है, अर्थशास्त्र के द्वितीय विभाग में जो अध्यक्ष पाये जाते हैं, वे भी इसी श्रेणी के हैं।

कौटिल्य व मेगॅस्थनीज के वृत्तांतों में कुछ गहरे भेद भी हैं। किन्तु ऐसी जगहों में ग्रीक ग्रंथकार की गलती से मतैक्य अशक्य हुआ है यह हम दिखा सकते हैं। भारत में गुलामप्रथा व नशाखोरी नहीं है, वहाँ चोरी नहीं होती है, इत्यादि मेगॅस्थनीज का वृत्तांत अर्थशास्त्र से बिलकुल मिलता-जुलता नहीं है। किन्तु

लगभग इसी समय रचे गये धर्म-सूत्र अर्थशास्त्र के वृत्तांत का समर्थन करते हैं। इसलिए हमें मानना पड़ेगा कि कुछ अज्ञात कारणों से मेगॅस्थनीज ने भारत का इस विषय में काल्पनिक चित्र दिया है। चूँकि कौटिल्य का वर्णन उससे मिलता नहीं है, इसलिए हम उसे मौर्योत्तरकालीन नहीं मान सकते। मेगॅस्थनीज का कहना कि भारतवासी लेखनकला से अज्ञात थे बिलकुल गलत है। उसने जो कहा है कि वे स्मरण से न्यायदान करते हैं, वह भी 'स्मृतिग्रंथ' शब्द के अर्थ के अज्ञान से उसने कहा है। उसने बताया है कि भारत में राजा को छोड़ कोई भी घोड़े व हाथी का उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु न केवल कौटिल्य किन्तु ग्रीक ग्रंथकार एरियन व स्ट्रेबो भी इस कथन का खंडन करते हैं। भारत में जमीन राजा के अधिकार की है यह गलत विधान इसलिए किया गया है कि मेगॅस्थनीज राजकीय भूमि व वैयक्तिक भूमि में भेद नहीं कर सका। शहर व सैन्य के भिन्न-भिन्न विभागों का कार्यसंचालन करने के लिए जो पाँच-पाँच सदस्यों की समितियाँ मेगॅस्थनीज ने निर्दिष्ट की हैं उनका उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं मिलता। किंतु यह संभव है कि अर्थशास्त्र के द्वितीय विभाग में इन समितियों के केवल अध्यक्षों का निर्देश किया है, न कि उनके सदस्यों का।

यदि निष्पक्ष होकर विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि अर्थशास्त्र व मेगॅस्थनीज की इंडिका में सामाजिक व राजकीय विषयों में पर्याप्त साम्य है। इसलिये उनमें से एक दूसरे से उत्तरकालीन नहीं हो सकता।

इन सब बातों तथा ग्रंथ-समाप्ति के श्लोक से यह तो सिद्ध है कि कम से कम ग्रंथ का मूल भाग मौर्यकाल का ही है और उसके कौटिल्य के ही विचार हैं। बाद में उसमें इधर-उधर कुछ संशोधन होते रहे। जैसे ग्रंथ में चीन का उल्लेख अवश्य ही बाद का है क्योंकि ३०० ई० पू० में चीन देश के बारे में यह नाम रूढ़ नहीं हुआ था। इसी प्रकार सुरंग शब्द वाले स्थल भी बाद के हो सकते हैं, चूँकि ग्रीक 'सिरिंक्स' से ही यह शब्द निकला है। पृ० २५५ में कौटिल्य के मुकाबले भारद्वाज के विचार रखे गये हैं। इसका उद्देश्य निष्पक्षरूप से दो विरोधी सिद्धांत उपस्थित करना भी हो सकता है, परन्तु यदि भारद्वाज को प्रधानता देना उद्देश्य हो तो यह अध्यायभाग भी बाद में जोड़ा गया हो सकता है।

इस प्रकार के कुछ वाक्यों या अध्यायों को छोड़कर ग्रंथ का शेष भाग अवश्य ही मौर्यकालीन और कौटिल्यकृत है।

कौटिल्य कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् राजनीति के एक संप्रदाय के

संस्थापक थे इसी से उनका और उनके ग्रंथ का बाद के युग में भी सम्मान होता रहा। राजनीति के वाङ्मय में अर्थशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी का। पाणिनि की भाँति कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्तियों को परास्त कर दिया और उनके ग्रंथ धीमे-धीमे उपेक्षित तथा विलुप्त हो गये। पाणिनि की रचना इतनी श्रेष्ठ है कि परवर्ती वैयाकरण उसके आगे बढ़ना असम्भव समझते थे। यही भाव कौटिल्य के प्रति भी राज्यशास्त्र के विद्वानों का था[1]। यही बाद में राज्यशास्त्र के मौलिक ग्रंथों का अभाव होने का एक कारण है। इस अभाव का एक और कारण हो सकता है। २०० ई० पू० से २०० ई० तक रचित मनु, विष्णु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में राजा के कर्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य, दण्ड और व्यवहारविधान, परराष्ट्र-संबंध आदि विषयों का विवेचन किया गया है। यह विवेचन अर्थशास्त्र के समान विस्तृत तथा गंभीर न होते हुए भी साधारण व्यवहार के लिए यथेष्ट था। उपर्युक्त स्मृतियों में इन विषयों के अतिरिक्त वर्ण, आश्रम, प्रायश्चित्त जैसे विषयों का विवेचन भी मिलता था, अतः विशुद्ध राज्यशास्त्र के ग्रंथों की अपेक्षा वे ग्रंथ अधिक उपयुक्त और लोकप्रिय हुए।

उपर्युक्त स्मृतियों में शासनसमस्याओं का स्थूलरूप से ही विचार किया गया है। यदि देश में गंभीर राजनीतिक चिंतन होता रहता तो अवश्य ही ये ग्रंथ अपर्याप्त सिद्ध होते और नये ग्रंथों की रचना होती। पर ऐसा न हुआ। अर्थशास्त्र, मनुस्मृति इत्यादि ग्रंथों के द्वारा राज्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ का स्वरूप सदा के लिए निश्चित हो गया। बाद के युग में नये सिद्धांत स्थापित ही नहीं किये गये। इसका कारण बाद के विद्वानों की बुद्धि का धर्म और नीति से अत्यधिक प्रभावित होना ही है। पहले के आचार्यों का मत था कि राजा प्रजा का सेवक है और अत्याचारी राजा को मारना पाप नहीं। यदि राजहत्या के प्रश्न पर विशुद्ध लौकिक और व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया गया होता तो बहुत से नये सिद्धांत और ग्रंथ रचे गये होते। प्रजा के सेवक होने के कारण राजा के क्या कर्तव्य हैं, राजा यदि निरंकुश शासन करने लगे तो प्रजा उसका वैधानिक या व्यावहारिक प्रतिकार कैसे करे, किस स्थिति में प्रजा राजनिष्ठा-

---

१ संस्कृत वाङ्मय में एक और अर्थशास्त्र—बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र है। यह बहुत बाद की रचना है और इसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। इसकी रचना संभवतः १२वीं शताब्दी में किसी निम्नकोटि के व्यक्ति ने की है और इस पर नाम दे दिया बृहस्पति का जो इस शास्त्र के आदि आचार्यों में हैं।

कर्त्तव्य से मुक्त होती है और राजा को कर देना बन्द कर सकती है, किस प्रकार जनमत प्रभावी हो, राजवध के आत्यंतिक उपाय से पहिले प्रजा कौन से सौम्य उपाय व्यवहार में ला सकती है। राजसैन्य के मुकाबले में वे कहाँ तक सफल हो सकते हैं, ये सब ऐसे प्रश्न हैं, जिन्हें विचारने से अनेक नये सिद्धांत प्रकाशित हुए होते और इस विषय पर बाद की शताब्दियों में प्रचुर साहित्य रचा जाता। परन्तु हमारे आचार्यों ने केवल धार्मिक और नैतिक दृष्टि से ही इस प्रश्न पर विचार किया। राजा का कर्त्तव्य तनमनधन से प्रजापालन था। यदि वह कर्तव्य से च्युत होता है तो देवता उसे दंड देंगे। प्रजा के पास उसके प्रतीकार का कोई व्यावहारिक उपाय नहीं था। अनेक स्थलों पर यह कहा गया है कि दुराचारी राजा पागल कुत्ते की भाँति वध्य है, परन्तु कैसे और किनके द्वारा यह नहीं बताया गया। काव्य और दर्शन-शास्त्र में भारतीयों की इस समय नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा गुप्तोत्तर युग में इस क्षेत्र में न जाने कैसी निस्तेज-सी हो गयी।

उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि स्थानीय शासन और कर-व्यवस्था में देश के विभिन्न भागों में बहुत वैभिन्य था। विभिन्न राज्यों में समय-समय पर नये-नये कर लगाये जाते थे और भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्थानीय शासन का विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से हुआ था। इन नये विषयों पर भी नये ग्रंथ लिखे जा सकते थे। पर ऐसा संभवतः इसलिए नहीं हुआ कि कर और स्थानीय शासन विभिन्न प्रदेशों की प्रथाओं के अनुसार होते थे और राज्य-शास्त्र के प्रमाणभूत ग्रंथों में इन स्थानीय विभिन्नताओं को स्थान नहीं दिया जाता था।

मौर्य शासनपद्धति से गुप्तों की शासनपद्धति काफी विभिन्न थी; आगे चलकर हर्ष और उसके उत्तरकालीन राजाओं के समय में भी इस क्षेत्र में कुछ फेरफार हुए। इस विषय पर ग्रंथ लिखे जा सकते थे। किंतु ऐसा नहीं हुआ। मालूम होता है कि राज्यशास्त्रज्ञों की सम्मतिं में ये फेरफार विशेष महत्व के नहीं थे, इसलिये नये ग्रंथ नहीं लिखे गये।

कुछ लोगों का अनुमान है कि कौटिल्य के बाद राजनीति के ग्रंथों के अभाव का कारण ई० पू० २०० से ३०० ई० तक के विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्यों की स्थापना है। परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि यूनानी, शक, पहलव कुशान राजाओं के राज्य पंजाब के परे बहुत थोड़े समय तक ही रह सके। मध्यदेश और बिहार, जो ५०० ई० पूर्व से ही आर्य संस्कृत के केंद्र थे, विदेशी राज्य से मुक्त ही रहे।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईसा के प्रथम सहस्राब्द में राजनीति

के साहित्य-क्षेत्र में मौलिक ग्रंथों के अभाव के कारण कौटिल्य के अर्थशास्त्र का सर्वंकष प्रभाव, राजनीतिक चिंतन का अभाव और शासन-व्यवस्था में किसी महत्वपूर्ण विकास का न होना ही था। कुछ एक मामूली ग्रंथ या संग्रह अवश्य बनाये गये परंतु उनमें कोई नई बात न थी।

दक्षिणी हिंदुस्तान में तमिल आदि भाषाओं में प्राचीन काल में राज्यशास्त्र पर कुछ ग्रंथ-लेखन नहीं हुआ। तिरुकुरल सिलप्पदिकरम् ऐसे ललित ग्रंथों में कभी-कभी राजा व उसके मंत्री व अधिकारियों का निर्देश आता है, किन्तु इनसे पूरे राज्ययंत्र की कल्पना नहीं आती है। राजशास्त्र विषयक सिद्धांतों के बारे में भी इन ग्रंथों में कुछ चर्चा नहीं मिलती।

परवर्ती काल में जो कुछ ऐसे ग्रंथ रचे भी गये उन पर अर्थशास्त्र की ही धाक स्पष्ट दिखाई देती है। उदाहरण के लिए कामंदकीय नीतिसार को लीजिये जो संभवतः गुप्तकाल में ५०० ई० के आस-पास लिखा गया, कौटिल्य के ग्रंथ का छन्दोबद्ध संक्षेपीकरण मात्र है। इसके गुमनाम लेखक ने इसे अनुष्टुप छन्द में इसीलिए बाँधा कि विद्यार्थी इस प्रामाणिक ग्रंथ को कंठस्थ कर सकें। परंतु इस ग्रंथ में शासनव्यवस्था का वर्णन नहीं किया गया है। राजा और उसके परिवारों के वर्णन ने ही सारी जगह छेक ली है इससे पता चलता है कि इस समय नृपतंत्र कितना शक्तिशाली हो चुका था। अर्थशास्त्र का गणतंत्रवाला अध्याय इसमें है ही नहीं क्योंकि संभवतः इस समय तक गणतन्त्रों का अस्तित्व ही मिट चुका था। दीवानी और फौजदारी कानून, दायविभाग, वर्णव्यवस्था इत्यादि विषय भी छोड़ दिये गये हैं क्योंकि स्मृतिकारों ने इसे अपना विशेष विषय बना लिया था।

डा० जायसवाल के मत के अनुसार इस ग्रंथ का लेखक द्वितीय चन्द्रगुप्त का मन्त्री शिखरस्वामी था। किंतु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिले हैं। विशाखदत्त (पाँचवीं सदी ?) व दण्डी (छठी सदी) ने इस ग्रंथ का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु वामन (८०० ई०) को वह ज्ञात था। इसलिए उसका काल ६०० से ७०० तक मानना योग्य होगा।

शुक्रनीति भी प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र के अध्ययन के लिए बड़े काम की है। अन्य ग्रंथों के समान इसमें भी राज्य अथवा शासन-तंत्र का सैद्धांतिक विवेचन नहीं किया गया है परंतु इसमें शासनव्यवस्था का जैसा सांगोपांग विवरण है वैसा अर्थशास्त्र के बाद के किसी अन्य ग्रंथ में नहीं है। इस ग्रंथ के समय तक गणतंत्रों का नामनिशान मिट चुका था अतः इसमें भी नृपतंत्र का

ही वर्णन है। राजा और उसके मंत्रियों तथा कर्मचारियों के कार्यों के अतिरिक्त इसमें परराष्ट्र और राजनीति का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। न्याय की व्यवस्था का भी इसमें पूरा विवरण है। प्रसंगवश समाज-शास्त्र और समाज-नीति के कुछ प्रश्नों पर भी विशद विचार किया गया है। चार प्रकार के कोर्टों (न्यायालयों) का पूरा वर्णन किया है; किन्तु विधिशास्त्र (Substantive Law) की चर्चा नहीं की गई है। शुक्र के मतानुसार शासन-पद्धति का ध्येय समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति साध्य करना था न कि केवल डाकुओं को दण्ड देना या मदिरादि व्यसनों को काबू में रखना था। हर एक राज्य का यह कर्तव्य था कि वह रुग्णालय, धर्मशालाएँ इत्यादि का प्रबन्ध करे व विद्या को प्रोत्साहन दे। व्यापार की वृद्धि व खानों, उद्योग-धन्धों व जंगलों की सुव्यवस्था व प्रगति करके देश की आर्थिक प्रगति करना सबसे महत्वपूर्ण कर्तव्य था।

शुक्रनीति से ऐसी अनेक बातें विदित होती हैं जो अन्य ग्रंथों में नहीं दी गयी हैं। दरबार में विभिन्न वर्ग के दरबारी कहाँ-कहाँ बैठते थे (२, ७०-१), सामन्तों की विभिन्न श्रेणियाँ और उनकी आय क्या थी (१, ३८३-३) इन बातों का वर्णन इस ग्रंथ में मिलता है। मंत्रिमंडल के हर एक मंत्री का कौन कार्यक्षेत्र था व उसके पद का नाम क्या था, इसका वर्णन सबसे पहले इस ग्रंथ में मिलता है। मंत्री लोग रोज किस प्रकार अपना दैनिक कार्य करते थे, उनके कितने सहायक (सेक्रेटरी) थे, राजा से उनका किस प्रकार का संबंध था, इसका सुन्दर चित्र शुक्र ने दिया है (२, ६६-११०)।

शुक्रनीति के काल के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। ओपर्ट के मतानुसार यह ग्रंथ खिस्तपूर्वकालीन है। राजेन्द्रलाल मित्र व डी० घोषाल इस ग्रंथ को ई० स० १२०० से १६०० तक के भीतर रखते हैं! वस्तुस्थिति यह है कि इस ग्रंथ का अंशतः पुनः संस्करण १४वीं सदी तक होता चला आया था, जब उसमें नये-नये भाग या श्लोक डाले जाते थे। किन्तु इस ग्रंथ का अधिकांश ११वीं या १२वीं सदी से अर्वाचीन नहीं है। म्लेच्छ भारत-देश की उत्तर-पश्चिम दिशा में निवास करते हैं, सोने की कीमत चाँदी से १६ गुनी है (४, २-६२) (जैसा बारहवीं सदी के भास्कराचार्य ने लिखा है), पाठशालाओं में देश-भाषाओं का अध्ययन अवश्य है (४.३.३०), आत्मा परमात्मा से अभिन्न है (४. ३. ५०) राज्यविनाश टालने के लिए अनार्यों से भी संधि करना आवश्यक हो सकता है (४. ७. २४३) बीस साल की आमदनी के बराबर कोश में द्रव्य

होना आवश्यक है[1] (४.२.२३)—इत्यादि बातों व सिद्धांतों से यह स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ का काल ई० स० ८०० से १२०० तक होना चाहिए। बंदूक व बारूद के उल्लेख जिन खंडों में मिलते हैं (जैसे ४. ७. १६५-५३;१.२३१; २. ६५; २. १६५) वे खंड चौदहवीं सदी में जोड़े गये होंगे[2]।

११०० ई० के बाद भारतीय वाङ्मय की अधिकांश शाखाओं से मौलिकता जाती रही। राज्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। ११०० से १७०० तक बहुत से संकलनात्मक ग्रंथ रचे गये जिनमें धर्म के विभिन्न अंगों का सविस्तर वर्णन किया गया है। राजनीति पर भी इन ग्रंथों में अध्याय लिखे गये हैं किंतु उनमें नावीन्य बिलकुल नहीं है। इस श्रेणी के कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ ये हैं। सोमेश्वर का अभिलषितार्थ चिंतामणि (११२५ ई०) भोज का युक्तिकल्पतरु (१०२५ ई०), लक्ष्मीधर (११२५) का राजनीति कल्पतरु, देवणभट्ट (१३०० ई०) का राजनीतिकांड, चंडेश्वर (१३२५ ई०) का राजनीति-रत्नाकर, विजयनगराधिपति कृष्णदेवराय का आमुक्तमाल्यद (१५२५ ई०), नीलकण्ठ (१६२५ ई०) का नीतिमयूख तथा मित्र मिश्र (१६५० ई०) का राजनीतिप्रकाश। अधिकतर ग्रंथ पुरोहितों के कर्मकांड की दृष्टि से लिखे गये हैं। राजनीतिप्रकाश में राज्याभिषेक का वर्णन १०० पृष्ठों में है। नीतिमयूख में बड़े विस्तार से बताया गया है कि राजा किस प्रकार नहाये और चौर कराये, दुःस्वप्न और अपशकुन होने पर क्या करे और उपद्रवों के निराकरण के लिए क्या शांति कराये। इन ग्रंथों में अमात्य, दुर्ग, कोष परराष्ट्र और रणनीति का भी वर्णन है पर उसमें कोई भी नवीनता नहीं है। इन विभिन्न विषयों पर पूर्व आचार्यों के ही उद्धरण अधिकतर दिये गये हैं।

चालुक्य नृपति सोमेश्वर (११२५-११३८) के मानसोल्लास ग्रंथ में राज्यशास्त्र का जो विवेचन किया गया है उससे प्रबन्धकारों का दृष्टिकोण कितना संकुचित था इसकी ठीक कल्पना पाठकों को होगी। सोमेश्वर स्वयं राजा था,

---

१ मुसलमानों के आक्रमण के समय उन्हें जो हिंदू राजाओं के कोशों से अपार धन लूट में मिला, उससे यह स्पष्ट होता है कि यह तत्त्व ग्यारहवीं सदी में कार्यन्वित किया जाता था।

२ एपिग्रॅफिया कर्नाटिका, भाग ८, स० ६८, श० ४३३ में बंदूक व बारूद के कार्यान्वित होने का उल्लेख आता है। इन लेखों का काल चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध है।

तब भ उनके ग्रंथ में 'राजनीतिशास्त्र का सांगोपांग विवेचन नहीं मिलता है। मानसोल्लास के १०० अध्यायों में से ६० अध्याय राजा के उपभोग, प्रमोद, क्रीड़ा इत्यादि का वर्णन करने के लिए लिखे गये हैं। पहले के केवल ४० अध्याय में राज्यप्राप्ति व राज्यवृद्धि का विवेचन करते हैं। राज्यप्राप्ति के उत्तम उपायों में सत्य, अव्यभिचार, श्राद्ध, तीर्थयात्रा, इत्यादि की गणना की गई है। विविध शास्त्रों में अपना पांडित्य प्रदर्शित करने के इरादे से राजा की तन्दुरुस्ती का विवेचन करते समय शक्तिवर्धक औषधियों की लम्बी नाममाला दी है, व कोषाध्यक्ष के कर्तव्य बताने के समय पहाड़े, त्रैराशिक, बहुराशिक इत्यादि के नियम दिये हैं (२.६६-७२३)। हाथियों की सैनिक-शिक्षा के वर्णन के बजाय सोमेश्वर ने उनके वर्गीकरण व निवासस्थानों की ही अधिक चर्चा की है (२.१७२-३३१)। सैन्य के संघटन के वर्णन में हाथियों व घोड़ों की बीमारियों व दवाओं का ही सविस्तर विवेचन आया है (२.५२६-६०४)। कोश विषयक विभाग में करों के मूलभूत सिद्धान्तों के बजाय मोती, माणिक, जवाहर इत्यादि के प्रकार व दान की ही अधिक चर्चा पाई जाती है (२.३६१-५१६)। शत्रुओं पर अभियान के वर्णन के समय शुभ व अशुभ मुहूर्त व इष्ट व अनिष्ट ग्रह-स्थिति का ही विशेष विवेचन किया है व कुत्ते, सियाल व कौओं की किस प्रकार की आवाज अपशकुनात्मक है, यह भी सविस्तर बताया है (२.७५३-६४८)।

शासन विषयक समस्याओं की चर्चा के समय सोमेश्वर ने राजा के गुण, मंत्रियों की योग्यता, कोशाधिपति के कर्तव्य इत्यादि का विचार किया है। लेकिन उसके विवेचन में कुछ भी नवीनता नहीं है। विदेशीय नीति की चर्चा में भी कुछ मौलिकता नहीं है। किंतु कभी-कभी इन विषयों की चर्चा में कुछ नई बातें निकल आती हैं। विदेशमन्त्री या संधिविग्रहकारी का यह काम था कि सामन्तों को कुछ महीनों के बाद राजधानी में बुलाया जाय और उनका सम्राट् की ओर क्या रुख है इसका ठीक पता लगाया जाय। किले में बड़ी हंडियों में जहरीले सर्प रखे जाते थे जिनको शत्रुओं के सैन्य में घबराहट उत्पन्न करने के लिए छोड़ दिया जाता था। व्याघ्र, सिंह भी इसी उद्देश्य से किले में रखे जाते थे। सैन्य के शस्त्रास्त्रों का वर्णन भी काफी मात्रा में दिया है। धर्मयुद्ध के नियम लुप्तप्राय हुए थे। खेत के अनाज का नाश करना, देहातों व नगरों को जलाना, शत्रु नागरिकों को कैद करना मामूली बात बन गई थी।

शासनविषयक प्रमाणभूत ग्रंथ की दृष्टि से यदि मानसोल्लास का विचार किया जाय, तो उसकी योग्यता बहुत कनिष्ठ दर्जे की है। इस समय के राज्य-

शास्त्र के ग्रंथकार केवल राजाओं के आमोद-प्रमोद व ऐश्वर्य का वर्णन करते थे। शासन विषयक समस्याओं की चर्चा करना उन्होंने प्रायः छोड़ दिया था।

शासनशास्त्र के इतर मूलस्रोत

नीतिशास्त्र के अलावा संस्कृत, पालि व प्राकृत भाषाओं में इतर ग्रंथ भी हैं, जो कभी-कभी शासन-शास्त्र पर कुछ प्रकाश डालते हैं। वेद-ब्राह्मण ग्रंथों के सूत्रादिकों पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। इन सूत्रों का व ब्राह्मण-ग्रंथों के वचनों का विशेष महत्व है, क्योंकि इस समय राज्यशास्त्र का उदय नहीं हुआ था। यदि वे न होते तो हम वैदिक युग के बारे में पूरे अँधेरे में रहते। धर्म-सूत्र व स्मृति-ग्रंथों में राजधर्म का काफी विवेचन किया गया है, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि उनका दृष्टिकोण धार्मिक है, न कि राजनीतिक। पुराणों में कुछ अध्याय राज्यशास्त्र की चर्चा करते हैं, किंतु वहाँ प्रायः धर्मशास्त्र के विचारों का, केवल सारांश मिलता है। काव्य, नाटक व इतिहास-ग्रंथों में प्रतिज्ञायौगंधरायण, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, पंचतंत्र, हितोपदेश, कादंबरी, हर्षचरित, दशकुमार चरित, राजतरंगिणी-ऐसी पुस्तकों में कभी-कभी शासनविषयक 'सामग्री मिलती है, जिससे तत्कालीन राजकीय परिस्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

जैनों के आचारांग सूत्र, व बौद्धों के दीघ निकाय, चुल्लवाग, जातक, दिव्या-वदान-ऐसे ग्रंथों से भी हमें काफी साधन-सामग्री मिलती है, विशेषतः गण-तन्त्रों के बारे में, जो अत्यन्त महत्व की है। यदि वह न प्राप्त होती, तो गणतंत्रों की दैनंदिन कार्यवाही के बारे में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण रहता।

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति पर शिलालेख व ताम्रपत्र अत्यन्त महत्व का प्रकाश डालते हैं। दुःख की बात है कि इस काम के लिए अद्यपि उनका ठीक उपयोग नहीं हुआ है। राजकवियों के या अधिकारियों के द्वारा ताम्रपट्टलेख लिखे जाते थे, इसलिए उनमें कभी-कभी काफी अतिशयोक्ति देखी जाती है। लेकिन राजकवियों का अतिरंजित वर्णन कहाँ है व वस्तुनिष्ठ बातें कहाँ कही गई हैं यह समझना कुशल इतिहासकारों के लिए कठिन नहीं है। राजा के गुण व पराक्रमवर्णन में अतिशयोक्ति कभी-कभी जरूर दीखती है; किंतु राज्य के शासन-विभाग कौन थे, उनके अधिकारियों के अधिकार किस प्रकार के थे, मौर्य, गुप्त इत्यादि के राज्यों में शासन-व्यवस्था कैसी थी और किन प्रकार के कर लगाये जाते थे, वे कहाँ तक योग्य थे, पड़ोसी राज्यों में किस प्रकार के संबन्ध प्रायः रहते थे, सम्राट् की प्रभुसत्ता सामन्तों को किस हद तक काबू में रखती थी इत्यादि विषयों पर जो सामग्री शिलालेखों में मिलती है वह प्रायः

विश्वसनीय होती है। कभी-कभी शिलालेखों में शासनसंस्था का ध्येय क्या होना चाहिये, राजा व मन्त्री के क्या कर्तव्य थे इन विषयों के बारे में सुभाषितात्मक सुन्दर श्लोक भी मिलते हैं। इस पुस्तक के पठन से शासनपद्धति का सम्यक् ज्ञान होने के लिए शिला-लेखों का कितना महत्व है, यह पाठक ठीक तरह से समझेंगे।

विदेशी ग्रंथकारों के ग्रंथ भी शासन-शास्त्र के अन्वेषकों के लिए काफी महत्व के होते हैं। मेगास्थेनीज़ की 'इंडिका' से उस समय के गणतंत्रों पर काफी प्रकाश पड़ता है। युआन च्वांग के वृत्तांत से मौखरि शासनपद्धति में मंत्रियों का कितना महत्वपूर्ण स्थान था यह स्पष्ट विदित होता है। अरब ग्रंथकार राजदरबार के बारे में अनेक मनोरंजक बातें बताते हैं।

प्राचीन भारतीय शासनपद्धति के अध्ययन के लिए मुद्रा-शास्त्र भी निरुपयोगी नहीं है। मुद्राओं पर जो अभिलेख मिलते हैं उनसे अनेक नगर-राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिवि, मालव, अर्जुनायन, कुणिंदे, यौधेय इत्यादि गणतन्त्रों का अस्तित्व मुद्रालेखों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट अनेक प्रकार की सामग्री से जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है उससे हम अब प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति का एक विश्वसनीय वर्णन कर सकते हैं, यद्यपि उसमें अनेक जगह अद्यपि अधिक ज्ञान की आवश्यकता है।

अध्याय २

राज्य की उत्पत्ति और प्रकार

●

राज्यशास्त्र के आधुनिक ग्रंथों में राज्य की उत्पत्ति पर बड़े विस्तार से विचार किया जाता है। सर्वप्रथम राज्य की किस प्रकार उत्पत्ति हुई इसके तत्कालीन प्रमाण तो मिल नहीं सकते। सामाजिक या राजनीतिक संघटन से परिचित लोगों ने भिन्न-भिन्न समय पर अपने राज्य की किस प्रकार स्थापना की इसके उदाहरण इतिहास में बहुत मिलते हैं पर पहले-पहल मनुष्य ने राजनीतिक संघटन का ज्ञान प्राप्त करके किस प्रकार राज्य की स्थापना की इसकी तो पुराणों और किंवदंतियों के सहारे कल्पना ही की जा सकती है। आधुनिक लेखक वैज्ञानिक प्रणाली और विकासवाद के सिद्धांतों के आधार पर अपना-अपना मत प्रतिपादन करते हैं। इस समय भी आदिम अवस्था में रहनेवाली जंगली जातियों की स्थिति के निरीक्षण से उनके कुछ सिद्धान्तों की पुष्टि भी होती है। परंतु पुराने विचारकों को, चाहे वे पूर्व के हों या पश्चिम के, ये साधन उपलब्ध न थे। प्राचीन भारत में अधिकतर संस्थाओं की उत्पत्ति दैवी ही मानी जाती थी और राज्य की उत्पत्ति भी इसी प्रकार समझी जाती थी।

महाभारत[1] और दीघनिकाय[2] में राज्य की उत्पत्ति पर विचार किया गया है और विभिन्न संप्रदाय तथा समय के होने पर भी दोनों ग्रंथों के विचारों में महत्वपूर्ण साम्य है। दोनों का कहना है कि मनुष्य-समाज की सृष्टि के बाद बहुत दिनों तक सतयुग, सुख और शांति का स्वर्णकाल रहा, लोग स्वभावतः धार्मिक होते थे और सरकार तथा कानून या विधिनियमों के बिना ही शांति और सदाचारपूर्वक रहते थे। भारत में ही नहीं पश्चिम में भी सृष्टि के आदि-काल में स्वर्णयुग की कल्पना की गयी है।

प्लेटो आदि कुछ यूनानी लेखकों ने भी इस धारणा का उल्लेख किया है कि सृष्टि के आदि में शांति और सदाचार के स्वर्ण युग का दौर दौरा था, जिसके

---

१ शांतिपर्व, अध्याय ५८.

२ भाग ३, पृ० ८४-९६

सामने वर्तमान अच्छे से अच्छे राज्य भी फीके हैं।[1] अठारहवीं शताब्दी का फ्रेंच ग्रंथकार रूसो भी आदिम स्वर्णयुग पर विश्वास रखता था।

महाभारत में लिखा है कि बहुत समय तक बिना राजा और न्यायाधीश के ही समाज सत्पथ पर चलता रहा परंतु बाद में किसी प्रकार अधःपतन आरंभ हो गया। लोग सदाचार से भ्रष्ट होकर स्वार्थ, लोभ और वासना के वश में हो गये और जिस स्वर्गीय व्यवस्था में वे रहते थे वह नरक बन गयी। मात्स्यन्याय, जिसकी लाठी उसकी भैंस, का बोलबाला हुआ। बलवान निर्बलों को खाने लगे। देवता भी यह सब देखकर चिंतित हुए और उन्होंने इस दुर्दशा का अंत करने का निश्चय किया। लोग भगवान ब्रह्मा के शरण में गये। ब्रह्माजी इस निश्चय पर पहुँचे कि मनुष्य-जाति की तब ही रक्षा हो सकेगी जब एक आचारशास्त्र बनाया जाय और उसे राजा के द्वारा कार्यान्वित किया जाय। अतः उन्होंने एक विस्तृत विधान बनाया और अपने मानस-पुत्र विरजस की सृष्टि करके उसे राजा बनाया। जनता ने भी उसके अनुशासन में रहना स्वीकार किया।[2] इस विवरण से स्पष्ट है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी मानी जाती थी, राजा के राज्याधिकार का आधार उसकी दिव्य उत्पत्ति भी थी और इस पतित जीवन के अंत करने की नियत से उसकी आज्ञा मानने के लिए प्रजा की सहमति थी।

शांतिपर्व के ६७वें अध्याय में राज्योत्पत्ति का जो वर्णन आया है उससे यह मालूम होता है कि आरम्भ में लोगों में एक इकरार या सहमति हुई थी, जिसका पालन नहीं हो पाया। जब लोग चिरकालीन अराजकता से ऊब गये, तब

---

१ कुछ निरीक्षकों का कहना है कि १९वीं सदी में भी अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में ऐसी जंगली जातियाँ विद्यमान थीं, जो शासनतंत्र से अपरिचित होने पर भी पूरे सौहार्द और आनंद से रहती थीं। परंतु संभव है कि ये निरीक्षक उनकी भाषा न जानने और अधिक देर उनके साथ न रहने के कारण इन जातियों की वास्तविक स्थिति न जान पाये हों।

२ नियतस्त्वं नरव्याघ्र श्रृणु सर्वमशेषतः। यथा राज्यं समुत्पन्नं आदौ कृतयुगेऽभवत्॥ नैव राज्यं न राजासीन्न च दंडो न दांडिकः। धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षंतिस्म परस्परम्॥ पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत॥ दैन्यं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत्। प्रतिपत्तिवियोगाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥ कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो।

उन्होंने आपस में एक इकरार या सहमति की कि समाजकंटकों को समाज से बाहर निकाल दिया जाय। इस इकरार की व्याप्ति पूरे समाज के लिए की गयी, इसलिए कि लोगों का इस पर विश्वास बना रहे। किन्तु लोगों के कष्ट कुछ विशेष कम नहीं हुए; शायद इसलिए कि इकरार के कार्यान्वित करने के लिए राजसत्ता नहीं थी। आखिर में वे ब्रह्म देव की शरण गये व उनसे प्रार्थना की कि वे एक ऐसे सुयोग्य राजा को भेज दें, जिसके गुणों के कारण लोग स्वयं उसको मान लें व जो लोगों को डाकू व परकीय हमलों से बचाए। ब्रह्मदेव ने मनु को राजपद पर नियुक्त किया;[१] किन्तु उसे झगड़ालू लोगों पर राज्य करना पसंद न पड़ा। इस कठिनाई के निवारण के लिए ब्रह्मदेव ने एक धर्मशास्त्र बनाया। किंतु उसके अनुसार राज्य करने को मनु को आदेश दिया ऐसा वर्णन इस अध्याय में नहीं पाया जाता। इकरार या सहमति के सिद्धांत के अनुसार यह बताया गया है कि लोगों ने स्वयं इकरार के अनुसार बर्ताव करने की जिम्मेदारी स्वीकार की और मनु को यह अश्वासन दिया कि अपराधियों को दंड देने से राजा को कोई पातक नहीं लगेगा, अपितु यह अपराधियों के पाप का फल होगा। शासनकार्य का खर्चा चलाने के लिए जनता ने योग्य कर देने का भी मनु को आश्वासन दिया।

ठीक विचार करने से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि राज्योत्पत्ति के उपरिनिर्दिष्ट दोनों सिद्धांत केवल काल्पनिक हैं। दोनों में यह सिद्धांत प्रतिपादित है कि राजा के आगमन से पहले लोगों ने समाजव्यापी इकरार या सहमति के आधार पर समाज को सुव्यवस्थित करने की कोशिश की, किंतु वह सफल न हो पायी। आखिर में परमेश्वर-नियुक्त राजा के द्वारा ही समाज में शांति स्थापित हो सकी।

महाभारत में यह देखा जाता है कि लोग शासनसंस्था को ईश्वरनिर्मित समझते थे। लाखों लोगों पर राज्य करने का जो अधिकार राजा को मिला था, उसका एक कारण यह था कि राजपद दैवी माना जाता था व दूसरा कारण यह

---

१ विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥ १९ ॥
सहितास्तास्तदा जग्मुः सुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥
यं पूजयेम संभूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द तत् ॥ २१ ॥

था कि लोगों ने आपस में सहमति की थी कि अराजकता से बचने के लिए वे राजाज्ञा को शिरोधार्य करेंगे।

यूरोप में भी विशेषतः मध्य युग में ईसाई मत के प्रभाव से शासनसंस्था को दैवी समझा जाता था। राजा परमेश्वर का साक्षात् प्रतिनिधि है व उसे राज्य करने का अधिकार ईश्वर-प्रदत्त है। यह विचार-धारा उस समय सर्वत्र रूढ़ थी। इस्लाम का मत भी इससे मिलता-जुलता है; उसके अनुसार बादशाह खुदा का प्रतिबिम्ब माना जाता था।

दीघनिकाय का विवरण[1] भी बहुत-कुछ महाभारत के ही समान है। बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते थे अतः ब्रह्मा द्वारा प्रथम राजा की सृष्टि की कथा उन ग्रंथों में स्वभावतः ही नहीं है। परन्तु उनमें यह कहा गया है कि बहुत पहले स्वर्णयुग था, जिसमें दिव्य और प्रकाशमान शरीरवाले मनुष्य धर्म से आनंदपूर्वक रहते थे। किसी प्रकार इस आदर्श समाज का अधःपतन हुआ, अंधाधुंधी और अव्यवस्था का दौर दौरा हुआ और सभी जन इस दुर्व्यवस्था का अंत करने के लिए अधीर हो उठे। अंत में 'महाजन-सम्मत' नामक एक दिव्य और अयोनिज पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। वह बुद्धिमान्, धार्मिक और योग्य था और सब जनों ने इससे अपना राजा होने और अव्यवस्था का अंत करने की प्रार्थना की। उसने प्रजा की विनती स्वीकार की और जनता ने उसे अपना राजा बनाया तथा उनकी सेवाओं के बदले में अपने धान का एक अंश देना स्वीकार किया।

जैन ग्रंथकार जिनसेन ने भी अपने ग्रंथ में कहा है कि सृष्टि के शुरू में पृथ्वी भोगभूमि थी, जब कल्पतरुओं के प्रसाद से लोगों की सब कामनाएँ सफल होती थीं। आगे चलकर कल्पद्रुम धीरे-धीरे नष्ट हो गये और संसार में अराजकता आ गई। तब प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ ने शांति व सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए राजा व अधिकारी नियुक्त किये व लोगों का वर्गों में विभाजन किया। हरेक व्यक्ति अपना-अपना धंधा करने लगा व समाजस्वास्थ्य प्रस्थापित हो गया।

इस विषय पर राज्यशास्त्रियों का मत क्या था, इसका भी अभी विचार करना उचित होगा। कौटिल्य ने शासनसंस्था की उत्पत्ति पर सविस्तर चर्चा नहीं की है। प्रथम विभाग के तेरहवें अध्याय में दो जासूसों के बीच में जो वाद-विवाद का वर्णन आता है उसमें एक जासूस कहता है कि लोगों ने

---

1 भाग ३, पृ० ८४-६

स्वयं मनु को राजा बनाया था व कर देने का इकरार किया। प्रागैतिहासिककाल में सुवर्णयुग था या नहीं, इस प्रश्न पर कौटिल्य ने कुछ नहीं बताया है। नारद (१. १-२) व बृहस्पति (१, १-१६) ने सुवर्णयुग का संकेत किया है। किंतु वे कहते हैं कि थोड़े ही समय में वह नष्ट हो गया, समाज में अराजकता फैली व उसका अंत करने के लिए शासनसंस्था का आयोजन हुआ। किंतु यह सब किस प्रकार हुआ, उसकी चर्चा इन ग्रंथकारों ने नहीं की है। शुक्रनीति में शासनसंस्था के उद्गम पर कुछ विशेष चर्चा नहीं है। शुक्र के अनुसार सद्गुणी राजा ईश्वर का अंश है। संभवतः सुवर्णयुग या सामाजिक इकरार में उनका विश्वास नहीं था।

हिंदू और बौद्धों की यह धारणा कि शासनसंस्था के विकास के पूर्व स्वर्णयुग था इस बात की सूचिका है कि वे राज्य के पहले समाज की उत्पत्ति मानते थे। यही ठीक भी है। भाषा का जन्म पहले होता है व्याकरण का बाद को।

उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि पौराणिक सतयुग की चाहे जो अवस्था रही हो, जहाँ तक ज्ञात इतिहास का संबंध है हिंदू विचारक यह मानते थे कि समाज की रक्षा और विकास के लिए शासनसंस्था का अस्तित्व अनिवार्य है और उसके बिना कोई समाज टिक नहीं सकता[1]। राज्य को दैवी संस्था मानने का अर्थ यही है कि वह समाज के ही समान प्राचीन है और उसकी उत्पत्ति का कारण मनुष्य की सहजात सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्ति ही है।

महाभारत के विवरण से यह प्रतीत होता है कि समाज के मानने से ही विरजस राजा हुआ और दीघनिकाय तो स्पष्ट ही कहता है कि 'महाजनसम्मत' लोगों की प्रार्थना पर ही अव्यवस्था दूर करने पर तैयार हुए। तब लोगों ने उन्हें राजा बनाया। इन विवरणों में समाज की सहमति अथवा इकरारनामे से ही राज्य की स्थापना का भाव निहित है। धर्मसूत्रकारों का भी यह मत है, क्योंकि वे लिखते हैं, कि राजा प्रजा का सेवक है, उसका कर्तव्य उनका संरक्षण है और उसे प्रजा की आय का १।६ वाँ भाग अपने वेतन के रूप में मिलना चाहिये[2]। हिंदू विचारकों ने इकरारनामे के इस सिद्धांत पर अधिक जोर संभवतः इसलिए नहीं दिया कि वे उसे समाज और सरकार की मूल उत्पत्ति के लिए अनुपयुक्त समझते थे और मनुष्य की स्वाभाविक समाजनिष्ठता को ही उत्तरदायी मानते थे।

---

१ अराजकं नाम राष्ट्रं पालेतुं न सक्का।

२ षड्भागभृतो राजा रक्षेत् प्रजाम्। बौ. ध. सू., १.१०.६

अब लोग समझ गये हैं कि सहमति का सिद्धांत इतिहास की दृष्टि से अशुद्ध और तर्क की दृष्टि से लचर है। सहमति द्वारा सभ्य एवं राजनीतिक दृष्टि से विकसित जातियों द्वारा विशिष्ट राज्यों की स्थापना संभव है। पर प्राकृतिक अवस्था में सबसे पहले राज्य की स्थापना कैसे हुई यह गुत्थी इस सिद्धांत से नहीं सुलझ सकती। सहमति या इकरार उस समाज में हो सकता है जहाँ लोग अपने और दूसरों के अधिकारों और कर्तव्यों को समझते हों, उस समाज में नहीं जहाँ लोग वनचरों की भाँति रहते हों। फिर भी इस विषय में भारतीय विचारों की पाश्चात्य से तुलना लाभकर होगी।

प्राचीन ग्रीक या रोमन विचारकों ने इस सिद्धांत का उल्लेख नहीं किया है। इसका विकास यूरप में प्रोटेस्टैंट आंदोलन के बाद ही हुआ। हॉब्स, लॉक और रूसो इसके प्रमुख समर्थक हैं।

बहुसंख्यक प्राचीन भारत के विचारकों के समान हॉब्स का भी यह मत था कि संसार के प्रारंभ में अराजकता थी; हरेक मनुष्य यथासंभव दूसरे को दबाना चाहता था। इस अवस्था से उकता कर लोगों ने आपस में यह तय किया कि वे अपने अनियंत्रित अधिकार एक शासक को सौंप दें। मगर जनता और शासक में कोई इकरार न था न उसके अधिकारों पर कोई नियंत्रण लगा रखा था। इस अवस्था से शासक को जो अधिकार प्राप्त हुए उनको लोगों को वापस लेने का भी कोई अधिकार न रहा। हिंदू विचारकों में और हॉब्स में बहुत-कुछ साम्य है। वे भी मानते हैं कि पहले अराजकता थी और जब पहला राजा ब्रह्मदेव ने निर्माण किया तब उसमें और जनता में कुछ 'समय' या इकरार न हुआ था। मगर उनका यह स्पष्ट कहना है कि यदि 'समय' की शर्तों से न हो तो ईश्वर-निर्मित धर्मशास्त्र के नियमों से राजा की सत्ता नियंत्रित रहती है।

पहले राजा विरजस के अधिकार अनियंत्रित नहीं थे। ब्रह्मदेव ने जो धर्मशास्त्र तैयार किया था, उसके अनुसार ही उसको राज्य करना आवश्यक था। उसका पुत्र कर्दमक व प्रपौत्र अनंग भी धर्मशास्त्र के अनुसार ही राज्य शासन करते थे। यह बात सत्य है कि अनंग का पुत्र वेन बहुत जुल्म करने लगा। किंतु ऋषियों ने आखिर अपने मन्त्रप्रभाव से उसका वध किया। वेन का पुत्र पृथु बहुत शक्तिमान राजा था। किंतु उसने भी यह शपथ ली थी कि वह धर्मशास्त्र के अनुकूल आचरण करेगा। हिंदू विचारकों के अनुसार इकरारनामा से पीछे जो राजा परमेश्वर ने भेजा, वह हॉब्स के राजा के समान सर्वतंत्र-स्वतंत्र नहीं था।

लॉक के मतानुसार राज्य की स्थापना से पहले की अवस्था प्रायः हिंदू पुराणों के सतयुग के समान ही थी। लोग प्रकृति तथा विवेक के नियमों का पालन करते थे और प्रायः एक दूसरे के जान-माल को नुकसान न पहुँचाते थे। मगर व्यक्ति-व्यक्ति की बुद्धि में भेद और स्वार्थों के संघर्ष से प्राकृतिक नियम कौन है, इस प्रश्न पर कभी-कभी मतभेद उत्पन्न होते थे। मगर समाज में कोई अधिकृत न्याय करनेवाले या दण्ड देनेवाले न थे जिसके कारण सभी न्यायाधीश और दांडिक हो सकते थे। इससे गड़बड़ी होने लगी और उससे बचने के लिए लोगों ने आपस में 'समय' या इकरारनामा किया और सरकार की स्थापना की और उसे कुछ अधिकार सौंप दिये। इस मूल 'समय' से राजा और प्रजा दोनों ही समान रूप से बँधे हैं।

हिंदू विचारकों ने भी यह मान लिया है कि पहले सतयुग था और किसी प्रकार से लोभ और मोह के वश में हो जाने से लोगों का अधःपतन हुआ और शासनव्यवस्था की आवश्यकता उत्पन्न हुई। मगर सतयुग के लोग एकाएक लोभवश कैसे हुए यह जैसे हिंदू विचारक ठीक तरह से कह नहीं सकते, उसी प्रकार लॉक भी यह नहीं समझा सकता है कि प्रकृति तथा विवेक के नियमों का पालन करनेवालों में स्वार्थजन्य झगड़े कैसे होने लगे, और ऐसे समय हरेक व्यक्ति समाज में न्यायाधीश और दांडिक कैसे हो सकता था। मूल 'समय' (इकरारनामा) की शर्तों से लॉक राजा के अधिकार का नियन्त्रण करना चाहते हैं, हिंदू विचारक मूल दैवी शास्त्र के नियमों से।

प्राचीन भारतीय आचार्य लॉक और हॉब्स की भाँति बुद्धिवाद के युग में नहीं रहते थे। उन्होंने इन प्रश्नों पर अर्धधार्मिक और अर्धलौकिक दृष्टि से ही विचार किया था। अतः न तो वे इस समस्या के तल तक पहुँच सके और न शासन-संस्था तथा प्रजा के अधिकारों की ही स्पष्ट सीमा निर्धारण कर पाये। उन्होंने यह तो कह दिया कि राज्य द्वारा अपने संरक्षण और सेवा के बदले ही प्रजा राजा को कर देती तथा उसका अनुशासन मानती है और राजा के कर्तव्य-च्युत होने पर उसे हटाने और मार डालने का भी प्रजा को अधिकार है, पर उन्होंने यह कहीं नहीं बताया कि किन-किन परिस्थितियों में राजा इकरारनामा तोड़ने का दोषी समझा जाय और किन व्यावहारिक विधान-युक्त साधनों द्वारा प्रजा उससे इकरानामे की शर्तों का पालन बाध्य रूप से करावे। आततायी राजा को हटाने या वध करने का अधिकार प्रजा को देना ही इस बात का प्रमाण है कि प्रजा ही राजसत्ता की मूल अधिकारी है और उसी का अधिकार सर्वोच्च है।

परन्तु राजच्युत करना तथा राजवध करना बड़ा उग्र और कठिन उपाय है। ज्यादा अच्छा होता यदि हमारे आचार्यों ने राजा पर अंकुश रखने के लिए कोई सदा व्यवहार में लाने योग्य वैधानिक मार्ग निकाला होता। परन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिये कि इस प्रकार का वैधानिक मार्ग यूरप में भी आधुनिककाल में ही पूर्णरूप से बन पाया है।

अर्वाचीन विचारकों ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में और भी कल्पनायें की हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बहुत पुराने जमाने में लोगों ने स्वेच्छा से कुछ व्यक्तिविशेष को अधिकार दिया। या तो वह पुरोहित था जो देवताओं को प्रसन्न कर सकता हो, या वह मन्त्रवेत्ता था जो मन्त्रबल से पानी बरसा सकता हो अथवा वह वैद्य था जिसमें रोग दूर करने की क्षमता थी। इस प्रकार अधिकार पा जाने पर, अपने रोब से और बाद में बलप्रयोग द्वारा भी इसके लिए अपने अधिकार कायम रखना या उनका विस्तार करना कठिन न था। संभव है कि कुछ जातियों में इस प्रकार भी शासनसंस्था या राजा की उत्पत्ति हुई हो। पर आर्य जातियों में पितृप्रधान सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति के ही बीज से धीरे-धीरे राज्यविकास अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता है।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान से इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि अपने आदि देश में भी आर्य सम्मिलित कुटुम्बों में ही रहते थे। इन कुटुम्बों में दादा, पिता, चाचा, भतीजे, लड़के और पतोहू सभी थे[1]। होमर के काल में दो-दो सौ और तीन-तीन सौ व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख मिलता है[2]। इस परिवार के गृहपति को परिवार के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व था। उसे अपने वशवर्ती किसी भी व्यक्ति को बेचने, बन्धक रखने या अपराध करने पर अंगच्छेद और वध करने का भी अधिकार था। प्राचीन रोम में परिवार के गृहपति को ये अधिकार थे और कुछ वैदिक सूत्रों में भी पिता की आज्ञा से अपराधी पुत्र के बेचने या उसकी आँखें फोड़ी जाने का वर्णन है[3]। प्रागैतिहासिककाल में सभी आर्य जातियों में

---

१ अधिकांश यूरोपीय (Indo-European) भाषाओं में चाचा, भतीजा, ससुर, सास, पतोहू आदि शब्द एक ही धातु से निकले हैं।

२ प्रायम के ५० बेटे और १२ बेटियाँ थीं और वे अपनी पत्नी, पति, और संतान के साथ एक ही घर में प्रायम के साथ रहते थे।

३ ऋग्वेद ७. ११६.१७—में वर्णन है कि ऋज्राश्व की असावधानी से इसके पिता की १०० भेड़ें एक भेड़िया खागया। पिता ने क्रुद्ध होकर (क्र. पृ. उ.)

कुटुम्ब के गृहपति के अधिकार और पद प्रायः राजा के ही समान थे। जब कुटुम्ब-संस्था का विस्तार हुआ और उसने एक ही गाँव में रहनेवाले काल्पनिक या वास्तविक पूर्वज से उत्पत्ति माननेवाले अनेक कुलों के संघ का रूप धारण किया तब गृहपति के अधिकारों के क्षेत्र की वृद्धि के साथ-साथ उसकी व्यापकता में कुछ कमी भी आयी। गाँव के सब से बड़े कुल के सबसे वृद्ध गृहपति को सारा समाज अत्यंत आदर से देखता था और अन्य ग्रामवृद्धों की सलाह से वह ग्राम की व्यवस्था करता था।

ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि तत्कालीन आर्य समाज कुटुम्बों, जन्मनों, विशों और जनों[1] में विभाजित था। जन्मन् संभवतः एक ही पूर्वज के वंशजों का ग्राम था। इस प्रकार के कई ग्रामों का समूह विश् कहलाता था और इनका मुखिया विश्पति। विश् का संघटन बड़ा दृढ़ था और लड़ाइयों में हरेक विश् की अपनी अलग टुकड़ी होती थी। कई विशों को मिलाकर जन बनता था जिसके प्रमुख को जनपति या राजा कहते थे। प्राचीन रोम की समाज-व्यवस्था और ऊपर वर्णित वैदिक समाज-व्यवस्था में अद्भुत साम्य था। वहाँ भी सबसे छोटा अंग 'जेन्स' एक ही वंश के कुलों का समूह था, कई जेन्स मिलाकर 'क्यूरिया' और १० क्यूरियों की एक 'ट्राइब' बनती थी। इस प्रकार वैदिक जन, रोम के 'ट्राइब', विश्, 'क्यूरिया' और जन्मन् 'जेन्स' के बराबर था।

उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिककाल में संयुक्त कुटुम्ब से ही शासन-संस्था का विकास हुआ। कुटुम्ब के गृहपति का आदर और मान स्वाभाविक था, ग्राम के मुखिया और जनपति भी इसी परंपरागत सम्मान के भाजन हुए, और कालांतर में ये ही सरदारों और राजाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुए। राज्यों के विस्तार के साथ राजा के अधिकारों का भी विस्तार होता रहा। इस तरह संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति शासन-संस्था व समाजसंस्थाओं के उदय में बहुत सहायक हुई। संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति विवाह-संस्था के पावित्र्य व कौटुम्बिक संपत्ति पर अधिष्ठित थी। इसलिये उसके कारण स्त्रियों के पावित्र्य का अपहरण बंद करने व कौटुम्बिक संपत्ति का

(क्रमशः)

उसकी आँखें फोड़ दीं, तब अश्विनी ने उसे नेत्रदान दिया। शुनश्शेप को उसके पिता ने अकालपीड़ित परिवार के प्राण के लिए बेच दिया था। (ऐ. ब्रा. सप्तम १५)

१ स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरतेऽधुना नृभिः । ८.२६.३.

सुव्यवस्थित उपभोग होने देने की प्रवृत्ति वृद्धिगत हुई, जिसके फलस्वरूप समाज में शान्ति, सुव्यवस्था व शासनसंस्थाएँ अच्छी तरह से पनपने लगीं। आर्यों में शासनसंस्थाएँ सुदृढ़ कराने में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति ने काफी हाथ बँटाया है।

शासन-संस्थाओं के प्रकार

अब हमें यह देखना है कि प्राचीन भारत में कितने प्रकार की शासन-संस्थाएँ थीं। प्राचीन लेखकों ने इस विषय के विवेचन पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। कारण उनके समय में नृपतंत्र का ही बोलबाला था। यदि प्रजातंत्र या उच्चवर्ग-तंत्र के नागरिक ने दंडनीति का कोई ग्रंथ रचा होता तो उसमें नृपतंत्र, प्रजातंत्र और उच्चवर्ग-तंत्र आदि विविध प्रकार की शासन-संस्थाओं के गुणागुण का विवेचन अवश्य होता, परन्तु ऐसा न हुआ। हमारे लेखक घूम-घूमकर केवल एक ही प्रकार नृपतंत्र पर ही आते हैं। चलते-चलाते कुछ ने 'संघों' का उल्लेखमात्र कर दिया है। हम देख चुके हैं कि बहुत काल तक भारत में जन-राज्यों का ही प्रचलन रहा। विश्पति, जनपति आदि के उल्लेख अनेक जगह मिलते हैं और उनके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर यदु, पुरु, अणु और तुर्वशु आदि विशिष्ट जनों का भी उल्लेख प्रचुरता से किया गया है। कहा जाता है कि विश्वामित्र के स्तवन से भारतजनों की रक्षा हुई[1]। राजसूय यज्ञ में राजा किसी प्रदेश या राज्य का नहीं बल्कि भारतों या कुरु-पांचालों का शासक घोषित किया जाता है।

उत्तर-वैदिककाल में प्रादेशिक राज्य की भावना का विकास होने लगता है। अथर्ववेद में इसका स्पष्ट उल्लेख है[2]। तैत्तिरीय संहिता में ऐसे अनुष्ठान का वर्णन है जिससे राजा अपने 'विश्' पर प्रभुता पा सकता है पर 'राष्ट्र' या देश पर नहीं[3]। ब्राह्मण वाङ्मय में अकसर सम्राट् का सागरमेखला पृथ्वी के अधिपति के रूप में वर्णन है, अनेक जनों के अधिपति के रूप में नहीं। स्पष्ट है कि इस समय तक प्रादेशिक राज्य की धारणा जड़ पकड़ चुकी थी।

वैदिककाल में नृपतंत्र ही प्रचलित था। राजा, महाराजा और सम्राट् आदि उपाधियाँ राजाओं के पद, गौरव और शक्ति के अनुसार दी जाती थीं।

---

१ विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।३.५३।२

२ २०. १२७. ९–१०; १९. ३०. ३–४.३. ४. २; ६.९८.२ ।

३ २. ३. ३–४ ।

४ ऐ. ब्रा. ८. २. ६; ८. ३. १३ । तै. स., २. ३. ३–४ ।

कुछ राजा 'स्वराज' और 'भोज' कहलाते थे। इन उपाधियों का निश्चित अर्थ बतलाना कठिन है।

राज्याभिषेक में कभी-कभी कहा गया है कि इस संस्कार से शासक को एक साथ राज्य, स्वराज्य, भौज्य, वैराज्य, महाराज्य और स्वराज्य पद प्राप्त होंगे। इससे संदेह होता है कि ये उपाधियाँ विभिन्न प्रकार के राज्यों की सूचिका हैं या नहीं। यह भी हो सकता है कि राज्याभिषेक-संस्कार का महत्व दिखाने के लिए ही पुरोहित ने कह दिया हो कि उससे इन सब विभिन्न पदों की प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा का समर्थन ऐतरेय ब्राह्मण के इस कथन से भी होता है कि देश के विभिन्न भागों में राज्य, भौज्य, वैराज्य और साम्राज्य आदि विविध प्रकार के राज्य थे[1]।

वेदोत्तर युग में एक सम्राट् के करद-सामन्त के रूप में छोटे-बड़े अनेक राजाओं का उल्लेख बराबर मिलता है। बहुत संभव है कि वैदिककाल में भी यही स्थिति रही हो और करद-सामन्त भोज और स्वराज तथा उनके अधिपति सम्राट् सम्बोधित होते रहे हों। स्वराट् के मुकाबले में सम्राट् की राज्य-सीमा का क्या विस्तार था इसका ठीक-ठीक निश्चय नहीं हो सकता। वैदिककाल के अधिकांश राज्य छोटे ही होते थे। चौथाई पंजाब के बराबर भी कोई राज्य उस समय रहा हो इसमें भी संदेह है। सम्भव है कि सम्राट् का राज्य भी साधारण राज्य से विशेष बड़ा न रहा हो और उसका ऊँचा पद राज्य-विस्तार की अपेक्षा उसकी सामरिक कीर्ति और विजयों को ही अधिक सूचित करता होगा। राजा का 'राज्य' सम्राट् के 'साम्राज्य' से प्रायः छोटा होता था, किन्तु वह सम्पूर्ण स्वतंत्र होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में जो कहा गया है कि मध्यदेश में राजा राज्य करते थे व पूर्व हिंदुस्तान में सम्राट्—इससे भी उपरिनिर्दिष्ट विधान को पुष्टि मिलती है। वैराज्य शब्द से प्रायः गणतन्त्र (republic) का निर्देश होता था। 'विगतो राजा यस्मात्तद्वैराज्यम्' जिस शासनसंस्था में राजा न रहता था, वह वैराज्य कहा जाता था।

स्पार्टा की भाँति प्राचीन भारत में भी द्वैराज्य या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य थे। सिकंदर के समय में पाटल राज्य (आधुनिक सिंध) में पृथक् वंशों के दो राजाओं का संयुक्त शासन था[2]। अर्थशास्त्र (८।२) में भी ऐसे राज्य का उल्लेख है। ऐसे राज्यों का सूत्रपात शायद इस प्रकार हुआ हो जब दो भाइयों

---

१ ऐ. ब्रा., ७. ३, १४।

२ मैक क्रिंडिल—सिकंदर का आक्रमण पृ० २९६।

अथवा उत्तराधिकारियों ने राज्य के विभाजन के बजाय संपूर्ण राज्य पर संयुक्त शासन करना ही पसन्द किया हो। परन्तु जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार एक ही राज्य में दो राजा भी मिलकर नहीं रह सकते। खासकर जब उनके अधिकारों या कार्यों का विभाजन न हो और हरेक अपने को ही बड़ा माने। ऐसे राज्य तो प्रायः दलबन्दी और परस्पर संघर्ष के अखाड़े रहे होंगे इसी से अर्थशास्त्र इनके पक्ष में नहीं है[१] और जैन साधुओं को ऐसे राज्य में रहने या जाने का निषेध किया गया है। अक्सर आपसी झगड़ा बचाने की नीयत से द्वैराज्य के शासक भाई या सम्बन्धी राज्य का बटवारा कभी-कभी कर लेते थे। विदर्भ में शुंगों द्वारा स्थापित द्वैराज्य में ऐसा ही हुआ था[२]। बटवारे के बाद भी दोनों शासक महत्वपूर्ण विषयों पर संयुक्त विचार-परामर्श किया करते होंगे। जब संयुक्त-राज्य के दोनों शासकों में मेल रहता था तब उसे द्वैराज्य (संस्कृत) या दोरज्ज (प्राकृत) कहते थे, जब उन राजाओं में झगड़ा रहता था तब उसे विरुद्ध-राज्य (संस्कृत) या विरुद्ध-रज्ज (प्राकृत) कहते थे[३]।

वैदिक वाङ्मय में कभी-कभी राजाओं की समिति का वर्णन मिलता है[४]। यह भी कहा गया है कि वही व्यक्ति राजा बन सकता है जिसके लिए अन्य राजाओं ने सहमति दी हो[५]। संभवतः इससे सामन्त अथवा गणराज्य का अभिप्राय हो जिसमें सारा अधिकार उच्चवर्ग या सरदारों की परिषद् के हाथ रहता है। उसके सब सभासद राजा कहे जाते थे और ये ही राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को चुनते थे और वह भी राजा की ही उपाधि से संबोधित होता था। देश के कुछ हिस्सों में इस प्रकार के राज्यों का ईसवी पूर्व छठी शताब्दी तक अस्तित्व था।

नृपतन्त्र और उच्चवर्ग-तन्त्र के साथ-साथ विशुद्ध प्रजातन्त्र का अस्तित्व भी

---

१ द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्पर संघर्षेण वा विनश्यति ८.२।

२ मालविकाग्निमित्र, अंक ५ श्लोक १३।

३ अरायेणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा दोरज्जणि वा वेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा। आचारांगसूत्र, २. ३. १. १०।

४ यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। ऋ. वे, १०. ९७. ६।

५ यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति न स यस्मै न॥
श. ब्रा., ९. ३. २. ५।

भारत में वैदिक काल से ही है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि हिमालय के पास उत्तर-कुरु और उत्तर मद्र आदि जनों में विराट् (राजा-रहित) शासनतंत्र प्रचलित था जिस कारण वे लोग विराट् अर्थात् नृप-हीन जन कहे जाते थे। इसी प्रकरण में पौर्वात्यों और दाक्षिणात्यों के राजाओं और उनकी उपाधियों (सम्राट् और भोज) का उल्लेख है और उपर्युक्त स्थल में विराट् शब्द राजा के लिए नहीं किंतु तद्देशस्थ लोगों के लिए स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है। अतः यह निःसंदिग्ध है कि उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र जनों में अ-राजतन्त्र या प्रजातन्त्र शासन-पद्धति प्रचलित थी। सिकन्दर के समय के यूनानी लेखकों ने भी इसी प्रदेश में प्रजातन्त्र राज्यों के होने का उल्लेख किया है। ये विराट् राज्य सचमुच प्रजातन्त्र थे या नहीं इस पर आगे छठें अध्याय में विचार होगा।

प्राचीन काल में हिंदुस्थान में नगर-राज्य भी हुआ करते थे, जिनका आधिपत्य राजधानी व समीपवर्ती प्रदेश पर ही रहता था। अनेक ग्रीक ग्रंथकारों ने उनका निर्देश किया है। एरियन के कथनानुसार न्यासा में ऐसा एक नगर-राज्य था। सिकन्दर ने उस राज्य से १०० प्रतिष्ठित नागरिक जामिन (hostages) के रूप में माँगे। उसके अध्यक्ष ने उससे कहा, 'यदि किसी नगर से एक सौ प्रतिष्ठित व कार्यक्षम नागरिक छीन लिये जायँ, तो उसका शासन-यन्त्र निकम्मा हो जायगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि न्यासा एक नगर राज्य था। शिबि के नागरिकों के द्वारा जब आत्मसमर्पण किया गया, तब सिकन्दर ने उनके नगर को स्वराज्य फिर प्रदान किया, ऐसा जो वर्णन डायोडोरस ने किया है उससे यह मालूम पड़ता है कि उनका भी नगर राज्य था। अद्रैस्टियों का पिंप्रम, कठों का संगल व सिंधस्थित पाताल (Patala) भी नगर-राज्य ही थे। सिंधु के तीर पर के बलवान् ग्रामों का निर्देश महाभारत में आता है। वे ग्राम भी प्रायः नगर-राज्य ही थे। त्रिपुरी, माध्यमिका, उज्जयिनी, वाराणसी, कौशांबी इत्यादि नगरों की मुद्राएँ मिली हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि इन शहरों में एक समय में नगर-राज्य ही थे, पीछे उनके अधिक विस्तृत राज्य हो गये। नगर-राज्यों में ग्रीस के समान हिंदुस्थान में भी निकटवर्ती ग्रामों का अन्तर्भाव होता था, किंतु शासनसंचालन प्रायः नगरवासी लोग ही करते थे।

राज्य-संघ (Federal state) और सम्मिलित-राज्य (Composite state) भी प्राचीन भारत में अज्ञात न थे। उत्तर वैदिक-काल में कुरु-पांचालों ने मिलकर एक शासक के अधीन अपना सम्मिलित-राज्य कायम किया था।

पाणिनि के समय में क्षुद्रक और मालव राज्य अलग-अलग थे परंतु महाभारत में (ई० पू० २५०) बहुधा इनका एक साथ ही उल्लेख मिलता है। सिकंदर के आक्रमण का सामना करने के लिए इन्होंने दोनों राज्यों का एक संघ बनाया था, जो एक शताब्दी तक कायम रहा। इसे दृढ़ करने के लिए क्षुद्रकों और मालवों में परस्पर १० हजार विवाह हुए थे। यौधेय गण-राज्य भी तीन उप-राज्यों का संघ था। अक्सर ये संघ अल्पकालीन ही हुआ करते थे। बुद्ध और महावीर के जीवन-काल में लिच्छवियों ने एक बार मल्लों के साथ और थोड़े ही समय बाद दूसरी बार विदेहों के साथ संघ बनाया था। लिच्छवि-मल्ल-संघ के मंत्रिपरिषद् में १८ सदस्य होते थे, ६ लिच्छवि चुनते थे और ६ मल्ल। ये संयुक्त और संघ-राज्य किस प्रकार चलते थे, संघ को क्या अधिकार दिये जाते थे और संघांतरित राज्यों को क्या कहते थे इन सब बातों की पर्याप्त जानकारी हमें नहीं मिलती है। संभवतः राज्य-संघों की केंद्रीय सत्ता केवल परराष्ट्र-नीति का संचालन और संधि-विग्रह का निश्चय करती थी। अन्य विषयों में राज्य स्वतंत्र थे। युद्ध के लिए संघांतरित राज्य अपनी संयुक्त सेना का एक ही सेनापति नियुक्त करते थे। सिकंदर के आक्रमण के समय क्षुद्रक-मालव राज्यों ने एक रणविशारद और वीर क्षुद्रक सेनानायक को ही संयुक्त सेना का अधिपति बनाया था जिसके शौर्य और कौशल्य का बोलबाला था।

साधारणतः भारत में एकात्मक या एकच्छत्र (Unitary) राज्यव्यवस्था ही प्रचलित थी। राजा ही सत्ता का स्रोत था, मंत्री और प्रांतीय अधिकारी उसी से अधिकार ग्रहण करते थे। ग्रामपंचायत, पौर-जानपद और श्रेणी-निगम आदि भी केंद्रीय सत्ता के नियंत्रण और निरीक्षण में काम करते थे। परंतु परंपरा ऐसी बन गयी थी कि राजा इनके कार्यों में तभी हस्तक्षेप कर सकता था जब ये अपनी परंपरा और विधान के विरुद्ध काम करें। अस्तु ये स्वायत्त संस्थाएँ राज्य के एकात्मक रूप को बहुत बदल देती थीं। केंद्रीय सत्ता में परिवर्तन होने पर भी ये स्वायत्त संस्थाएँ अपना-अपना काम करती रहती थीं।

अध्याय ३

राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य

पिछले अध्याय में राज्य की उत्पत्ति पर विचार और तद्विषयक सिद्धांतों का निरूपण किया गया है। अब हमें देखना है कि प्राचीन भारत में राज्य का स्वरूप, उद्देश्य और कार्य के विषय में क्या विचार थे।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में विवेचन करते हुए हमने पहले ही कहा है कि प्राचीन हिन्दू लोग उसको जनहितसंवर्धक संस्था के रूप में देखते थे। राज्य के बिना जीवितसंरक्षण और पुरुषार्थसाधन हो ही नहीं सकता है ऐसी उनकी धारणा थी। अनन्यगतिक होने के कारण जान-माल की रक्षा के लिए जनता को राज्य जैसी अवांछनीय और दमनकारी संस्था का सहारा लेना पड़ता है ऐसा उनका मत बिल्कुल नहीं था। हाँ, दुराचारी लोगों को राज्य शत्रु के समान जरूर प्रतीत होता है मगर इन समाजभक्षकों के मत की किसी को परवाह ही नहीं करनी चाहिये।

समाजकंटकों के वजह से ही राज्य को आखिर में दंड का प्रयोग करना पड़ता है। यह वांछनीय है कि दंडप्रयोग के प्रसंग बहुत ही कम हों। यदि परमेश्वरप्रदत्त नीति-नियमों का पालन करने की आदत लोगों को हो और दंड-प्रयोग ही अनावश्यक हो तो वह सबसे अच्छा होगा। धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन जैसे प्रजाद्वारा वैसे नृपद्वारा भी होना आवश्यक है। यदि कोई राजा उनको तोड़ दे तो प्रजा राजनिष्ठा का कर्तव्य-पालन करने में बाध्य न रहेगी, इतना ही नहीं यदि आवश्यक हो तब वह आततायी राजा का वध भी कर सकती है। आदर्श राज्य में राजा और प्रजा दोनों ही धर्म-नियमों का पालन करते हैं जिससे उन दोनों का भी ऐहिक और पारलौकिक कल्याण साध्य होता है।

शासनसंस्था का क्रमशः विकास कैसे हो गया इसका विवेचन प्राचीन हिंदू-ग्रंथों में नहीं मिलता है; उस जमाने में आधुनिककाल की ऐतिहासिक दृष्टि ही प्रायः अज्ञात थी। मगर वैदिक प्रमाणों के परामर्श से यह प्रतीत होता है कि उस जमाने में जनराज्यों (Tribal states) की प्रायः रूढ़ि थी। यदु, तुर्वशु, भरत आदि जिन जनों का उल्लेख अनेक बार वेदों में मिलता है उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं था। वे लोग भ्रमणशील थे अतः उनके राज्य भी उनके साथ बदला करते थे। पर उत्तर वैदिककाल में ये देश के विभिन्न भागों में

बस चुके थे[1] और उनके राजा जन के ही नहीं 'राष्ट्र' याने प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे[2]। मगर पर्याप्त सामग्री न होने से हम यह नहीं जान सकते कि जनराज्यों का क्रमिक विकास होकर प्रादेशिक राज्य कैसे बने। उत्तर वैदिक-काल में सम्राट् का राज्यक्षेत्र ससागर पृथ्वी कहा गया है। जिससे प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है[3]।

प्रादेशिक राज्य के कौन-कौन अंग होते हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार रहता है इन प्रश्नों पर अभी हमको विचार करना है। वैदिक वाङ्मय में इस विषय का उल्लेख भी नहीं मिलता है, किन्तु जब इ. पू. चौथी सदी में राजनीतिक विचारों का विकास होने लगा तब से इस विषय की चर्चा मिलती है। कौटिल्य (६.१) और मनु (८.२८४-७) दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक शासन-संस्था है, मनमानी चाल चलनेवाले, अपना ही भला देखनेवाले, विभिन्न कणों का ढीला-ढाला जोड़ नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य, भूप्रदेश, कर या साधन-सामग्री, दुर्ग, सेना और मित्र, राज्य के सात अंग हैं जिनको सप्त-प्रकृतियाँ कहते हैं[4]। कामंदक शुक्र आदि परवर्ती लेखक सप्तांग परिभाषा को स्वयंसिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित राज्य भी इन्हीं सप्त-प्रकृतियों से युक्त पाये जाते हैं[5]।

आधुनिक मतानुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अंग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य होना चाहिये। इन घटकों की यदि हम सप्तांगों से तुलना करें, तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में है, उनमें राज्य का प्रभुत्व केंद्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूँथते थे। राष्ट्र (भूप्रदेश), दुर्ग, सेना और कोष राज्य के शासन-सामग्री थे। 'जन-राज्यों' का जमाना कब का बीत चुका था,[6] इसलिए राष्ट्र या भूप्रदेश भी राज्य का आवश्यक अंग

---

१ ऐ. ब्रा., ८.३.१४ २ तै. सं., २.३ ३-४ ३ ऐ. ब्रा, ७ ३. १४

४ इन सप्त-प्रकृतियों में से स्वामी, अमात्य, रत्नी या उच्चाधिकारी पुर और बलि आदियों का उल्लेख वेदों में भी है परन्तु उनके परस्पर और राज्य के प्रति संबन्ध की व्याख्या वहाँ नहीं है।

५ ए. क. भा. ५; चन्नरायपट्टण, नं. १४८; इ. स. ११८३

६ इसके उत्तर काल में भी कभी-कभी मालव ऐसे गणराज्य का स्थलांतर दिखाई देता है, वह ३२५ ई. पू. में मुलतान के पास, २२५ ई. पू. में अजमेर-उदयपुर भाग में और २०० ई० में मालवा में था। मगर उसके

(कृ. पृ. उ.)

माना जाने लगा। दुर्ग[1] और सेना भी राज्य की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक थे अतः ये भी उसके स्वाभाविक अंग हो गये। देश की रक्षा और राज्य की अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यवाही के लिए बलि या सम्पत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है इसलिए कोष भी राज्य के लिए आवश्यक माना गया। राज्यांगों में मित्रों की गणना कुछ विलक्षण-सी लगती है परन्तु आज के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इस महादेश में प्राचीन काल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे उनमें से हरेक की सुरक्षा तभी सम्भव थी जब देश में शक्ति-समता (Balance of power) रहा हो, अर्थात् इन राज्यों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि किसी राज्य का अपनी अपेक्षा किसी दुर्बल राज्य पर आक्रमण करने का साहस न हो। इसीलिए प्राचीन विचारकों ने 'मित्र' अर्थात् परस्पर सम्बन्ध को इतना अधिक महत्व दिया। जनता की गणना सप्तप्रकृतियों में नहीं दिखाई देती। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि जनता और राज्य का स्वयंसिद्ध और अविच्छेद्य सम्बन्ध था और उसके बारे में संदेह का अवकाश ही नहीं था।

प्राचीन भारतीय विचारक इन सप्त-प्रकृतियों को राज्य-शरीर के अंग मानते थे। इनमें से कुछ अंग दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व के हो सकते हैं जैसे दुर्ग और मित्र के मुकाबले स्वामी और अमात्य हैं[2] परन्तु अपने में कम महत्व का होते हुए भी प्रत्येक अंग राज्य-शरीर के लिए एक-से अनिवार्य थे। क्योंकि एक अंग का अभाव दूसरा नहीं पूरा कर सकता[3] राज्य का अस्तित्व

(क्रमशः)

स्थलांतर का कारण विदेशियों के आक्रमणजन्य परिस्थिति था न कि मालवों की भ्रमणशीलता।

१ बारूद, बड़ी तोपें और विमानों के अभाव के युग में एक दुर्ग अनेक हजार सेना का मुकाबला कर सकता था।

२ मानवी शरीर में भी कुछ अंग जैसे नेत्र या मस्तिष्क, दूसरे अंगों से जैसे हाथ या पाँव से अधिक महत्व के रहते हैं। राष्ट्रशरीर में भी कुछ अंगों को दूसरे अंगों से महत्व का माना जाना उसके एकशरीरत्व के खिलाफ नहीं है जैसा कि प्रो० अजारिया मानते हैं।

३ तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कर्म तस्मिंस्तच्छ्रेष्ठमुच्यते ॥

मनु, ९. २९७

बस चुके थे[१] और उनके राजा जन के ही नहीं 'राष्ट्र' याने प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे[२]। मगर पर्याप्त सामग्री न होने से हम यह नहीं जान सकते कि जनराज्यों का क्रमिक विकास होकर प्रादेशिक राज्य कैसे बने। उत्तर वैदिक-काल में सम्राट् का राज्यक्षेत्र ससागर पृथ्वी कहा गया है। जिससे प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है[३]।

प्रादेशिक राज्य के कौन-कौन अंग होते हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार रहता है इन प्रश्नों पर अभी हमको विचार करना है। वैदिक वाङ्मय में इस विषय का उल्लेख भी नहीं मिलता है, किन्तु जब इ. पू. चौथी सदी में राजनीतिक विचारों का विकास होने लगा तब से इस विषय की चर्चा मिलती है। कौटिल्य (६.१) और मनु (८.२८४-७) दोनों का मत है कि राज्य एक सजीव एकात्मक शासन-संस्था है, मनमानी चाल चलनेवाले, अपना ही भला देखनेवाले, विभिन्न कणों का ढीला-ढाला जोड़ नहीं है। इनके मतानुसार स्वामी, अमात्य, भूप्रदेश, कर या साधन-सामग्री, दुर्ग, सेना और मित्र, राज्य के सात अंग हैं जिनको सप्त-प्रकृतियाँ कहते हैं[४]। कामंदक शुक्र आदि परवर्ती लेखक सप्तांग परिभाषा को स्वयंसिद्ध मानते हैं और शिलालेखादि में वर्णित राज्य भी इन्हीं सप्त-प्रकृतियों से युक्त पाये जाते हैं[५]।

आधुनिक मतानुसार भूप्रदेश, जनता और केन्द्रीय सरकार राज्य के आवश्यक अंग हैं। केन्द्रीय सरकार में प्रभुता और वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य होना चाहिये। इन घटकों की यदि हम सप्तांगों से तुलना करें, तो यह दिखाई देगा कि स्वामी और अमात्य केन्द्रीय शासन के स्थान में है, उनमें राज्य का प्रभुत्व केंद्रित रहता था और वे राज्य को एक सूत्र में गूँथते थे। राष्ट्र (भूप्रदेश), दुर्ग, सेना और कोष राज्य के शासन-सामग्री थे। 'जन-राज्यों' का जमाना कब का बीत चुका था,[६] इसलिए राष्ट्र या भूप्रदेश भी राज्य का आवश्यक अंग

१ ऐ. ब्रा., ८.३.१४ २ तै. सं., २.३ ३.४ ३ ऐ. ब्रा, ७ ३. १४

४ इन सप्त-प्रकृतियों में से स्वामी, अमात्य, रत्नी या उच्चाधिकारी पुर और बलि आदियों का उल्लेख वेदों में भी है परन्तु उनके परस्पर और राज्य के प्रति संबन्ध की व्याख्या वहाँ नहीं है।

५ ए. क. भा. ५; चन्नरायपट्टण, नं. १४८; इ. स. ११८३

६ इससे उत्तर काल में भी कभी-कभी मालव ऐसे गणराज्य का स्थलांतर दिखाई देता है, वह ३२५ ई. पू. में मुलतान के पास, २२५ ई. पू. में अजमेर-उदयपुर भाग में और २०० ई० में मालवा में था। मगर उसके

(क्र. पृ. उ.)

माना जाने लगा। दुर्ग[1] और सेना भी राज्य की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक थे अतः ये भी उसके स्वाभाविक अंग हो गये। देश की रक्षा और राज्य की अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यवाही के लिए बलि या सम्पत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है इसलिए कोष भी राज्य के लिए आवश्यक माना गया। राज्यांगों में मित्रों की गणना कुछ विलक्षण-सी लगती है परन्तु आज के इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि उपयुक्त मित्रों की सहायता पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर है। इस महादेश में प्राचीन काल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे उनमें से हरेक की सुरक्षा तभी सम्भव थी जब देश में शक्ति-समता (Balance of power) रहा हो, अर्थात् इन राज्यों में परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि किसी राज्य का अपनी अपेक्षा किसी दुर्बल राज्य पर आक्रमण करने का साहस न हो। इसीलिए प्राचीन विचारकों ने 'मित्र' अर्थात् परस्पर सम्बन्ध को इतना अधिक महत्व दिया। जनता की गणना सप्तप्रकृतियों में नहीं दिखाई देती। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि जनता और राज्य का स्वयंसिद्ध और अविच्छेद्य सम्बन्ध था और उसके बारे में संदेह का अवकाश ही नहीं था।

प्राचीन भारतीय विचारक इन सप्त-प्रकृतियों को राज्य-शरीर के अंग मानते थे। इनमें से कुछ अंग दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्व के हो सकते हैं जैसे दुर्ग और मित्र के मुकाबले स्वामी और अमात्य हैं[2] परन्तु अपने में कम महत्व का होते हुए भी प्रत्येक अंग राज्य-शरीर के लिए एक-से अनिवार्य थे। क्योंकि एक अंग का अभाव दूसरा नहीं पूरा कर सकता[3] राज्य का अस्तित्व

(क्रमशः)

स्थलांतर का कारण विदेशियों के आक्रमणजन्य परिस्थिति था न कि मालवों की क्रमणशीलता।

१ बारूद, बड़ी तोपें और विमानों के अभाव के युग में एक दुर्ग अनेक हजार सेना का मुकाबला कर सकता था।

२ मानवी शरीर में भी कुछ अंग जैसे नेत्र या मस्तिष्क, दूसरे अंगों से जैसे हाथ या पाँव से अधिक महत्व के रहते हैं। राष्ट्रशरीर में भी कुछ अंगों को दूसरे अंगों से महत्व का माना जाना उसके एकशरीरत्व के खिलाफ नहीं है जैसा कि प्रो० अजारिया मानते हैं।

३ तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते।
येन यत्साध्यते कर्म तस्मिंस्तच्छ्रेष्ठमुच्यते॥

मनु, ९. २९७

तभी कायम रह सकता है और उसका कार्य तभी ठीक चल सकता है जब उसके सब अंग एक से एक जुड़कर और एक विचार से काम करें[1]।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विचारक राज्य को एक सजीव संहति मानते थे। अवश्य ही वे राजा (स्वामी) और शासन-व्यवस्था को इस शरीर के सबसे श्रेष्ठ अंग मानते थे, पर कम महत्व के होते हुए भी अन्य अंग राज्य-शरीर के लिए उतने ही आवश्यक थे। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि राज्य-शरीर और प्राकृतिक शरीर की समता पूरी-पूरी नहीं हो सकती। शरीर के विभिन्न पिण्ड और अवयव अलग से नहीं जीवित रह सकते, पर राज्य के कुछ अंग—जैसे दुर्ग और कोष, अलग भी रह सकते हैं, और इनकी सहायता से नये राज्य की रचना भी की जा सकती है।

हमारे ग्रंथकारों ने उपर्युक्त सप्त-प्रकृतियों और उनके गुणों का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। दुर्ग और बल पर हम अधिक चर्चा न करेंगे क्योंकि विधान की दृष्टि से इनका अधिक महत्व नहीं है। स्वामी, अमात्य, कोष और मित्र पर आगे अध्याय ५, ७, १२, और १३ में विचार किया जायगा। भूप्रदेश के विषय में राज्यशास्त्रज्ञों का कथन है कि राज्य की समृद्धि उसके भूप्रदेश के प्राकृतिक साधनों और उसकी सुरक्षा की सुविधाओं पर बहुत निर्भर है। पर इससे अधिक आवश्यक यह है कि देश के निवासी साहसी और परिश्रमी हों, क्योंकि राज्य का भवितव्य सबसे अधिक उसके निवासियों के चरित्रबल, उत्साह और कार्यक्षमता पर ही निर्भर है। आदर्श राज्य विस्तार में कितना बड़ा होना चाहिये इस पर हमारे शास्त्रकारों ने अधिक विचार नहीं किया है। वे तो आसेतु हिमांचल-प्रदेश को सम्राट का अधिकार-क्षेत्र मानते हैं। प्राचीन भारत के अधिकांश छोटे-छोटे राज्यों को अलग करने वाली प्राकृतिक सीमाएँ न थीं। वे न तो इतने बड़े होते थे कि उनकी ठीक-ठीक शासन-व्यवस्था न हो सके, न इतने छोटे ही होते थे कि उन्हें आवश्यक साधनों के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़े।

---

१ परस्परोपकारीदं सप्तांगं राज्यमुच्यते। कामंदक ४।१

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोषदंडमित्राणि प्रकृतयः।
अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः।
उक्ताः प्रत्यंगभूतास्ताः प्रकृता राज्यसंपदः॥

अर्थशास्त्र ६।१।

आदर्श राज्य में क्या एक ही वंश, धर्म और भाषा के लोग होने चाहिये या इनमें भेद रहते हुए भी लोगों का एक राज्य बन सकता है इस प्रश्न पर गत दो सदियों में बहुत चर्चा हो चुकी है। पर प्राचीन भारतीय विचारकों ने इस राज्य (State) बनाम राष्ट्रीयता (Nationality) के प्रश्न का विचार भी नहीं किया है। प्राचीन भारत में यह प्रश्न था भी नहीं। देश पर यूनानी (ग्रीक), शक, पहलव, कुषाण और हूण आदि अनेक विदेशी जातियों ने आक्रमण किया और वे राज्य-संस्थापक, और शासक रूप में यहाँ रह भी गये, परन्तु वे अधिक दिन तक भाषा, धर्म और संस्कृति से भिन्न विदेशियों के रूप में न रह सके। एक-दो पीढ़ियों के अन्दर ही वे पूर्णरूपेण भारतीय बन जाते थे और हिंदू या बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेते थे। भारत के राज्यों को भी उनसे कोई खतरा न था। इन पर पूरा विश्वास किया जाता था और इन्हें ऊँचे पदों पर नियुक्त किया जाता था[१]। ये भी किसी भारतबाह्य राज्य को आत्मीयता से न देखते थे या उस पर राजनिष्ठा न रखते थे।

प्रजा में धर्म, जाति और भाषा की एकता से राज्य में भी एकरूपता आ जाती है। पर प्राचीन शास्त्रकारों ने इसे अधिक महत्व न दिया, न देने की जरूरत ही थी। प्राचीन भारत के अधिकांश राज्य एक दूसरे से जाति, भाषा या धर्म में विभिन्न न थे। सभी राज्यों में हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि शांति और मेल-जोल से रहते थे। संस्कृत सार्वदेशिक भाषा थी और प्राकृतों में इतना अन्तर न हो पाया था कि वे एक दूसरे से एकदम अलग और दुर्बोध हो जातीं। भारत में आकर सभी विदेशी बहुत जल्दी भारतीय बन जाते थे और हिन्दू समाज में घुल-मिल जाते थे। अस्तु, प्राचीन भारत के विभिन्न राज्यों में धर्म, जाति या भाषा का कोई भेद-भाव न था। व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, शासन-सुविधा या भौगोलिक परिस्थिति से ही 'अनेक अलग-अलग राज्य स्थापित होते थे। अतः भारतीय विचारकों ने राज्य की प्रजा में धर्म, भाषा और जाति की एकता पर जोर देने की आवश्यकता न समझी।

---

१ अशोक ने अपने साम्राज्य के सीमांत-प्रदेश काठियावाड़ का शासक तुषास्प नामक यवन ग्रीक को बनाया था यद्यपि उस समय ईरान और बाल्त्रिया में यवन राज्य स्थापित थे। १५० ई० में शक राजा रुद्रदामा ने सुविसाख पहलव को इसी प्रांत का शासक नियुक्त किया था, यद्यपि उस समय ईरान में पहलवों का राज्य था।

राज्य के उद्देश्य

वेदों में प्रत्यक्षरूपेण राज्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों पर विचार नहीं किया गया है; पर स्फुट उल्लेखों से पता चलता है कि शांति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय ही राज्य के मूल उद्देश्य समझे जाते थे। राजा को वरुण के समान धृतव्रत, नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक, दुष्टों को दण्ड देनेवाला होना चाहिये। धर्म का संवर्धन, सदाचार का प्रोत्साहन और ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य में अच्छी तरह से होना चाहिये[1]। प्रजा की नैतिक उन्नति के साथ ही भौतिक उन्नति करना भी शासन-संस्था का काम था। वेदकालीन परीक्षित के राज्य में दूध और मधु की धार बहती थी। वैदिककाल से ६०० ई० पूर्व तक प्रजा का सर्वाङ्गीण कल्याण ही राज्य का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।

इसके पश्चात् जब राज्यशास्त्र पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे तब उनमें राज्य का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम का संवर्धन कहा गया। धर्म-संवर्धन का अर्थ किसी संप्रदाय या मत-विशेष का पक्षपात नहीं वरन् सदाचार और सुनीति के प्रोत्साहन से जनता में सच्ची धार्मिक भावना और सदाचरण की प्रवृत्ति का संचार करना है। इस लक्ष्य को साध्य करने के लिए राज्य द्वारा धर्मों और मतों को सहायता देना, गरीबों के लिए चिकित्सालय और अन्नसत्र खोलना और ज्ञान-विज्ञान को प्रोत्साहन देना, आवश्यक माना जाता है। 'अर्थ-संवर्धन' का मुख्य साधन कृषि, उद्योग और वाणिज्य की प्रगति, राष्ट्रीय साधनों का विकास, कृषि-विस्तार के लिए सिंचाई, बाँध और नहरों का प्रबन्ध, और खानों का खनन था। 'काम-संवर्धन' का साधन था—शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करके प्रत्येक नागरिक को बिना विघ्न-बाधा के न्याय्य जीवन-सुख भोगने का अवसर देना, तथा संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, और वास्तु आदि ललितकलाओं के पोषण से देश में सुरुचि और सुसंस्कृति का प्रचार करना।

इस प्रकार शांति, सुव्यवस्था की स्थापना और जनता का सर्वाङ्गीण नैतिक, सांस्कृतिक और भौतिक विकास ही राज्य का उद्देश्य था।

इस उद्देश्य की प्राप्ति में जब सफलता प्राप्त होती थी, तब समाज के हर एक व्यक्ति के सर्वाङ्गीण व संपूर्ण विकास के लिए काफी अवसर मिलता था। सर्वभूतहित का जो ध्येय हिंदू संस्कृति ने व्यक्ति व समाज के सामने रखा है,

---

१ न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपी नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। छा० उ०, ५.११.५

उसका लक्ष्य जिस प्रकार धार्मिक व आध्यात्मिक उन्नति था, उसी प्रकार आर्थिक व भौतिक तरक्की भी था।

राज्य के उद्देश्यों में 'धर्म-संवर्धन' के होने से उसके स्वरूप के बारे में कुछ गलतफहमी उत्पन्न हो गई है। स्मृतिकारों ने राजा को बारम्बार वर्णाश्रम का प्रतिपालक कह कर इस भ्रान्ति को और भी पुष्ट कर दिया है। कहा जाता है कि वर्ण-धर्म या जाति-प्रथा अन्याय के आधार पर अधिष्ठित है, इसमें ब्राह्मण को तो 'भूदेव' बनाकर आसमान में चढ़ा दिया गया है और शूद्र और चांडाल को नागरिकता के मौलिक अधिकारों से भी वंचित करके दासता की शृंखला में जकड़ दिया गया है। शूद्रों को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था, एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों की अपेक्षा वे अधिक कठोर दण्ड के भागी होते थे। चांडाल कुत्तों से भी बदतर समझे जाते थे। अतः राज्य ने वर्णधर्म का प्रतिपालक बनकर अपने को इन सब अन्यायों का प्रतिपालक और समर्थक बनाया था। उसका काम तलवार के जोर पर निम्न वर्गों को इस अन्यायकारी वर्णाश्रम-धर्म की शृंखला में जकड़े रहना था। इस प्रथा का आधार सामाजिक विषमता थी और इसमें धर्म को प्रचलित अन्यायकारी प्रथा का पर्याय बना दिया गया था। वस्तुस्थिति को आदर्श की ओर चलाने के बजाय इसमें प्रचलित स्थिति ही आदर्श मान ली गई थी।

हिन्दू समाज-व्यवस्था के विकास-क्रम को ठीक-ठीक न समझने के कारण ही उपर्युक्त भ्रांति फैली है। प्राचीन भारत में प्रचलित परिपाटी और रीति-रिवाज में परिवर्तन नये कानून बनाकर या पुराने रद करके नहीं किया जाता था। समाज का मत बदलने से ही प्रथाएँ शनैः शनैः बदलती थीं। राज्य तो केवल समाज के मत की हामी भर देता था। प्रारंभिक काल में जब समाज अन्त-र्जातीय खान-पान और विवाह का समर्थन करता था तब राज्य को भी उसमें आपत्ति न थी। जब बाद में समाज इन प्रथाओं के विरुद्ध हो गया तब राज्य ने भी इन्हें कायम रखने का प्रयत्न न किया। प्रारंभ में विधवा को सम्पत्ति का उत्तराधिकार न था, अतः विधवा की संपत्ति पतिनिधन के पश्चात् राज्य ले लेता था। बाद में विधवा को भी समाज ने संपत्ति का उत्तराधिकार देना उचित समझा, तब राज्य ने आर्थिक हानि होने पर भी इसे स्वीकार किया। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होगा कि राज्य के धर्म-प्रतिपालक होने से प्रचलित रूढ़ियों को ही आदर्श मानने की वृत्ति कुछ बढ़ी नहीं थी। हिन्दू समाज-व्यवस्था का प्रत्येक निरीक्षक मानता है कि हिंदू समाज में बराबर परिवर्तन होते रहे। पहले

नियोग का चलन था, बाद में इसे समूल नष्ट कर दिया गया। विधवाओं और शूद्रों को संपत्ति का अधिकार देने में पूर्वकालीन स्मृतियों का विरोध होते हुए भी उनके अधिकार बराबर विस्तृत होते गये।

अतः यह ठीक नहीं कि हिंदू समाज में कुछ कुरीतियों के अतिस्त्व का कारण राज्य द्वारा धर्म का संवर्धन था। राज्य वर्णधर्म का पालक था पर उसने धर्मशास्त्र के इस दावे को कभी स्वीकार नहीं किया कि ब्राह्मण कर-दान और प्राण-दण्ड से बरी किये जायँ। वेद पढ़ने के कारण शूद्र या ब्राह्मण-स्त्रियों को दंड मिलने की घटनाएँ भी प्राचीन भारत में बहुत कम मिलेंगी। वेदाध्ययन के प्रतिबन्ध को समाज, जिसमें शूद्र भी शामिल थे, ईश्वरकृत समझता था और इसे तोड़ने में कोई आर्थिक लाभ भी न था, इसलिए स्त्री-शूद्र वेदाधिकार प्राप्त करने के लिए कुछ विशेष उत्सुक नहीं थे। अतः इस प्रतिबन्ध का उल्लंघन करने की किसी को जरूरत भी न थी। ब्राह्मणों में भी वेद पढ़ने वालों की संख्या बहुत थोड़ी थी, और शूद्र वर्ग के धार्मिक प्रवृत्ति वाले पुरुषों को पुराण, इतिहास, और गीता पढ़ने का अधिकार देकर उनकी ज्ञानैषणा और धर्मैषणा तृप्त करने की व्यवस्था की गई थी।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू समाज में अन्यायकारी कुरीतियाँ थीं और ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में इनकी संख्या में वृद्धि भी हुई। इसका कारण तत्कालीन हिंदू समाज की अनुदार और संकुचित वृत्ति थी न कि 'धर्म-संवर्धन' राज्य का उद्देश्य होना। कहा जा सकता था कि राज्य का ध्येय इस संकुचित वृत्ति को दूर करना और उदारनीति को लोकप्रिय बनाना था। परन्तु ध्यान रहे कि प्राचीन काल में व्यवस्थापन या कानून बनाना साधारणतः राज्य के कार्य-क्षेत्र में शामिल नहीं था। वर्तमान काल में शारदा ऐक्ट के उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाता है कि समाज के प्रचलित विचारों से बहुत आगे बढ़ा हुआ कानून भी सफल नहीं होता। फिर प्राचीन भारत के राज्यों पर जाति के नियमों को कार्यान्वित करने का भार न था; यह काम तो प्रायः बिरादरी या गाँव की पंचायत का था जिनमें राज्य को या राज्याधिकारियों को कुछ विशेष स्थान नहीं था। लोकमत के अनुसार ही वहाँ निर्णय किया जाता था। सदाचार और धार्मिकता को प्रोत्साहन देकर, सब मतों और धार्मिक संस्थाओं को समान सहायता देकर, सब जनों के हितार्थ तालाब, कुएँ, नहर, चिकित्सालय और अनाथालय बनवाकर राज्य धर्म-संवर्धन करता था। वह कभी मतविशेष या रूढ़िविशेष का पक्षपाती नहीं होता था, न पुरोहितों अथवा धर्म-प्रचारकों के हाथ की कठपुतली बनता था।

क्या प्राचीन भारतीय राज्य धर्मनिगडित था ?

अच्छा हो यदि हम अभी इस बात पर भी विचार करलें कि प्राचीन भारत के राज्य कहाँ तक धर्म-गुरुओं अथवा पुरोहितों के प्रभाव में थे, कहाँ तक ऐसे राज्यों को धर्मनिगडित (Theocratic) कहना ठीक होगा। धर्म-निगडित राज्य में धर्मगुरु ही राज्य का स्वामी होता है, जैसे इस्लामी इतिहास में खलीफा थे और आजकल भी वैटिकन राज्य में पोप हैं। धर्म-निगडित राज्य में राजा धर्मगुरुओं का आज्ञाबद्ध नौकर होता है. राजा संप्रदाय का अनुचर भी हो सकता है जैसा ८वीं और ९वीं शताब्दी में यूरोप के ईसाई राजा हुआ करते थे। इस काल में पोप और बिशप, धर्म के विरुद्ध जाने पर राजा को दण्ड तक देने का दावा रखते थे। चार्ल्स दि बोल्ड जैसे कुछ राजा धर्म-गुरुओं के केवल अधर्माचरण को ही नहीं वरन् सरकार के किसी भी काम को रोक सकने का अधिकार भी स्वीकार करते थे। पोप का आदेश सम्राट् के आदेशों से भी बढ़कर समझा जाता था क्योंकि उसका प्रभाव केवल शरीर पर ही नहीं वरन् आत्मा पर भी था। फिर भी अधिकांश रोमन सम्राट् पोप के इस दावे को मानने को तैयार न थे और मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास में सरकार और संप्रदाय के द्वंद्व के उदाहरण भरे पड़े हैं।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी राज्य और सम्प्रदाय के संघर्ष की हलकी-सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। गौतम धर्म-सूत्र (५०० ई० पू०) में कहा गया है कि राजा का शासन ब्राह्मण-वर्ग पर नहीं चल सकता[1] और ब्राह्मण वर्ग की सहायता के बिना राजा का अभ्युदय नहीं हो सकता। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि[2] यदि राजा योग्य ब्राह्मण पुरोहित की सहायता नहीं लेता तो देवता उसके हवन को स्वीकार नहीं करेंगे। राज्याभिषेक के समय राजा तीन बार ब्राह्मण को नमस्कार करता है और इस प्रकार उसका वशवर्ती होना स्वीकार करता है। जब तक वह ऐसा करता है तब तक ही उसकी समृद्धि होती है[3]। वैश्यों और क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों का वशवर्तित्व स्वीकार करवाने के लिए विशेष धार्मिक क्रियाओं का विधान किया गया[4]। ऋग्वेद में एक स्थल पर स्पष्ट वर्णन है कि जो राजा अपने

---

१ राजा वै सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। १.११

२ न वै अपुरोहितस्य देवा बलिमश्नुवंति। ऐ. ब्रा., ७५.२४.

३ स (नृपः) यन्नमो ब्रह्मणे इति त्रिस्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाह। ऐ. ब्रा., ८.१

४ तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं वीरवदाह। ऐ. ब्रा., ८.९
ब्रह्मणे क्षत्रं च विशं चानुगे करोति। पं. ब्रा., ११.११.१

पुरोहित का यथोचित सम्मान करता है वह अपने शत्रुओं पर जय और प्रजा की राजनिष्ठा प्राप्त करता है[1]। यूरोप में पोप का यह दावा था कि सामंतों द्वारा सम्राट् के चुनाव पर उसकी स्वीकृति होनी चाहिये। पता नहीं प्राचीन भारत में इस प्रकार का दावा किया गया या नहीं।

उपर्युक्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-काल के अंत तक (१००० ई० पू०) ब्राह्मण पुरोहित राजा पर और उसके द्वारा राज्य पर अपना प्रभाव जमाने की चेष्टा करते रहे। इसमें आश्चर्य नहीं कि बहुत से राजा इसके विरुद्ध रहे होंगे। ब्राह्मणों की गायें छीनने वाले राजा के लिए जो भयानक शाप उच्चरित किये गये हैं उनके लक्ष्य संभवतः ऐसे ही राजा रहे होंगे[2] जो धर्म-गुरुओं के राज्य पर अधिकार जमाने की चेष्टा का विरोध कर रहे थे। दुर्भाग्य-वश इस संघर्ष का कोई वैयक्तिक उदाहरण नहीं मिलता, जैसा मध्य यूरोप के इतिहास में मिलता है।

आगे चलकर सरकार और संप्रदाय, अथवा क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग में समझौता हो गया। वे समझ गये कि आपस के सहयोग में ही दोनों वर्गों का हित है। दोनों ने एक दूसरे की देवतांशता स्वीकार कर ली। यूरोप के इतिहास में भी इसी प्रकार पोप ग्रेगरी सप्तम ने मान लिया था कि पोप और सम्राट दोनों ईश्वरकृत हैं, उनमें वही संबंध है जो मनुष्य के दोनों नेत्रों में है।

ब्राह्मणकृत वाङ्मय में साधारणतः यही दिखाने का यत्न किया गया है कि राजा और राज्यतंत्र ब्राह्मण और धर्मतंत्र के ही वश में चलते थे। पुरोहित अपने अनुष्ठानों द्वारा राजा और राज्य का इष्ट या अनिष्ट कर सकता था। राज्य का लक्ष्य धर्म की रक्षा करना था, वह जो कानून व्यवहार में लाता था वे ईश्वरकृत या ईश्वरप्रेरित माने जाते थे। ब्राह्मण और पुरोहित अपने को सरकार से वरिष्ठ समझते थे और वे कर-दान और शारीरिक दंड से बरी होने का दावा भी करते थे। उनके लिए अन्य वर्गों से नरम दंडों का विधान था। प्रजा के धार्मिक क्षेत्र में नियंत्रण व पथप्रदर्शन करना सरकार का कर्तव्य समझा जाने लगा। फलस्वरूप मौर्य व गुप्त काल में धर्ममहामात्य व विनयस्थिति-स्थापक ऐसे अधिकारी शासन-संस्था में नियुक्त होने लगे।

---

१ स इद्राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थौ अभिवीर्येण।
तस्मिन्विशः स्वयमेवानमन्त यस्मिन्ब्रह्मा राजनि पूर्वमेति ॥

ऋ. वे., ४.५०.७.९

२ अ. वे., १२.५; १३.३.१-२५

उपर्युक्त कारणों से यह कहा जा सकता है कि कुछ हद तक प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र धर्मनिगडित था। परंतु हमें इस हद को समझ लेना चाहिये और देखना चाहिये कि यह अवस्था कितने समय तक रही। ब्राह्मणों के उपर्युक्त दावे में बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी थी। वस्तुस्थिति सर्वदा ऐसी नहीं थी जैसी पुराने ग्रंथों में मिश्रित है। इसमें संदेह नहीं कि वेद और ब्राह्मण युग में राजा पर पुरोहित का पर्याप्त प्रभाव था। परंतु हमें इसको भी नहीं भूलना चाहिए कि जैसे एक ओर ब्राह्मणग्रंथों में ऐसे स्थल हैं जिनसे ब्राह्मण-वर्ग के उच्च पद और विशेषाधिकार का बोध होता है तो वैसे ही दूसरी ओर ऐसे भी स्थिल हैं जिनसे स्थित कुछ बिलकुल विरुद्ध सी मालूम पड़ती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर मंजूर किया गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मणों को वही करना पड़ता है[१]। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि राजा जब चाहे ब्राह्मण को निकाल सकता है[२]। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि समाज में सबसे ऊँचा पद क्षत्रिय याने राजा का ही है, ब्राह्मण उसके नीचे बैठता है[३]। राजकुमारी शर्मिष्ठा पुरोहित-कन्या देवयानी को बड़प्पन जमाने पर इस प्रकार फटकारती है, "बहुत शान न जमाओ, तुम्हारे पिता मेरे पिता से नीचे बैठ कर रात-दिन उनकी खुशामद किया करते हैं। तुम्हारे पिता का काम माँगना है और विनती करना है, मेरे पिता का काम देना और विनती सुनना है।"

अतः यह समझना भी ठीक न होगा कि वैदिककाल में भी राज्य की बागडोर पूर्णतया या विशेष रूप में पुरोहित अथवा धर्मतंत्र के हाथ रही। पुरोहित का समाज में सम्मान किया जाता था और याजनादि द्वारा उससे जो दैवी सहायता मिलती थी उनके लिए समाज उसका कृतज्ञ रहता था। परंतु राजा उसके हाथ की कठपुतली कदापि नहीं था और उसके सिर चढ़ने पर उसका मिजाज ठिकाने कर सकता था और उसको निकाल भी सकता था। ब्राह्मण अवश्य ही बहुत से विशेषाधिकारों का दावा करते थे, जैसे कर और शारीरिक दंड से छुटकारा।

१ यदा वै राजा कामयते ब्राह्मणं जिजानाति। ३. ९. १४।

२ (ब्राह्मणः) आदायी आप्यायी अनसायी यथाकामं प्रयाप्यः। ७.२९।

३ तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते। १.४. १०।

४ आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम।
स्तौति बन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत्॥
याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतो प्रतिगृह्णतः॥ १. ७२, ९-१०।

पर अध्याय १२ वें में दिखाया जायगा कि इनका अस्तित्व प्रायः धर्मशास्त्रों में ही था प्रत्यक्ष व्यवहार में नहीं। कालक्रम में राजा का देवतांशत्व समाजसम्मत हो गया। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि उसे ईश्वर का एकमात्र प्रतिनिधि और सब दोषों से परे मान लिया गया। नियम-व्यवस्था अपनी प्राचीनता के कारण दैवी मानी जाती थी पर उसका आधार वास्तव में समाज की परिपाटी और प्रथाएँ ही थीं। उन्हें स्वीकार कर लेने से ही शासनसंस्था पुरोहित अथवा धर्मतंत्र की कठपुतली नहीं बन जाती थी। शासनसंस्था वास्तव में प्रधानतया समाज के मत का प्रतिबिंब थी।

ई० पूर्व ४थी शताब्दी से तो राज्य पर धर्मतंत्र का प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता गया। वैदिक कर्मों की प्रतिष्ठा कम हो गयी और उनका प्रचार भी कम हो गया, इससे पुरोहित का महत्व भी कम हो गया। राजनीति ने स्वतंत्र शास्त्र का रूप ग्रहण किया और वेद तथा उपनिषदों के अध्ययन के बजाय राजा इसका अधिकाधिक अध्ययन करने लगे। राजाज्ञा या विधि-नियम (कानून) धर्म और रूढ़ि-नियमों से स्वतंत्र माना जाने लगा और राज्यशास्त्रज्ञ उसका महत्व सर्वश्रेष्ठ मानने लगे[१]। इस प्रकार हिन्दू राज्यतंत्र ईसवी सन् के आरम्भ तक धर्मतंत्र के प्रभाव से करीब-करीब मुक्त हो गया। राजा धर्म का प्रतिपालक और संरक्षक अवश्य था पर इससे राज्य धर्मनिगडित नहीं बन गया। उसका काम सब मतों को बराबर समझना और सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना था। वह किसी विशिष्ठ मत का प्रचारक नहीं था न धर्मगुरुओं की कठपुतली बना था।

धार्मिक विचारधाराओं का शासनपद्धति पर प्रभाव

धार्मिक विचारधाराएँ और दर्शनविषयक सिद्धांतों का कहाँ तक शासन-विषयक सिद्धांतों पर असर पड़ा, यह अभी देखना है। धर्म ही संसार में सर्वोच्च शक्ति है, इस मत के प्रभाव से राजा को 'धृतव्रत' रहने के लिए आदेश मिला है। राज्याभिषेक के समय उसे धर्म-दण्ड से तीन बार ताड़ित करते थे, उसका भी यही कारण है। राजा के कर्तव्यों को 'राजधर्म' कहते थे व उनका ठीक पालन न करने के फलस्वरूप उसे परमेश्वर को जवाब देना पड़ता था और वह

---

१ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥ अर्थशास्त्र ३.१।

२ धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।
व्यवहारो हि बलवान्धर्मस्तेनावहीयते ॥ नारद, १. ४१।

उसे यथायोग्य दण्ड देता था। चूँकि परमेश्वर राजा को दण्ड प्रदान करता था, शायद इसलिए हमारे भारतीय विचारकों ने प्रजा को यह अधिकार स्पष्ट शब्दों में देना उचित नहीं समझा। प्रजा के जन्मसिद्ध हकों के विवेचन व जुल्मी राजाओं के खिलाफ विद्रोह करने के अधिकार की आवश्यकता के बारे में हमारे ग्रंथों में सविस्तर चर्चा क्यों नहीं आती है यह अभी स्पष्ट होगा।

कर्म के सिद्धांत का भी कुछ असर शासन-पद्धति पर हुआ है। एक समय था, जब हम यह संभव मानते थे कि कोई भी व्यक्ति अपने पुण्य या पाप को दूसरे को दे सकता है। इस मत से प्रभावित होकर राजकीय विचारकों ने यह माना है कि तपस्वी लोग कर के बजाय राजा को अपने तपस्या-फल का कुछ भाग देकर कर-मुक्त हो सकते हैं। राजा को अपने राज्य में होने वाले अपराध व पापों का फल भी भोगना पड़ता था। किंतु आगे चलकर हर एक व्यक्ति को अपने ही निजी पाप-पुण्यों की जिम्मेदारी लेनी पड़ती है यह मत सर्वमान्य हुआ और उसके असर से दुष्ट राजाओं व असत्य गवाह को यह बताया गया है कि उन्हें अपने पाप के लिए नरक में दीर्घ काल तक यातना भोगनी पड़ेगी। कर्म-विपाक के सिद्धान्त के कारण ही अशोक ने मृत्यु की सजा पाये हुए लोगों को तीन दिनों का जीवनदान किया था, आशा की गई थी कि इस अवधि में उनके रिश्तेदार उनके लिए दानधर्म व पुण्यकर्म करेंगे जिसके फलस्वरूप मृत्युदण्डित अपराधियों को परलोक में कुछ सुविधाएँ मिलेंगी।

चूँकि धर्म को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था, इसलिए यह अपेक्षा की जाती थी कि उत्कृष्ट राज्य में पापी, डाकू या व्यभिचारी न रहेंगे। धर्मयुद्ध का श्रेष्ठत्व क्यों माना गया था यह भी अभी पाठकों को 'विदित होगा। अर्थ व काम के साथ-साथ राज्य को धर्म व मोक्ष के ध्येय भी साध्य करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता था।

जहाँ-जहाँ सद्गुण व तेजस्विता विशेष रूप से निवास करती है, वहाँ परमेश्वर का अधिष्ठान है ऐसा सिद्धांत गीता के दसवें अध्याय में प्रतिपादित किया गया है और राजा को दैवी बताया है। उस कारण राजा का देवत्व धीरे-धीरे अधिकाधिक लोकमान्य हुआ। कोई विचारक उसको दैवी समझने लगे व कोई अष्ट लोकपालों का प्रतिनिधि।

जब अवतारों की कल्पना लोकप्रिय हुई, तब राजा को विष्णु का अवतार समझने लगे। भिटा मुहर का राजा गौतमीपुत्र अपने राज्य को विष्णु की देन समझता था। यौधेय-गण अपने को कार्तिकेय के विशेष. विश्वासभाजन मानते

थे, यद्यपि इसमें सन्देह है कि वे अपने को उस देवता के प्रतिनिधि मानते थे या नहीं।

समाज अप्रतिग्रह के तत्व को बहुत मानता था। जो श्रोत्रिय संपत्ति के प्रलोभन में न फँसकर दारिद्र्य को स्वयं स्वीकार करते थे व निःशुल्क शिक्षा दान करते थे, उनसे कर लेना राजकीय विचारक अत्यन्त अनुचित समझने लगे। राजा को स्वसुखनिरभिलाष रहने का जो उपदेश दिया गया है वह भी एक दृष्टि से अप्रतिग्रह के तत्त्व का ही परिणाम है।

हर एक मनुष्य परमेश्वर का एक अंश या प्रतिबिम्ब है या उससे अभिन्न है इस सिद्धांत का असर राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक जीवन पर विशेष नहीं पड़ा। वर्णव्यवस्था के तत्त्वों के सामने यह सिद्धांत निष्प्रभ या निर्बल सिद्ध हुआ। शूद्र, चांडाल इत्यादि को भक्ति के द्वारा मोक्षप्राप्ति का अधिकार ब्राह्मणों के समान था, किन्तु उनको जातिभेद द्वारा निर्दिष्ट नीच किस्म का कर्म करना ही पड़ता था। उनके सम्पत्ति के अधिकार सीमित थे व उनको अदालतों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। बौद्ध धर्म भी अपर वर्गों के सामाजिक अन्यायों के बारे में कुछ न कर पाया। केवल उसने विहार या संघ के द्वार सर्व लोगों के लिए खुले रखे थे, जैसे हिन्दुओं ने मोक्ष के द्वार सबके लिए खुले रखे थे। शाक्य, कोलिय, लिच्छवि इत्यादि गणतन्त्र बौद्ध धर्म के उपासक थे, किन्तु उनमें जातिजन्य उच्चनीचता कड़े रूप में थी।

अन्त में यह मानना पड़ेगा कि धार्मिक विचारधाराओं से प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति विशेष प्रभावित नहीं हुई—न मौलिक विचारों में, न राजनीतिक आचारों में।

राज्य के कार्य

राज्य या शासनसंस्था का स्वरूप और उद्देश्यों के निरूपण के बाद अब हमें उसके कार्य्यों पर विचार करना है।

अर्वाचीन लेखक राज्य के कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं—आवश्यक और ऐच्छिक या लोकहितकारी। पहली श्रेणी में वे सभी कार्य्य आते हैं जो समाज के संघठन के लिए नितांत आवश्यक हैं—बाहरी शत्रु के आक्रमण से रक्षा, प्रजा के जान-माल का संरक्षण, शांति, सुव्यवस्था और न्याय का प्रबंध। दूसरी श्रेणी में लोकहित के विविध कार्यों का अंतर्भाव होता है—जैसे शिक्षा-दान, स्वास्थ्य-रक्षा, व्यवसाय, डाक और यातायात का प्रबन्ध, जंगल और खानों का विकास, दीन-अनाथों की देख-रेख आदि। प्रचलित युग में इन लोकहित-कारी कार्य्यों के क्षेत्र का दिनोदिन विस्तार ही होता जा रहा है।

प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राज्य केवल आवश्यक कार्यों से ही मतलब रखते थे। वैदिककाल में राज्य बाहरी शत्रु का प्रतिकार और आंतरिक व्यवस्था और समाज-परम्परा की रक्षा करता था। देवलोक के राजा वरुण की भाँति इहलोक का राजा धर्मपति था,[1] वह धर्म और नीति का रक्षक था और प्रजा को धर्म-पक्ष पर चलाने में प्रयत्नशील था। मगर वह न्याय-दान नहीं करता था। दीवानी और फौजदारी मामलों का निर्णय पंचायतें ही करती थीं। संभवतः कभी-कभी उनका अध्यक्ष कोई राज्याधिकारी होता था।

चौथी शताब्दी ई० पू० में राज्यशास्त्र के ग्रंथों की रचना होने लगी और राज्य के कार्यों के विषय में इनसे पर्याप्त जानकारी मिलती है। महाभारत[2] और अर्थशास्त्र[3] से पता चलता है कि वैदिककाल और मौर्ययुग के बीच में राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चुका था। परन्तु पर्याप्त सामग्री न मिलने से हम इस विकास का क्रम नहीं जान सकते।

अर्थशास्त्र और महाभारत के अनुसार राज्य के कार्य-क्षेत्र में, मनुष्य-जीवन के धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक सब क्रिया-कलाप आ जाते हैं। यूरोपीय विचारकों की भाँति भारतीय राज्यशास्त्रज्ञ राज्य को 'अनिवार्य अरिष्ट' नहीं समझते थे और न उसके कार्यों को नागरिकजीवन में अनुचित हस्तक्षेप मानकर उसमें कमी करने की कोशिश करते थे। 'अहस्तक्षेप' (Laissez fare लेजे फेयर) का सिद्धान्त, जिसके अनुसार राज्य के केवल वही कार्य उचित समझे जाते हैं जो शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए अनिवार्य हों, भारत में नहीं माना जाता था। यहाँ तो राज्य के कार्य-क्षेत्र में मनुष्य के इहलोक और परलोक सब आ जाते थे। राज्य का कर्तव्य था कि सभी धार्मिक मतों को अपने-अपने पथ पर चलने की पूरी सुविधा दे, सत्य धर्म तथा सदाचार को पूरा प्रश्रय दे, समाज को उन्नति-पथ पर ले चले, विद्वानों और कलाकारों को मदद दे तथा शिक्षा-संस्थाओं की सहायता द्वारा ज्ञान-विज्ञान और कला का संवर्धन करे, धर्म-शाला, चिकित्सालय, पौसरे आदि बनवाए, बाढ़, टिड्डीदल, अकाल, भूकंप, महामारी आदि आधि-व्याधिजन्य दुःखों को दूर करे। उसका काम नयी बस्तियाँ बसाना और देश के विभिन्न भागों में जनसंख्या का यथोचित नियोजन करना भी था। देश की प्राकृतिक संपत्ति और साधनों के विकास के लिए जंगलों और खानों का विकास करना और वर्षा की कमी पूरी करने के लिए नहरें और बाँध

१ श. प. ब्रा., ५.३.३.६ और ९.

२ सभापर्व, अ. ५। ३. भाग।

बनवाना भी उसका काम था। राज्य का कर्तव्य उद्योग-व्यवसाय को उत्तेजना देना भी था, साथ ही व्यापारियों की अवास्तव अनुचित लाभलिप्सा से जनता की रक्षा भी करना था। समाज में अनीति न फैलने देने के लिए आपान (मदिरालय), द्यूत-गृहों और गणिकाओं की देखरेख के लिए भी राज्य की ओर से अधिकारी नियुक्त किये जाते थे।

मौर्य और गुप्त राज्य जैसे सुसंगठित राज्य प्रायः उपरिनिर्दिष्ट सब कार्य करते भी थे। पर सम्भव है कि छोटे राज्य खासकर संकटकाल में ये सब कर्तव्य करने में असमर्थ रहे हों।

अस्तु, प्राचीन भारत में राज्य के कार्यक्षेत्र में मनुष्य-जीवन के सब पहलू आ जाते थे। प्रश्न यह है कि क्या इससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मारी नहीं जाती थी। राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक क्या इसलिये हो सका कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना का उस समय तक समुचित विकास नहीं हो पाया था[1] अथवा इसलिए कि जनता राज्य को सर्व-व्यापक और सर्वगुणसपन्न मानने को तैयार थी।

प्राचीन भारत में राज्य समाज का धुरा और उसके कल्याण का मुख्य साधन समझा जाता था, इसीलिए उसका कार्यक्षेत्र इतना व्यापक था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता को इससे कुछ विशेष खतरा न था क्योंकि ये सब कार्य केवल राज्य के कर्मचारियों के ही द्वारा नहीं संपादित किये जाते थे। आपण (बाजार) व्यापार और धर्म के उच्चाधिकारी राज-कर्मचारी अवश्य थे पर वे श्रेणी और निगमों, विविध व्यवसाय-संघ तथा ब्राह्मणों और श्रमणों के संघ के सहयोग से ही काम करते थे। इन संस्थाओं में जनमत ही प्रधान रहता था, और ये तत्कालीन राज्यों या राजघरानों से भी अधिक स्थायी थीं और इसीलिए इनकी बड़ी प्रतिष्ठा और धाक थी। राज-कर्मचारी इन संस्थाओं से पूरा परामर्श करके समाज के विविध घटक और श्रेणियों का संघर्ष मिटाकर उनका सहकार्य बढ़ाने की ही कोशिश करते थे। राज्य से पाठ-शालाओं और महाविद्यालयों को प्रचुर सहायता मिलती थी; पर आजकल की भाँति शिक्षा विभाग के अध्यक्ष और उनके अनुचरों द्वारा शिक्षा-प्रणाली के नियन्त्रण की कोशिश न की जाती थी। हिन्दूमन्दिरों और बौद्धमठों को राज्य से प्रभूत दान मिलता था पर उन्हें कभी राज्य द्वारा स्वीकृत मत का ही प्रचार करने को बाध्य नहीं किया जाता था। विकेंद्रीकरण अथवा स्थानीय स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर बहुत अधिक अमल किया जाता था और ग्रामपंचायतों तथा पौरसभाओं और श्रेणी निगमों को विस्तृत अधिकार दिये गये थे। राज्य की लोकहितात्मक कार्रवाई इन

---

१ यह प्रो० अंजरिया का मत है।

लोकप्रिय संस्थाओं के सक्रिय सहयोग से ही होती थी। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर रोक भी न लगने पाती थी। प्राचीन भारतीयों ने राज्य को व्यापक अधिकार इस-लिए नहीं दिये थे कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का महत्व न जानते थे वरन् इसलिए कि वे जानते थे कि राज्य ही विविध हितों का समन्वय तथा विभिन्न परस्पर विरोधी स्वार्थों का सामंजस्य करके समाज का सबसे अच्छा सम्मान कर सकता है, खास करके जब राजकर्मचारी जन-संस्थाओं के पूरे सहयोग से काम करें।

सर्वोच्च शासनसत्ता का अधिष्ठान

प्राचीन शासन-पद्धति में सर्वोच्च शासनसत्ता कहाँ केन्द्रित रहती थी इस प्रश्न पर अब विचार करना है। आजकल जिसे हम सर्वोच्च शासनसत्ता (Sovereignty) कहते हैं उसकी ठीक कल्पना प्राचीन काल में न थी। अर्थशास्त्र में इस विषय में स्वामित्व शब्द का प्रयोग आता है, लेकिन उसका संबंध राजा के वैयक्तिक अधिकारों से था, न कि शासनसत्ता से। वैदिकयुग में अंतिम शासनाधिकार राजा व समिति में रहते थे, इसलिए शासनाधिकारों के वे अंतिम अधिष्ठान माने जा सकते हैं। गणतंत्रों में अंतिम अधिकार केंद्रीय समिति (Executive Council) में केंद्रित थे, इसलिए उसको शासन का सर्वोच्च अधिष्ठान कहना उचित है। जब समितियों व गणतंत्रों का अस्त हुआ तब राजा सर्वसत्ताधिकारी बन गया। गणतंत्रों के अंत के समय उनके अधिनायकों (Presidents) का पद अनुवंशिक हो गया, वे महाराजादि पदों से संबोधित होने लगे व शासनाधिकारों के केंद्र बने। गणतंत्रों के अस्त के पश्चात् राजा ही सर्वोच्च शासनाधिकारों का अधिष्ठान बना।

सिद्धांत की दृष्टि से यह माना गया था कि धर्म राजा से परे है, वह उसका अनादर नहीं कर सकता[1]। वह उसके अधीन है। अतः धर्म को हम एक दृष्टि से शासनसत्ता का सर्वोच्च अधिष्ठान मान सकते हैं। किंतु हमारे विचारकों ने धर्म को ठुकराने वाले 'राजा का प्रतिवाद या नियंत्रण कैसे करना चाहिए, इसका कुछ दिग्दर्शन नहीं किया है, इसलिये धर्म को शासनसत्ता का अंतिम अधिष्ठान समझना उचित नहीं होगा। कुछ विचारकों ने यह भी कहा है कि यदि राजा धर्म के अनुसार बर्ताव न करेगा, तब भी उसे दण्ड नहीं मिलना चाहिए, चूँकि

1 तद्श्रेयोरूपमत्यसृजत् धर्मम्। तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। श. प. ब्रा. १.४.१४

वह दण्ड से परे है[1]। उसके धर्मभंग के लिए उसे केवल परमेश्वर ही स्वर्ग में दण्ड दे सकता है। मनु ने कहा है कि मामूली मनुष्य को जिस अपराध के लिए एक पण दण्ड होता है वहाँ राजा को एक हजार पण दण्ड होना चाहिये (८.३३६)। मगर यह दण्ड कौन देगा, इसके बारे में मनु कुछ नहीं कहता। मनु का टीकाकार कहता है कि राजा स्वयं ही अपने को दंडित करे व जुर्म की रकम ब्राह्मणों को दे या पानी में फेंक दे, चूँकि वहाँ दंडकर्ता वरुण रहता है[2]। मनु प्रणीत यह उपाय कल्पना-सृष्टि का खेल है; उसको वास्तविक सृष्टि में कार्यान्वित करना कठिन है यह कहने की जरूरत नहीं। यह बात सत्य है कि यदि राजा का जुल्म असह्य हो, तो उसके खिलाफ बगावत करने की या उसे मार डालने की अस्पष्ट सूचना कहीं-कहीं मिलती है। किंतु प्रत्यक्ष व्यवहार में उसको कार्यान्वित करना कठिन था। वैसे तो ग्रामसभाएँ अपने क्षेत्रों में प्रायः सर्वाधिकारसंपन्न थीं व जुल्मी करों के देने में ग्रामवासियों की ओर से इन्कार भी करती थीं। अदालतें भी धर्मशास्त्रों के नियमों के अनुसार या जातिधर्म, श्रेणीधर्म या जनपद-धर्मों के अनुसार न्यायदान करती थीं, न कि राजा के आदेशानुसार। किंतु राज-तरंगिणी से ज्ञात होता है कि सर्वसत्ताधारी दुष्ट राजा इन दोनों के अधिकार छीन कर अपने मनमाने शासन को चला सकता था। ई० स० ४०० से आगे सर्वोच्च शासनाधिकार राजा के हाथों में केंद्रित रहते थे; कोई भी उससे जवाब तलब नहीं कर सकता था; वह किसी प्रकार के वैधानिक नियमों (Constitutional checks) से नियंत्रित नहीं था। किंतु यहाँ यह भी कहना उचित है कि वैधानिक-नियम-बद्ध राजा यूरोप में भी सत्रहवीं सदी तक अस्तित्व में नहीं था।

प्रभुसत्ता के अधिकारों का विभाजन

शांति व सुव्यवस्था रखना, कानून बनाना और अदालती व्यवस्था करना ये तीन प्रभुसत्ता के प्रायः प्रधान कार्य होते हैं। सिद्धान्तः ये तीनों अधिकार आज-कल राष्ट्राधिपति के हाथों में रहते हैं; वैसी ही स्थिति प्राचीन काल में भी थी। राजा को ही तत्त्वतः सैन्य का मुख्याधिपति, अधिकारियों का प्रमुख, सर्वोच्च न्यायाधीश व प्रधान विधानकर्ता माना जाता था। किंतु प्रत्यक्ष व्यवहार में मौर्यकाल तक

१ अथैनं पृष्ठतः तूष्णीमेव दंडैर्घ्नन्ति। तं दण्डैर्घ्नंतो धर्मवधमतिनयंति। तस्माद्राजाऽदण्ड्यो यदेनं दण्डवधमतिनयंति। श. प. ब्रा. ५.४.७.

२ स्वार्थंदण्डं तु अप्सु प्रवेशये ब्राह्मणेभ्यो वा दद्यात्। ईशो दण्डस्य वरुण इति वक्ष्यमाणत्वात् ८.३३६. ५२ मेधातिथि।

ऐसी स्थिति स्थापित नहीं हो पायी थी। वैदिक काल में राजा के हाथ में सर्वोच्च न्यायाधीश के अधिकार नहीं थे। शासन-व्यवस्था करने में भी समिति आवश्यकतानुसार राजा को रोक सकती थी। वेदोत्तरकाल में समिति का आरम्भ हुआ व उसके फलस्वरूप राजा की सत्ता बढ़ने लगी। बहुत सदियों तक विधान या कानूनों को बनाना प्राचीन हिन्दुस्थान में सरकार का कर्तव्य नहीं था। कुछ विधि-नियम धार्मिक स्वरूप के थे, जिनको ईश्वरप्रणीत समझते थे और कुछ व्यावहारिक स्वरूप के (secular) थे, जिनको शिष्टाचारप्रणीत मानते थे। बहुत सदियों तक प्राचीन भारत में सरकार जो विधान या कानून कार्यान्वित करती थी, उनको किसी सरकारी विधान-सभा द्वारा पारित (passed) करने की जरूरत नहीं थी। कर-व्यवस्था भी परंपराधिष्ठित नियमों पर अवलंबित थी, जो धर्मशास्त्रों में एकत्रित किये गये थे। किंतु प्रत्यक्ष कर-निर्धारण करने में सरकार को काफी अधिकार थे। उदाहरणार्थ जमीन महसूल की दर प्रतिशत १२ से ३३ तक स्मृतियों में दी गयी है; १५ प्रतिशत लिया जाय या ३० प्रतिशत यह सरकार की मर्जी पर अवलंबित रहता था। गुप्तोत्तर युग में कानून बनाने के अधिकार भी राजा के हाथों में आने लगे। शुक्रनीति ने राजा को यह अधिकार दिया है। धीरे-धीरे समिति या पार्लमेंट के अभाव के कारण वेदोत्तरकाल में सुव्यवस्था रखने, न्यायदान करने व विधान या कानून बनाने के अधिकार मुख्यतः राजा के हाथों में व अंशतः मंत्रिमंडल के हाथों में एकत्रित हुए। गुप्तोत्तरयुग में ग्राम-संस्थायें, जो प्रायः गैरसरकारी थीं—जुल्मी राजा की शासनविषयक, न्याय-विषयक व करविषयक आज्ञाओं का विरोध कर सकती थीं। किंतु उनका पूरे राज्य-यंत्र पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता था। पूरा राज्य-यंत्र राजा के हाथों की कठपुतली होने लगा।

अध्याय ४
राज्य और नागरिक

राज्य और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध महत्व का विषय है। परन्तु प्राचीनकाल में अरिस्टॉटल जैसे इनेगिने पाश्चात्य विचारकों ने इस पर विचार किया है। गत दो शताब्दियों में लोकतन्त्र के विकास से इसका महत्व बढ़ गया है और आधुनिक लेखक इस पर बहुत ध्यान देते हैं कि सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में राज्य और प्रजा के परस्पर क्या अधिकार और कर्तव्य हैं, इनमें कोई विरोध है या नहीं और है तो उसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाय।

प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों ने शायद ही इस समस्या पर ध्यान दिया हो। राजनीति-शास्त्र के आधुनिक ग्रंथों में राज्य और प्रजा के परस्पर सम्बन्ध की चर्चा जब होती है तब उसमें दोनों के अधिकारों की ही सीमा निर्धारण करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु प्राचीन भारतीयों ने इस विषय को इस दृष्टि से देखा ही नहीं। वे प्रजा के अधिकारों के स्थान पर राज्य के कर्तव्यों का ही वर्णन करते हैं। इसी से प्रजा के अधिकारों का अनुमान किया जा सकता है। इसी प्रकार वे प्रजा के कर्तव्यों का निरूपण करते हैं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य का प्रजा पर क्या अधिकार था। दोनों पक्षों के अधिकारों की दृष्टि से हमारे प्राचीन ग्रंथों में इस समस्या पर सुव्यवस्थित विचार नहीं किया गया, हमें उन अधिकारों का अनुमान ही परस्पर कर्तव्यों से करना पड़ेगा। अपरंच प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय लेखक इस समस्या पर विशुद्ध लौकिक और वैधानिक दृष्टि से विचार करते हैं। वे प्रजा के नागरिक और राजनीतिक जीवन को उसके धार्मिक और नैतिक जीवन से अलग कर देते हैं, और अक्सर राज्य को उसके खिलाफ मान कर उसके विरोध में उसके अधिकारों का निरूपण करते हैं। इसके विपरीत प्राचीन भारतीय ग्रंथकार प्रजा के राजनीतिक कर्तव्य को उसके साधारण कर्तव्य (धर्म) का अंग मानते हैं। वे राज्य और प्रजा में कोई विरोध नहीं स्वीकार करते इसलिए दोनों के अधिकार और कर्तव्य की स्पष्ट सीमा निर्धारित करने की जरूरत नहीं समझते। राज्य का एकमात्र लक्ष्य ही प्रजा का इहलोक और परलोक में सब प्रकार से अभ्युदय साधना है। राज्य न हो तो मात्स्य-न्याय फैल जाय, अतः व्यक्ति के सुख और अभ्युदय के लिए राज्य का होना जरूरी है और यही राज्य का मुख्य उद्देश्य

है। हमारे प्राचीन विचारकों ने इस पर अधिक नहीं सोचा कि यदि राजा और प्रजा अपने-अपने कर्तव्यों का पालन न करे तो क्या करना चाहिए। उन्हें भरोसा था कि दोनों पक्ष अपने-अपने धर्म व कर्तव्यों का पालन करेंगे।

एथेन्स, स्पार्टा, रोम इत्यादि प्राचीन यूरोपीय राज्यों में सब प्रजा एक ही आँख से नहीं देखी जाती थी। जिन लोगों को शासन में सक्रिय सहयोग देने और राज्य के नियम-विधान आदि बनाने का अधिकार था, वे ही नागरिकपद के अधिकारी होते थे। मगर वे संख्या में बहुत कम रहते थे, बहुसंख्यक प्रजा को नागरिक और राजनीतिक अधिकार नहीं थे, उसका दर्जा करीब-करीब दासों के बराबर था। परदेशियों का एक वर्ग ही अलग था। उन पर हीनतादर्शक प्रतिबन्ध तो न थे, परन्तु वे देश के राज्यशासन और वैधानिक जीवन में भाग लेने के अधिकारी न थे।

प्राचीन भारत के विधान-शास्त्रज्ञों ने देश के निवासियों में विशेषाधिकारी और सामान्य नागरिक ऐसा भेदभाव नहीं किया है। हमें वैदिककाल के राजनीतिक जीवन के बारे में विशेष कुछ ज्ञान नहीं है। उस काल में 'समिति' जैसी जन-संस्थाएँ राजा के अधिकारों और कार्य-व्यवसाय पर बहुत अंकुश रखती थीं, जैसा कि आगे सातवें अध्याय में दिखाया जायगा। बहुत सम्भव है कि सब लोगों को समिति के सदस्य चुनने का अधिकार न रहा हो। यह अधिकार थोड़े ही लोगों को रहा हो, और प्राचीन यूनान के पूर्णाधिकारी नागरिक या आजकल के सरदार या जमीनदारों की उच्चश्रेणी के समान इनका भी एक वर्ग रहा हो। प्राचीन गणतन्त्रों में भी एक विशेषाधिकार भाजन उच्चवर्ग रहता था जिसके हाथ में राजनीतिक सत्ता रहती थी। पर पर्याप्त सामग्री के अभाव से न तो हम इस वर्ग के विशेषाधिकारों को बता सकते हैं और न उसके राज्य तथा साधारण जनता के सम्बन्ध के बारे में कुछ विवरण दे सकते हैं।

परन्तु जब हम ५०० ई० पू० के लगभग ऐतिहासिक युग पर दृष्टिपात करते हैं तो 'समितियों' को गायब पाते हैं। अतः हमारे विधान-शास्त्रियों ने प्रजा में समिति-निर्वाचक नागरिक और शेष अनागरिक भेद नहीं किया है। इस युग में ग्राम, जिला और नगर पंचायतों का खूब विकास हो चुका था; और उनके सदस्यों का भी उल्लेख बारम्बार मिलता है। इनमें जनता की ही बात चलती थी। किन्तु इन संस्थाओं के सदस्यों का आजकल की भाँति जनता के मतों द्वारा चुनाव नहीं होता था, वरन् अनुभवी प्रतिष्ठित और वयोवृद्ध व्यक्ति मूक सर्वसम्मति से सदस्य बनाये जाते थे। दक्षिण भारत में ग्राम-पंचायत के सदस्यों का 'चुनाव' सच्चरित्र विद्वान और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से ही चिट्ठी उठाकर होता था। पञ्चायत के अतिरिक्त

गाँववालों की साधारण सभा भी होती थी जिसे स्मृतियों में 'यूग' कहा गया है। इसमें गाँव के सभी प्रतिष्ठित लोग रहते थे जिनको महत्तर, महाजन, या 'पेरुमाल' कहते थे। यह पूर्णतया लोकतन्त्रात्मक संस्था होती थी[1] और इसमें सभी जातियों और वृत्तियों का, अन्त्यजों तक का भी, समावेश होता था। अतएव स्थानीय शासन के क्षेत्र में भी प्रजा के अधिकारों में कोई अन्तर न रहने के कारण हमारे विधान-शास्त्रियों ने प्रजा का विशेषाधिकारी-वर्ग और सामान्य-वर्ग जैसा भेदमूलक वर्गीकरण नहीं किया है।

राज्य के नागरिकों और परदेशियों में भेदभाव प्राचीनकाल में सर्वत्र किया जाता था और आजकल तो बहुत किया जाता है, परन्तु हिंदू ग्रंथकारों ने यह भेद भी नहीं किया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस महादेश के विभिन्न भागों में एक व्यापक सांस्कृतिक एकता वर्तमान थी, इसीलिए एक प्रांत का निवासी दूसरे प्रांत के निवासी को—जैसे लाट (गुजराती) गौड़ (बंगाली) को, अथवा कर्णाटकी कश्मीरी को—परदेशी नहीं समझता था। प्रांतीय विभिन्नताओं का विकास धीरे-धीरे हो रहा था, पर वे इतनी प्रबल न हो पाई थीं कि देश के विभिन्न भागों में स्थापित स्वतन्त्र राज्य पड़ोसी राज्य के निवासियों को परदेशी मान कर उन पर रोकटोक लगाते। गुजरात के राजा महाराष्ट्र के ब्राह्मणों को दान देते थे, कश्मीरी पंडित कर्णाटक में राज-कवि बन सकते थे, और दक्षिणात्य सैनिक उत्तर हिन्दुस्थान के राजाओं की सेना में भर्ती होते थे। यह सब इसीलिए संभव था कि राजनीतिक दृष्टि से अनेक स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित होने पर भी देश में सांस्कृतिक एकता की भावना थी।

परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि विदेशियों पर भी इस प्रकार के प्रतिबंध न थे। अशोक के राज्य में एक यवन काठियावाड़-ऐसे एक प्रमुख सीमांत प्रदेश का शासक था, शक नरेश रुद्रदामा (१७० ई०) के राज्य में सुविशाख एक पह्लव भी एक प्रांत का शासक था और यशोवर्मा (७२५ ई०) के राज्य में एक हूण शासन के उच्चपद पर था। पश्चिम भारत में राष्ट्रकूट राजाओं ने मुसलमानों को अपने राज्य में बसने और अपने कानूनों के व्यवहार के लिए अपने ही में से अधिकारी चुनने का अधिकार दिया था।

विदेशियों को अलग वर्ग में न रखने का कारण हिंदू धर्म की उदार प्रवृत्ति और अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता के प्रभाव से विदेशियों को अपने समाज में

---

1. आगे ११वाँ अध्याय देखो।

मिला लेने का विश्वास था। बाहर से आक्रमणकारी रूप में आनेवाले यवन, शक, कुषाण और हूण सब हिंदू-समाज में घुलमिल गये, इसी से हमारे विधान-शास्त्रियों ने देशी-विदेशी का भेद न किया।

विधान-व्यवस्था बनानेवालों व्यवस्थापकों को चुनना नागरिकों का एक प्रमुख अधिकार समझा जाता है। यह धारणा प्राचीन भारत में संभव न थी, क्योंकि धार्मिक विधिनियम दैवी माने जाते थे और लौकिक कानून व्यवहार और प्रथा से निर्धारित थे। आज-कल की भाँति व्यवस्थापक-सभाओं या राजशासन द्वारा विधि-नियम बनाने की परिपाटी उस समय न थी।

आधुनिककाल में यह जरूरी कर्तव्य समझा जाता है कि देश में सब नागरिकों को उन्नति का समान अवसर मिले पर अधिकतर यह समानता सिद्धांत में ही रहती है व्यवहार में यह सर्वत्र नहीं दिखाई देती है। आलोचकों का कहना है कि प्राचीन भारत में राज्य अपना यह प्रथम कर्तव्य करने में भी असमर्थ था क्योंकि जाति-प्रथा में हरेक व्यक्ति अपने आनुवंशिक जन्मसिद्ध पेशे में ही बँधा था इसलिए समान अवसर का अभाव था।

यह आलोचना अंशतः ही ठीक हो सकती है। जाति के अनुसार वृत्ति का निर्धारण राज्य नहीं करता था वरन् वह सामाजिक व्यवहार और प्रथाओं द्वारा होता था। १०० ई० पू० तक वृत्ति के चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता थी, राज्य भी इस काल में विशेष जाति को विशेष वृत्ति ग्रहण करने को बाध्य नहीं करता था। क्षत्रिय और वैश्य भी वेद का अध्यापन करने को स्वतन्त्र थे। आगे चलकर वृत्ति या पेशे आनुवंशिक हो गये और स्मृतियाँ इस बात पर जोर देने लगीं कि हरेक जाति अपने लिए निर्धारित वृत्ति ही ग्रहण करे। स्मृतियों की इस नई व्यवस्था का आधार भी उस समय की वस्तुस्थिति ही थी अतः यदि नागरिकों को उन्नति का समान अवसर नहीं था या उनको अपनी वृत्ति निर्धारित करने में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी तो इसका दोष राज्य पर नहीं तत्कालीन समाज पर था। यह कहा जा सकता है कि राज्य को इन प्रतिबन्धों को दूर करने और समाज को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये था, पर उस युग में यह असम्भव-सा था क्योंकि उस जमाने में ये प्रथायें दैवी या ऋषि-प्रणीत मानी जाती थीं। फिर भी शिला-लेखादि से पता चलता है कि बहुत से लोग अपनी स्मृतिनिर्धारित वृत्ति से विभिन्न वृत्ति भी ग्रहण करते थे; यह तारीफ की बात है कि राज्य इसमें रोक-टोक नहीं करता था। जहाँ तक मालूम होता है केवल पुरोहिती-वृत्ति के सम्बन्ध में ही प्रतिबन्ध लागू होते थे। उपनिषदोत्तरकाल में कोई भी अब्राह्मण

पुरोहिती या वेदाध्ययन न कर सकता था, संभव है कि कभी-कदापि राज्य द्वारा इसके उल्लंघनकर्ता को दण्ड भी दिया गया हो। पर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि पुरोहित बनने या वेद पढ़ाने का अधिकार वास्तव में भिक्षा माँगने के अधिकार से अधिक न था। पुरोहित या धर्मगुरु की समाज में भले ही अधिक प्रतिष्ठा रही हो पर उसकी आमदनी बहुत ही थोड़ी थी। समाज में यह भावना भी थी कि ब्राह्मण के लिए इन वृत्तियों का निर्धारण ईश्वरकृत है और इसका उल्लंघन करने-वाला नरक में जरूर जाता है। अतः यदि राज्य ने इस परिपाटी का समर्थन किया तो वही किया जिसे ९९ प्रतिशत अब्राह्मण स्वयं स्वीकार करते थे।

आधुनिक सिद्धांतों के अनुसार राज्य का प्रत्येक नागरिक विधि-नियमों की दृष्टि में समान होना चाहिये। यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारत में यह स्थिति न थी। एक ही अपराध के लिए अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण के लिए हलके दण्ड का विधान था। स्मृतियों में अवश्य कहा है कि शूद्र जो अपराध करे यदि ब्राह्मण वही करे तो उसका पाप अधिक है और परलोक में उसे दण्ड भी अधिक भोगना पड़ेगा, पर तारीफ तो तब थी यदि इहलोक में भी ब्राह्मण के लिए स्मृतियों में अधिक कठोर दंड का विधान किया जाता। पर स्मृतियों से यह आशा करना ठीक भी नहीं है। कानूनन समानता होते हुए भी दुनिया भर में, हाल तक ऊँचे पद के व्यक्ति को हलके ही दंड मिलते थे। प्राचीन रोम और यूनान में दास की हत्या करने पर नाममात्र का ही दंड होता था। एंग्लो-सैक्सन युग में भी स्वतंत्र नागरिक या सरदार (नाइट) की हत्या पर जो हरजाना देना पड़ता था, उससे बहुत कम दास या काश्तकार की हत्या पर किया जाता था। १८वीं शताब्दी तक फ्रांस में भी कानून में ऊँच-नीच का बहुत भेद-भाव था। अतः प्राचीन भारत के कानून में सबके साथ पूर्ण समता की आशा करना ज्यादती है। फिर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्मृतियों ने ब्राह्मण के गौरव को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है, व्यवहार में ब्राह्मण शारीरिक दंड से बरी न थे, जैसा स्मृतियों में कहा गया है। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि राजद्रोह के अपराधी ब्राह्मण को शिरच्छेद के बजाय जल में डुबाकर प्राणदंड दिया जाता था। अस्तु, दण्ड देने के तरीके में भेद रहने पर भी दण्ड में कोई भेद न था।

राज्य प्रजा के जानमाल की रक्षा और सर्वाङ्गीण अभ्युदय की व्यवस्था करता है, अतः वह प्रजा से आशा भी रखता है कि वह उसके नियमों और शासनों का पालन करके उसके साथ पूरा सहयोग करे। प्राचीन भारतीय विचारकों ने

भी प्रजा के इस कर्तव्य पर बहुत जोर दिया है। आधुनिक काल में भी प्रजा से युद्ध पड़ने पर राज्य के लिए लड़ने और प्राण तक दे देने की आशा की जाती है। जाति-प्रथा के उदय के कारण प्राचीन भारत में वेदोत्तरकाल में सब नागरिकों से इसकी अपेक्षा न की जाती थी। राज्य की रक्षा के लिए युद्ध करना क्षत्रिय का ही कर्तव्य था और समरभूमि से पराङ्‌मुख होना उसके लिए सबसे बड़ा कलंक का विषय था। अन्य जातियों का काम युद्ध करने के बजाय अपने उद्योग, व्यवसाय और श्रम द्वारा युद्ध के साधन निर्माण करना और जुटाना था। उस युग में अनिवार्य सैन्य भर्ती से कार्य-विभाजन ही श्रेष्ठ समझा जाता था।

परन्तु ग्राम-संस्था के प्रति ग्राम निवासियों की गहरी निष्ठा थी और ग्राम तथा गोधन की रक्षा में ग्राम के सब जातियों और श्रेणियों के कट मरने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। महाराष्ट्र, कर्नाटक और दक्षिण भारत में पाये जाने वाले 'वीरगल'[1] इस बात के प्रमाण हैं कि संकट पड़ने पर सब जातियों के लोग और अक्सर स्त्रियाँ भी ग्राम के बचाव के लिए मर मिटने से न डरते थे[2]।

हमारे विधानशास्त्री नृपतंत्र को आदर्श मानते हैं, अतः वे सैनिक और नागरिक को देश के बजाय नरेश के लिए ही प्राण देने का उपदेश करते हैं। पश्चिम में भी राष्ट्रीय राज्यों के उदय के पूर्व यही दशा थी।

विशुद्ध भावना के रूप में देश वा राज्य प्रेम का विकास प्राचीन भारत में होने की विशेष गुंजाइश न थी। जिन अनेक राज्यों में देश बँटा हुआ था उनमें धर्म, संस्कृति या भाषा का भेद न था। काशी और कोशल, अंग और बंग में शायद ही कोई अंतर रहा हो। १२वीं शताब्दी के गहड़वाल, चंदेल और चाहमान राज्यों की सीमाएँ भौगोलिक या प्राकृतिक आधार पर विभाजित नहीं हो सकतीं। प्राकृतिक सीमाओं की रोक न रहने से और एक ही प्रकार की स्वदेशी संस्कृति के प्रचार से भारत के विभिन्न राज्यों के नागरिकों में स्वराज्याभिमान प्रखर स्वरूप में नहीं रहता था। विभिन्न राज्यों में युद्ध प्रायः राजाओं की स्पर्धा से होते थे न कि नागरिकों के संकुचित और स्वार्थी राज्याभिमान के संघर्ष से। जीतनेवाला भी साधारणतः पराजित राजा के किसी रिश्तेदार को ही गद्दी पर बिठा देता था और स्थानीय नियमों और प्रथाओं में हस्तक्षेप न करता था।

---

१ युद्धमृत वीरों के स्मृति में बनाये हुए मूर्त्यंकित शिलाखंडों को 'वीरगल' कहते हैं।

२ ए. इं., ६. १६३ ; सौ. इं. ए. रि., १९२१ नं. ७३ ; ए. क., भाग १ नं० ७५.।

अतः राजा और शासक वर्ग को छोड़कर साधारण जनता पर लड़ाई की हार-जीत का विशेष प्रभाव न पड़ता था। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उनमें देशभक्ति की कमी थी, मगर दूसरी दृष्टि से कहा जायगा कि उनमें संकुचित प्रांतीयता की भावना न थी। यदि भारत के विभिन्न राज्यों की प्रजा में प्रबल प्रान्तीयता की भावना का विकास हो गया होता और वे एक-दूसरे के खून के प्यासे बन गये होते तो भारत देश भर में (व्याप्त) सांस्कृतिक एकता की भावना का उदय और फैलाव सम्भव न होता।

पर संपूर्ण भारतवर्ष के लिए भारतीयों में गहरा प्रेम और उत्कट देशभक्ति थी और जब भी उसके धर्म, संस्कृति और स्वतन्त्रता पर संकट उपस्थित होता था, भारतीय उसके लिए प्राण अर्पण करने को दौड़ पड़ते थे। सिकन्दर के आक्रमण के प्रबल प्रतिरोध का इतिहास पढ़कर कौन कह सकता है कि उस समय के भारतीयों में देश-प्रेम का अभाव था? दक्षिण सिंध में ब्राह्मण सिकन्दर के प्रतिरोध का नेतृत्व कर रहे थे और इसके लिये सिकन्दर द्वारा झुण्ड-के-झुण्ड में वे फाँसी पर लटका दिये गये, क्योंकि इन्हीं के[1] कारण उसका एक-एक कदम आगे बढ़ना मुश्किल हो रहा था। उनमें से एक से फाँसी देने के पहिले पूछा गया कि तुम क्यों लोगों और राजा को सिकन्दर का सामना करने को उसकाते हो? उसने वीरतापूर्वक उत्तर दिया—क्योंकि मैं चाहता हूँ कि वे सम्मान से जिएँ और सम्मान से ही मरें[2]। दुर्भाग्यवश शक, पहलव और कुशाण आक्रमणों के विरोध का पूरा इतिहास नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ थोड़ा मिलता है उससे पता चलता है कि कुणिंद, यौधेय और मालव आदि गणतन्त्र, दशकों तक बराबर इनसे लड़ते रहे और अन्त में उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करके ही दम लिया। हूणों को निकालने के लिए उत्तर भारत के बड़े राज्यों ने मिलकर प्रयत्न किया था। भारत की संस्कृति और धर्म को मुसलमानों से कितना खतरा है इसका भान होने पर उत्तर भारत के सभी मुख्य हिंदू राज्यों ने एक होकर पेशावर के पास सन् १००८ ई० में मुसलमानों का सामना किया। १०२४ ई० में सोमनाथ मन्दिर को महमूद गजनवी के आक्रमण से बचाने के लिए ५० हजार हिन्दुओं ने प्राण दिये। अपने धर्म और देश पर मरने वाले योद्धा यही विश्वास करते थे कि भारतवर्ष की भूमि ऐसी पवित्र है कि देवता भी इसमें जन्म लेने को तरसते

१—मैक्क्रिंडल, एंशिएंट इंडिया—इट्स इनवेजन बाई अलेक्जेंडर दि ग्रेट, पृ० १५९—१६०।

२—वही—पृ० ३१४।

हैं[1] । माता के समान मातृभूमि भी स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है[2] यह एक सुविख्यात कहावत कहती है, विदेशी आक्रमणों के प्रतिरोध का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू इसमें पूरा विश्वास भी करते थे।

राजनीतिक दायित्व के आधार

नागरिक के राज्य के प्रति अनेक कर्तव्य हैं। अब हमें यह देखना है कि प्राचीन भारतीय विचारकों के मत में इनका क्या आधार है। राज्य ही जनता को अराजकता से बचाने का एकमात्र साधन है, अतः जनता का यह धर्म है कि उसका पूरा समर्थन करे और उसके नियमों का पालन करके उसके प्रति अपनी जिम्मेदारी पूरी करे। मनु का कथन है कि यदि राज्य-दण्ड का भय न हो तो सब लोग कर्तव्यच्युत हो जायँ, बलवान् दुर्बलों को शूल या मत्स्य की भाँति भून कर खा जायँ, कुत्ते भी हविर्भाग खाने के लिए दौड़ जायँ। स्वर्ग के देव भी यदि अपने-अपने कर्तव्य के दक्ष रहते हैं तो उसका कारण भी देवाधिदेव द्वारा दण्ड का भय ही है।

धर्म-पालन के लिए राजा व राजदण्ड अत्यन्त आवश्यक समझे गये थे। बहुसंख्यक नागरिकों के न्यायानुकूल आचरण करने का वास्तविक कारण यह है कि दण्ड के भय से सदाचारी बनना उनका स्वभाव ही बन जाता है। व्यक्ति का अंतिम दायित्व शासन-संस्था की ओर था। दूसरी कोई भी संस्था उस दायित्व में अंशभागी न थी। राजा का देवतांशत्व भी प्रजा की राजनीतिक जिम्मेदारी का एक कारण माना गया है। मनु कहते हैं, 'राजा नररूप में देवता है और सब को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये।' परन्तु जैसा कि अगले अध्याय में दिखाया जायगा राजा के देवतांशत्व का यह अर्थ नहीं है कि आँख मूँद कर उसकी आज्ञा का पालन किया जाय। कु-शासन तथा कर्तव्य की अवहेलना करने पर राजा को सिंहासन से उतारने और वध करने का अधिकार भी प्रजा को दिया गया था।

विधि-नियम भी दैवी माने जाते थे, और राज्य उन्हें कार्यान्वित करता था, इसलिए भी राज्य के अनुशासन में रहना प्रजा का कर्तव्य कहा गया है। परंतु पुराने अनुपयोगी नियमों की गुलामी का समर्थन इसका अभीष्ट न था। राज्य द्वारा न सही, व्यवहार द्वारा पुराने नियमों में परिवर्तन हुआ करता था।

१—गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
—मार्कण्डेय पुराण

२—जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत के कुछ विचारकों ने भी सहमति (इकरार) द्वारा राज्य की उत्पत्ति की कल्पना की है। प्रजा राजा को कर देने और उसकी आज्ञापालन करने को इस शर्त पर तैयार होती थी कि राजा उसकी रक्षा करे। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्य के प्रति कर्तव्य का आधार यह इकरार ही था। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हमारे विधान-शास्त्रियों ने स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपने कर्तव्यों से च्युत होने और प्रजा की सुरक्षा और सुव्यवस्था करने में असमर्थ होने पर राजा पागल कुत्ते की भाँति मार डाला जाना चाहिये[1]। उसके आज्ञापालन का प्रश्न भी ऐसी अवस्था में उपस्थित नहीं होता है।

सप्तांग का सिद्धांत भी राजनीतिक कर्तव्यों का आधार है। सरकार और प्रजा दोनों राज्यशरीर के अंग हैं, दोनों परस्पर के सहयोग से ही काम कर सकते हैं और संघर्ष होने पर दोनों का नाश अवश्यंभावी है। राज्य अपने कार्यों द्वारा प्रजा की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का प्रयत्न करता है, उसे इस कार्य में सफलता तभी मिल सकती है जब प्रजा भी उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करे। अतः चूँकि राज्य प्रजा की नैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उन्नति की कोशिश करने में यत्नशील रहता है, प्रजा को भी चाहिये कि वह अपने राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करके राज्य का मार्ग सुगम बनाए।

१—अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः।
स संहत्य निहंतव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥—महाभा. १३.९६,३५

अध्याय ५

नृपतंत्र

●

यद्यपि प्राचीन भारत में अन्य प्रकार के भी राज्य थे पर सबसे अधिक प्रचलन नृपतंत्र का ही था। अतः इस अध्याय में हम राजपद संबन्धी विभिन्न प्रश्नों पर विचार करेंगे।

वैदिक वाङ्मय में राजपद की उत्पत्ति के विषय में कुछ कल्पनाएँ की गई हैं। किसी समय देवताओं और असुरों में संग्राम हुआ और देवताओं की बराबर हार होती रही। देवताओं ने एकत्र होकर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनके पराभव का कारण उनमें राजा का न होना ही था। उन्होंने सोम को अपना राजा और नेता बनाया[१] और असुरों पर विजय प्राप्त की। अन्यत्र कहा गया है कि देवताओं में सबसे श्रेष्ठ, यशस्वी और शक्तिशाली होने क कारण ही इन्द्र देवताओं के अधिपति चुने गये[२]। एक और कथा है कि वरुण देवताओं के राजा होना चाहते थे, पर वे उन्हें स्वीकार न करते थे। तब अपने पिता प्रजापति से उन्होंने ऐसा मन्त्र प्राप्त किया कि वे सब देवताओं से बढ़ गये और सबने उन्हें अपना राजा माना[३]।

इन कथाओं से स्पष्ट है कि राजा की उत्पत्ति का कारण सामरिक आवश्यकता थी और वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्व कर सके। युद्ध में विजय नेता के साहस, कौशल और पराक्रम पर ही निर्भर है। इन गुणों से युक्त व्यक्ति जब नेता बनाया जाय और उसके नेतृत्व में विजयश्री का लाभ हो तो उसकी शक्ति निरंतर बढ़ती ही चली जाती है और अंत में वह राजा का पद प्राप्त कर लेता है। यदि उसके लड़के भी योग्य हुये तो यह पद आनुवंशिक बन जाता है[३]। राज्याभिषेक के समय किये जानेवाले वाजपेय यज्ञ में एक रथ की दौड़ की भी प्रथा है जिसमें राजा ही सर्वप्रथम आता है। यह रीति उस

---

१ अराजन्यतया वै नो जयति राजानं करवामहै इति ॥ ऐ. ब्रा., १.१४.

२ तै. ब्रा., २. २. ७. २

३ जै. ब्रा. ३.१५२

जमाने की यादगार है जब राजपद के उम्मेदवार की शक्ति की परीक्षा रथ की दौड़ में की जाती थी[१]।

हम देख चुके हैं कि वैदिककाल में समाज का संघटन पितृप्रधान कुटुंब-मूलक था। कई कुटुंबों या कुलों को मिलाकर विश् और कई विशों को मिला-कर जन का संघटन होता था। कुलपतियों में से ही नेतृत्व और पराक्रम के गुणों से युक्त व्यक्ति विश्पति का पद प्राप्त करते थे। विश्पतियों में से इन्हीं गुणों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति जनपति के उच्चपद पर आसीन होता था। उसकी योग्यता की जाँच रथदौड़ ऐसे प्रकारों से की जाती थी[२]।

अतः प्राचीन कथाओं और हिन्दू संयुक्त-कुटुम्ब के संघटन दोनों सिद्ध करते हैं कि *राजा की उत्पत्ति समाज के पितृप्रधान कुटुम्ब-पद्धति से ही हुई।* पराक्रमी और प्रतिष्ठित कुलपति विश्पति बन जाता था। साधारणतः सबसे श्रेष्ठ कुल के प्रमुख में ये गुण विद्यमान समझे जाते थे, चुनाव की आवश्यकता तभी होती थी जब इसमें संदेह होता था कि उत्तराधिकारी कौन है।

वैदिक वाङ्मय धर्मप्रधान है फिर भी उसमें इस बात का कोई भी संकेत नहीं कि राजपद का पुरोहित या धर्मगुरु के पद से सम्बन्ध हो अथवा उसकी उत्पत्ति उससे हुई हो। यह बात उल्लेखनीय है कि वैदिक राजा का कर्मकांड या पौरोहित्य कार्य से कोई सम्बन्ध नहीं था और न वह प्राचीन मिस्र, रोम या ग्रीस के राजा या शासन की भाँति सार्वजनिक यज्ञादि का संचालन करता था। हिटाइट लोगों के राजा युद्धविजय के पश्चात् सार्वजनिक यज्ञादि समारंभ करते थे, वैसी भी प्रथा प्राचीन भारत में न थी। चिकित्साकौशल के बल पर अश्विनी-कुमारों के देवत्व प्राप्त करने की कथा है पर चिकित्साकौशल द्वारा किसी वैद्य के राजा बनने का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में कहीं नहीं है।

वैदिककाल में जाति-प्रथा दृढ़मूल न हुई थी। इसलिए वैदिक वाङ्मय राजा की जाति के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताता। धीरे-धीरे बहुसंख्यक राजा क्षत्रियों में से होने लगे। किन्तु प्राचीन भारत में सातवाहन, शुंग, कवि,

१—वैदिक काल में घुड़सवारी और रथ हाँकने में कौशल का वही महत्व था जो आजकल वायुसेना में श्रेष्ठता का है।

२—सिकन्दर के इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि कठ जाति में, जो अपने रण-कौशल और पराक्रम के लिए विख्यात थी, सबसे स्वरूपवान् व्यक्ति ही राजा चुना जाता था (मैक्क्रिंडल, एंशिएंट इंडिया, पृ० ३८) इसका अर्थ यह है कि सैनिक योग्यता समान होने पर स्वरूप को प्रधानता दी जाती थी, यह नहीं कि सुन्दरता के सामने वीरता की उपेक्षा की जाती थी।

वाकाटक ऐसे अनेक ब्राह्मण राजवंश भी थे। हर्ष वैश्यवंशी था व युआन्-चांग के समय सिंध में शूद्रवंशी राजा था। जब ग्रीक, शक, पार्थियन, हूण इत्यादि आर्य्येतरवंशी राजाओं ने अपने-अपने राज्य स्थापित किये, तब शास्त्रकार भी बताने लगे कि क्षत्रियेतर भी राजा हो सकते हैं, केवल उन्हें वैदिक राज्याभिषेक का अधिकार नहीं हो सकता।

क्या राजा का निर्वाचन होता था ?

प्राचीन भारत में राजा निर्वाचित होता था या नहीं इस पर बहुत मतभेद है। वैदिककाल के पूर्वभाग में अवश्य निर्वाचन के कुछ उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के निर्वाचन का उल्लेख है[1]। अथर्ववेद में भी एक स्थल पर विशों द्वारा राजा के वरण की कामना की गयी है[2]। पर संभवतः साधारण जनता निर्वाचन में सम्मिलित नहीं होती थी। शतपथ ब्राह्मण में एक उल्लेख में कहा गया है कि अन्य राजागण जिसे मानें वही राजा होता है दूसरा नहीं[3]। राज्याभिषेक के एक मत्र में यांचा की गयी है कि अभिषिक्त राजा अपने श्रेणी के व्यक्तियों में प्रतिष्ठित हो। अतः अधिक संभव है कि जनता के नेतागण कुलपति और विश्पति ही राजा का वरण करते रहे हों और साधारण जनता अधिक से अधिक प्राचीन रोम की 'क्यूरिया' (जनसाधारण) की भाँति उनके निर्णय पर केवल अपनी सहमति देती रही हो[4]। निर्वाचन भी कभी-कदा ही हुआ करते थे। साधारणतः सबसे प्रतिष्ठित कुल के सबसे वयोवृद्ध व्यक्ति को ही नेता मानकर राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता था।

कुलपतियों और विश्पतियों द्वारा राजा के इस औपचारिक निर्वाचन की प्रथा उस काल में भी पुरानी पड़ती जा रही थी। निर्वाचन के संबंध में जितने

१—ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन्। १०. १२४.८
यहाँ पर विश-द्वारा निर्वाचन का स्पष्ट उल्लेख है साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जनता डरी हुई थी। यदि जनता की सहमति पर ही राजा का निर्वाचन निर्भर था तो उन्हें डरने की क्या आवश्यकता थी ?

२—त्वां विशो वृणतां राज्याय। ३. ४, २

३—यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।
—श. प. ब्रा. ९. ३ ४, ५.

४—इसीसे उनमें उत्साह का अभाव और भय का प्रभाव रहता था, यथा ऊपर के नं० १ के उद्धरण में वर्णित है

उल्लेख मिलते हैं 'अधिकांश से यही पता चलता है कि कुलपतियों और विश-पतियों की दलबंदी से राज्य में बराबर झगड़ा मचा रहता था और अक्सर राजा को भी सिंहासन छोड़ना पड़ता था। इन उल्लेखों में[1] या तो अपने मित्रों द्वारा निर्वाचित राजा के प्रतिद्वंद्वियों का सामना करते हुए सिंहासन पर जमे रहने की, या राज्यच्युत होने के बाद पुनः गद्दी पर बैठनेवाले राजा के प्रजा द्वारा अंगीकार किये जाने की, यांचा की जाती है। इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि आजकल के अर्थ में वैदिककाल में राजा का निर्वाचन होता था। हाँ, यह अवश्य है कि आजकल की अपेक्षा राजा उच्चवर्गीय कुलपतियों और विश्पतियों के समर्थन पर अधिक निर्भर रहता था। निर्वाचन की प्रथा वैदिककाल में भी प्रायः अव्यवहृत हो चुकी थी। यह इसी बात से सिद्ध है कि ऋग्वेद में भी अधिकतर राजपद आनुवंशिक दिखाई देते हैं। तृत्सुओं में चार पीढ़ी से और अधिक समय से पुत्र ही पिता की राजगद्दी पर बैठते चले आ रहे थे। सृञ्जयों का राजा[2] दुष्टऋतु पौंसायन की कथा में दस पीढ़ी से प्राप्त राज्य का उल्लेख है और राज्याभिषेक के समय की घोषणा में भी नये राजा को राजा का पुत्र कहा गया है[3]।

अतः इसमें संदेह नहीं कि उत्तर वैदिक काल के बहुत पहले ही राजा का पद आनुवंशिक (पैतृक) बन गया था। ईसा की आठवीं सदी तक राजपद के निर्वाचित होने के पक्ष में जो प्रमाण दिये जाते हैं वे बहुत पुष्ट नहीं हैं[4]। अथर्ववेद में उल्लिखित 'राजकृत' (३, ६, ७) और रामायण के उल्लिखित 'राजकर्तारः' राजा के निर्वाचक नहीं वरन् राज्याभिषेक करने वाले ब्राह्मण हैं[5]। जब अपने ज्येष्ठ पुत्रों की उपेक्षा करके राजा प्रतीप ने अपने छोटे पुत्र शांतनु को और ययाति ने पुरु को राज्य दिया तो प्रजा ने महल के सामने एकत्र होकर प्रतिवाद किया, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि राजा के निर्वाचन में उन्हें भी बोलने का अधिकार था। उन्होंने केवल ज्येष्ठ पुत्र के स्वाभाविक अधिकार के अपहरण का

१—ह्वयन्तु त्वां प्रतिजना प्रतिमित्रा अवृषत। अ. वे., ३. ३. ६.

२—श. प. ब्रा., १२. ९. ३. १—१३

३—राजानं राजपितरं। ऐ. ब्रा. ८. १२

४—र. चं. मजूमदार, कारपोरेट लाइफ १०७-११३; का. प्र. जायसवाल—हिंदू पॉलिटी, भाग प्रथम पृ० १०।

५—सायण ने राजकृतःकी व्याख्या यों की है, 'कराजानम् कुर्वंति, राज्येऽभिषिंचंति।' रामायण के टीकाकार ने राजकर्तारः का अर्थ राज्याभिषेककर्तारः किया है।

कृ० प० उ०

कारण जानना चाहा और राजा के उत्तर से संतुष्ट होकर वे चले भी गये[1]। इन दोनों घटनाओं से यही सिद्ध होता है कि जनता ने ज्येष्ठ पुत्र के पिता की गद्दी पर बैठने के अधिकार अर्थात् पैत्रिक राज्य का सिद्धांत स्वीकार कर लिया था, न कि उन्हें राजा के निर्वाचन में राय देने का अधिकार था। रामायण में राम के युवराज बनाये जाने के संबंध में जो वर्णन है इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि जनता का इस निर्णय में कोई हाथ था। इस प्रस्ताव पर सहमति के लिए दशरथ ने अपनी प्रजा के नेताओं को नहीं वरन् अपने करद या सामंत और पड़ोसी राजाओं को बुलाया था[2]। उन्होंने भी उपचारतः राम के युवराज बनाये जाने पर सहमति दी, उनकी सहमति का मूल्य तो इसी से प्रकट हो जाता है कि राम का वनगमन उससे न रुक सका। इक्ष्वाकु वंश की वंशावली से भी यही ज्ञात होता है कि श्रीराम के कई पीढ़ियों पूर्व और बाद भी राजपद आनुवंशिक था और प्रजा को राजा चुनने का अधिकार न था।

यह भी कहा गया है कि रुद्रदामन (१३० ई०), हर्षवर्धन (६०६ ई०) और गोपाल (७५० ई०) जनता द्वारा राजा बनाये गये थे[3]। इसमें संदेह नहीं कि रुद्रदामन और गोपाल स्पष्टरूप से जनता द्वारा निर्वाचित कहे गये हैं,[4] परंतु यह बात उनकी प्रशस्तियों में उन्हीं के दरबारी कवियों द्वारा कही गयी है,

---

(क्रमशः)
इस अर्थ की पुष्टि आगे के श्लोकों से होती है जिनमें राजकर्ताओं में प्रसिद्ध वैदिक ब्राह्मणों के ही नाम हैं।

१—शांतनु के बड़े भाई देवापि को कोढ़ी होने के कारण उत्तराधिकार से वंचित किया गया। पुरु के बड़े भाई इसलिए उपेक्षित हुए कि उन्होंने अपने पिता को अपना यौवन देना अस्वीकार कर दिया था।

२—समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान्पृथिवीपतीन्—न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः। त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्।
अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परबलार्दने। ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसंमताः॥ इससे स्पष्ट है कि राज्य के प्रधान व्यक्ति नहीं, करद राजागण बुलाये गये थे। कलकत्ता संस्करण का पाठ प्रधानान् पृथिवीपतिः ठीक नहीं है, यह बाद के श्लोक से सिद्ध हो जाता है।

३—मजूमदार, कारपोरेट लाइफ, पृ० ११२

४—देखिये जूनागढ़ शिलालेख—सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन। मात्स्यन्यायमपोहितुं च प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः ए० इं०, ४.२४८

अतः वह परमार्थतया सत्य नहीं माना जा सकता। रुद्रदामा की इसी प्रशस्ति में दूसरे स्थल पर यह भी कहा गया है कि उसने स्वयं अपने पराक्रम से[5] महाक्षत्रप पद प्राप्त किया था तथा उसी में यह भी वर्णन है कि उसने अनेक प्रान्तों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था। अतः प्रशस्तिकार की—ऐसे प्रसिद्ध विजेता का प्रजा के निर्वाचन के बल पर राजपद प्राप्त करने की बात ऐतिहासिक के बजाय औपचारिक ही माननी चाहिये। गोपाल ने मात्स्यन्याय का अन्त करके बंगाल में सुव्यवस्था स्थापित की थी, और पालवंश के राज्य की नींव रखी थी, अतः प्रजा द्वारा निर्वाचन की बात उसकी स्थिति दृढ़ करने के लिए कही गयी होगी। उसके बाद उसके उत्तराधिकारी पैतृक परम्परा द्वारा ही राज्य प्राप्त करते रहे और किसी ने भी जनता द्वारा अपना निर्वाचन कराने की परवाह न की। यह सत्य है कि हर्ष को निर्वाचन द्वारा राज्य प्राप्त हुआ परन्तु यह राज्य उसका पैतृक थानेश्वर राज्य न था, वरन् उसके बहनोई ग्रहवर्मा का मौखरि का कन्नौज-राज्य था, जिस पर उसे कोई हक न था। ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद मौखरि-सिंहासन पर बैठने योग्य उस वंश में कोई न था। इसलिए मौखरि अमात्यों ने अपनी विधवा रानी के भाई को राज्य देना उचित समझा। इस घटना से ज्ञात होता है कि राज्य के उत्तराधिकारी न होने पर अमात्य और अन्य ऊँचे अधिकारी मृत राजा के सम्बन्धियों में से किसी सुयोग्य व्यक्ति को राजा चुनते थे। जातक कथाओं में भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलत हैं, पर इनसे राजा के निर्वाचन की प्रथा सिद्ध नहीं होती। शिलालेख, ताम्रपट्ट और साहित्य-ग्रंथों से भी यही ज्ञात होता है कि ६०० ई० पू० से जिन राज्यों का पता चलता है वे सब पैतृक परम्परा से ही चलते थे। १ वीं शताब्दी के इतिहास-लेखकों को तो राजा के निर्वाचन की कल्पना ही विचित्र प्रतीत होती थी[1]।

---

५ स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना रुद्रदाम्ना। जूनागढ़ शि. ले.

१ जब ९३९ में कश्मीर का उत्पल राजवंश समाप्त हुआ तब कमलवर्धन नामक व्यक्ति ने अधिकार हस्तगत कर लिया। परंतु तुरन्त अपना राज्याभिषेक कराने के बजाय उसने ब्राह्मणों से राजा का निर्वाचन करने को कहा; उसे आशा थी कि ब्राह्मण मुझे ही चुनेंगे। कल्हण इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि इससे बढ़कर मूर्खता हो नहीं सकती थी, यह तो ऐसा ही है कि घर स्वयं आयी हुई प्रेमोन्मत्त सुन्दरी को कोई लौटा दे और दूसरे दिन उससे पुछवाये कि तुम आओगी या नहीं। अस्तु ब्राह्मण ५-६ रोज तक वाद-विवाद ही करते रहे और

(क्र॰ प॰ उ)

आनुवंशिक राज्यपद्धति से सम्बद्ध कुछ वैधानिक बातें भी उल्लेख्य हैं। साधारणतः हिन्दू परिवार की संपत्ति भाइयों में विभाजित होती है परन्तु राज्य अविभाज्य होता था और ज्येष्ठ पुत्र हो यदि वह अंधा, गूँगा या मूर्ख न हो, गद्दी का उत्तराधिकारी होता था[1]। परन्तु छोटे भाइयों को भी प्रादेशिक शासन तथा अन्य उच्च पद दिये जाते थे। जातक कथाओं और इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं।

परन्तु राज्य-लिप्सा प्रबल होती है और कभी-कभी उसी के कारण छोटे भाई राज्याधिकार प्राप्ति के लिए गृहयुद्ध पर भी उतारू हो जाते थे। इतिहास और दंतकथाओं में इसके उदाहरण मिलते हैं, परन्तु प्राचीन भारत के इतिहास पर सम्यक् विचार करने से ऐसी घटनाएँ अपवाद ही सिद्ध होती हैं। बहुधा जागीर या छोटे राज्यादि देकर छोटे भाइयों को सन्तुष्ट कर दिया जाता था। गुजरात की राष्ट्रकूट और वेंगी की चालुक्य राज-शाखाएँ इसी प्रकार स्थापित हुई थीं।

युवराज की शिक्षा को बहुत महत्व दिया गया है। राजा में देवत्व भले ही हो पर उसकी शिक्षा की आवश्यकता तो रहती ही है। राजपुत्रों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध होता था यद्यपि उनके सामान्य विद्यार्थियों के साथ-साथ तक्षशिला आदि प्रख्यात शिक्षा केन्द्रों में भी शिक्षा प्राप्त करने के उदाहरण भी मिलते हैं। प्रारम्भिक काल में तो राजपुत्रों के पाठ्यक्रम में भी वेद, तत्वज्ञान आदि को ही प्रमुख स्थान दिया जाता था[2] पर धीरे-धीरे वार्ता और राजनीति ही अध्ययन के मुख्य विषय बन गये[3]। कुछ लेखकों ने यहाँ तक कह दिया कि राजाओं को उपर्युक्त विषयों के सिवा और कुछ पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं। राज्य-कार्य, शस्त्रविद्या और युद्ध-कौशल की शिक्षा केवल किताबों से ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप में दी जाती थी। धनुर्वेद, रथसंचालन और हस्तिविद्या में निपुणता की सबसे अधिक आवश्यकता थी[4]। शिक्षा पूरी हो जाने पर और वयस्कता प्राप्त करने पर

(क्रमशः)

इस बीच में शूरवर्मा नामक व्यक्ति ने राजधानी पर अधिकार कर लिया, फिर तो ब्राह्मणों ने उसी को राजा उद्घोषित किया और बेचारा कमलवर्धन अपना-सा मुँह लेकर रह गया। राजतरंगिणी, अष्टमसर्ग ७३३।

१　इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः। रामायण, २. ११०,३६

२　अर्थशास्त्र, भा. १-२; मनुस्मृति, ७.४३।

३　कामंदक, २-५

४　धर्मकामार्थशास्त्राण्यपि धनुर्वेदं च शिक्षयेत्।

राजकुमार का युवराज पद पर अभिषेक होता था। इसके बाद उसे शासनकार्य चलाने में जिम्मेदारी के काम दिये जाते थे जिन्हें वह अपने पिता की देखरेख में पूरा करता था।

सैनिक-विद्या में कुछ राजा कितना कौशल प्राप्त कर चुके थे यह बारहवीं सदी के मानसोल्लास के 'साहसविनोद' अध्याय से विदित होगा। वहाँ बताया गया है कि राजा अपना धनुर्विद्या-विषयक कौशल प्रदर्शित करने के लिए अपनी प्रजा को क्रीड़ाङ्गन में बुलाते थे और वहाँ एक बाण से दो पदार्थों का भेद करना, सिर पर घूमने वाले लक्ष्य का नीचे पानी में प्रतिबिम्ब देख कर छेदन करना इत्यादि कलाओं में अपनी प्रवीणता दिखाते थे। गदायुद्ध, भालायुद्ध, मल्लयुद्ध तलवार का प्रयोग इत्यादि कलाओं में भी राजा पारंगत थे व उनमें भी अनेक चमत्कार वे प्रेक्षकों को दिखाते थे। हो सकता है कि सब राजाओं में इतना उच्च प्राविण्य न होगा, किंतु ऐसे समर-कला-प्रवीण राजा भी कम न थे। राजपुत्रों का शिक्षण इस दिशा में काफी सफल था।

शिक्षण समाप्त होने के पश्चात् ज्येष्ठ राजपुत्र को युवराज घोषित किया जाता था, व उस समय प्रायः उसका युवराजाभिषेक भी किया जाता था। इस अभिषेक के पश्चात् युवराज राज्य-संचालन में अपने पिता का सहभागी हो जाता था व उसे राज्य-संचालन में अनेक प्रकार की मदद करता था।

यदि पिता की मृत्यु के समय ज्येष्ठ राजपुत्र नाबालिग होता तो उसकी माता, चचा आदि रिश्तेदार अभिभावक (अज्ञानपालक) की हैसियत से राज-यन्त्र चलाते थे। कुछ दक्षिण हिंदुस्थानी शिलालेखों में 'त्रैराज्य' का उल्लेख आता है। त्रैराज्यों में राजा, युवराच व भंटुराज इन तीनों का अन्तर्भाव होता था। राजा के पश्चात् राजवंश में जो सबसे वयोवृद्ध पुरुष था उसका निर्देश भंटुराज पद से होता था। वही आवश्यक होने पर अभिभावक (अज्ञानपालक) बनता था।

राजा जब नाबालिग रहता था, तब अभिभावक या राजप्रतिनिधि के बिना राज्यसंचालन करना अशक्य था। राष्ट्रकूटवंशी प्रथम अमोघवर्ष की बाल्यावस्था में पाताल मल्ल ने व गंगवंशी द्वितीय शिवमार के युद्धबन्दी रहने के समय उसके भाई विजयादित्य ने बड़े कौशल व निस्स्वार्थ बुद्धि से अपना राजप्रतिनिधि

(क्रमशः)

रथे च कुंजर चैव व्यायामं कारयेत् सदा।
शिल्पानि शिक्षयेच्चैनं नाप्तैर्मिथ्याप्रियं वदेत्॥
अग्नि. पु. २२०, २-३

का कर्तव्य निभाया था। किंतु ऐसे भी राजप्रतिनिधि या अभिभावक होते थे जो चालुक्यवंशीय मंगलीश या यादव वंशीय कृष्ण के समान स्वयं राजा बनने की सफल कोशिश करते थे। इसलिए यह प्रथा प्रस्थापित हुई कि राजा की नाबालिग अवस्था में एक प्रशासकमण्डल रहे, जिसकी अध्यक्ष राजमाता हो। इस प्रकार की राजव्यवस्था के उल्लेख जातक[१] व नाटक[२] ग्रंथों में और शिलालेखों में आते हैं। प्राचीन भारत में नयनिका (ई० पू० १२५) प्रभावती गुप्ता (ई० स० ३८०) इत्यादि अनेक राजमाताएँ हुईं, जिन्होंने अपने पुत्रों की बाल्यावस्था में शासन की बागडोर ठीक तरह से सँभाली।

खावेरल का राज्याभिषेक, जब उसकी उमर २४ साल की हुई, तब हुआ, यद्यपि उसके पिता का देहांत पहले ही हो चुका था। किन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि हर एक राजपुत्र का राज्याभिषेक २४ साल की उमर होने तक रोका जाता था। दक्षिण भारत के कारिकाल की आयु पाँच साल की थी जब उसका राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ था। अविनीत कोंगुवर्मा का राज्याभिषेक उसकी गर्भावस्था में ही हुआ था। अभिषेक के समय नन्दिवर्मन् पल्लवमल्ल की उमर १८ साल की थी। जब नाबालिग अवस्था में राजप्रतिनिधि-मण्डल राज्य-संचालन करता था, तब २४ साल की उमर तक राज्याभिषेक रोकना आवश्यक नहीं होता था।

हिंदू विधिनियम में अभ्रातृक पुत्री को पिता की गद्दी पर बैठने का अधिकार न था। यह बात सत्य है कि भीष्म ने धर्मराज को सलाह दी कि युद्ध में मारे गये राजाओं की गद्दी पर पुत्र के अभाव में पुत्रियों को भी आसीन करने की अनुमति दी जाय[३]। परन्तु साधारण मत इसके प्रतिकूल था। अधिकांश विधान-शास्त्री स्त्रियों को राज्य का उत्तराधिकार देने के विरुद्ध थे। उनका विचार था कि अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण वे भली भाँति राजकाज-संचालन करने में असमर्थ हैं[४]।

१　चतुर्थ भाग, पृ० १०५ इधर कहा गया है कि वाराणसी के राजा के संन्यासी हो जाने पर प्रजा ने रानी से ही राज्य का भार वहन करने का अनुरोध किया, यही साधारण प्रथा थी, 'अन्नो राजा न होति।' पृ० ४१७ भी देखिए।

२　कौशांबी के राजा उदयन के शत्रु के हाथ बन्दी हो जाने पर उसकी माता ने शासन-कार्य का संचालन किया। प्रतिज्ञायौगंधरायण, अंक १

३　कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय। म. भा. १२. ३२, ३३.

४　तुट्ठं तं जनपदं यस्थ इत्थि परिणायिका।
अनवकासं यमित्थी राजा अस्स चक्कवत्ती। आ०, १. पृ. १८५

अतः कन्या के अतिरिक्त अन्य उत्तराधिकारी न रहने पर जामाता अपने ससुर की गद्दी पर बैठता था। ऐसी अवस्था में उसकी पत्नी केवल नाममात्र की रानी नहीं रहती थी किंतु पति के साथ प्रत्यक्ष राज्य-संचालन भी कभी-कभी करती थी। प्रथम चन्द्रगुप्त और उसकी लिच्छवि-वंशीया रानी कुमारदेवी की संयुक्त मुद्रा से इस मत की पुष्टि होती है।

दक्षिण भारत में विशेषकर चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के समय में राजकुमारियाँ बहुधा उच्चपदों पर नियुक्त की जाती थीं। हम यहाँ ऐसे केवल दो उदाहरण देंगे। प्रथम अमोघवर्ष की कन्या और एरगंग की पत्नी रेवकनिमदि एदातोर नामक बड़े ज़िले की शासिका थी (८५० ई०)। दूसरा उदाहरण तृतीय जयसिंह की बड़ी बहन अक्का देवी का है जो १०२२ ई० में किनसुद जिले की शासिका थी। परन्तु उत्तर भारत के इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते।

अन्त में हम रानी के पद और अधिकार पर भी दृष्टिपात करेंगे। वैदिककाल में उसकी गणना 'रत्नियों' अर्थात् उच्च अधिकारियों में होती थी परन्तु उसके कार्य और अधिकार के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। विधान-शास्त्री शासन में उसके लिए कोई विशिष्ट कार्य निर्धारित नहीं करते परन्तु शासन-कार्य पर उसके व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव थोड़ा-बहुत अवश्य रहा होगा। कर्नाटक के अलूप वंशी राजा अपनी रानी के साथ राज्याधिकारों में पूरा सहयोगी होके राज्य करता था, ऐसा वर्णन आता है[1]। किंतु यह प्रथा समाज में रूढ़ न हो पाई। दक्षिण भारत में ऐसा अवश्य था क्योंकि कभी-कभी रानियों द्वारा भूमिदान का और बड़े प्रांतों के राज्यकारभार का उल्लेख मिलता है[2]। इसके भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि आवश्यकता के समय काम आने के लिए राजकुमारियों को शासन-कार्य और युद्ध-विद्या की भी शिक्षा दी जाती थी।

राजा का देवत्व

यह बात ध्यान योग्य है कि राजा के देवत्व की भावना जो ईसा की पहली सहस्राब्दी में इतनी सर्वमान्य थी, वैदिककाल में वर्तमान न थी। उस काल में राजा का पद पूर्णतः लौकिक था। सार्वजनिक हित के लिए अथवा राष्ट्र और जन का अरिष्ट दूर करने के लिए होने वाले किसी यज्ञादि का संचालन राजा के कामों में शामिल नहीं था।

---

१ टी० वी० महालिंगम—साउथ-इंडियन पौलिटी। पृ० ३७

२ अल्तेकर—पोजीशन ऑफ वीमेन, पृ० २४-५।

ऋग्वेद में केवल एक ही राजा पुरुकुत्स को अर्ध-देव का विशेषण दिया गया है (४.४२६६) अथर्ववेद में भी केवल एक ही दफे और एक उत्तर कालीन सूक्त में ही राजा परीक्षित मर्त्यों में देवता कहे गये हैं (यो देवो मर्त्यान् अधि २०.१२७.७) इन स्थलों से यह नहीं सिद्ध होता कि उस युग में देवत्व की भावना मान्य थी। पुरुकुत्स को अर्धदेव सम्भवतः इस कारण कहा गया है कि उनकी विधवा माँ ने उन्हें इंद्र और वरुण के विशेष प्रसाद से प्राप्त किया था। जिस ऋचा में परीक्षित को मर्त्यों में देव की उपाधि दी गयी है वह उनकी प्रशंसा करने के लिए ही रची गयी थी। वैदिक वाङ्मय में अन्य किसी भी राजा को यह उपाधि नहीं दी गयी, इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राजा में देवत्व की कल्पना कुछ राजा द्वारा उपकृत दरबारियों के ही मस्तिष्क में सीमित थी। जब समिति या पार्लमेंट राजा को आवश्यकतानुसार पदच्युत कर सकती थी, तब राजा के देवत्व की कल्पना का सर्वमान्य होना अशक्य था।

धार्मिक विधि और विचारों के उत्तरोत्तर बढ़ने वाले प्रभाव से ब्राह्मणकाल में ऐसा वातावरण बनने लगा था जिसमें राजा के देवत्व की भावना पनप सकती थी। युद्ध में विजय इंद्रदेव की कृपा का फल कहा जाता था, और इंद्र की उपाधियाँ भी राजा को धीरे-धीरे लगायी जाने लगीं[१]। राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहते थे कि भगवान सविता के आदेश पर ही अभिषेक किया जाता है, और यह अभिषेक मनुष्य के हाथों से नहीं वरन् भगवान पूषन् और अश्विनी-कुमारों द्वारा होता है। ऐसा माना जाता था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि, सविता और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ द्वारा राजा को देवता का पद मृत्यु के बाद प्राप्त होता है यह भी धारणा थी[२]। बहुसंख्यक प्रजा एक राजा की आज्ञा पालन क्यों करती है इसका कारण कुछ लोगों के मत में यही था कि राजा देवाधिदेव प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक था[३]। ब्राह्मण अपने को भूदेव कहकर अपने लिए देवत्व का दावा कर रहे थे अतः वे राजा को भी उससे कैसे वंचित रख सकते थे, क्योंकि वही तो उनके विशेषाधिकारों का संरक्षक था। इन परिस्थितियों और कारणों से उत्तर-वैदिक-काल में ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया था जो राजा के देवत्व की भावना के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल था। ईसवी पहली शताब्दी में कुशाण राज्य

१. ऐ ब्रा., ८. २
२ श. प. ब्रा. १२. ४. ४, ३। तै. ब्रा. १८. १०. १०।
३ एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमो यद्राजन्यः। तस्मादेकः सन् बहूनामीष्टे। श. ब्रा., ५. १५. १४.

की स्थापना से इस भावना को और भी बल मिला। चीनी परम्परा से प्रभावित होने के कारण इस वंश के राजा 'देवपुत्र' होने का दावा करते थे और अपनी मुद्राओं पर अपने को दैवी ज्योति से आवृत बादलों से अवतरित होते हुए अंकित कराते थे[1]। कुशाण सम्राटों ने अपने पूर्वजों के मन्दिर भी बनवाये जिनमें उनकी प्रतिमाएँ देव के समान पूजी जाती थीं।

कुछ स्मृतियों और पुराणों ने स्पष्ट रूप से राजा के देवत्व का दावा मान लिया है। मनु कहते हैं कि राजा नर रूप में महान् देवता हैं। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिग्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया है[2]। विष्णुपुराण और भागवत में कहा गया है कि राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं[3]। भागवत में तो यह भी लिखा है कि सर्व-प्रथम राजा वेण के शरीर में विष्णु के शरीर के नाना लांछन भी विद्यमान थे[4]। राजा को देवता मानने की परम्परा ही स्थापित हो गयी थी, परवर्तीकाल में बौद्ध लोग भी राजा को 'सम्मुतिदेव' कहते थे। इस पदवी का संकेत यह है कि राजा का देवत्व जनता को सम्मत है।

जब समाज में अवतार-कल्पना रूढ़ हो गयी, तब राजा को परमेश्वर का अवतार मानने लगे। शिलालेखों में यह दावा किया है कि गाहडवाल वंश के चंद्र व गोविन्दचंद्र राजा क्रमशः ब्रह्मा व हरि के औतार थे (इं. अँ. १७.१५; एपि. इंडि. ६. ३१६)। पृथ्वीराजविजय (७.६२) में कवि ने अपने वर्णनभूत राजा को रामचंद्र के अवतार के रूप में माना है।

अस्तु, कुछ स्मृतियों और पुराणों में राजा के देवत्व की कल्पना स्वीकार की गयी है। परन्तु उसे ईश्वर का साक्षात् अवतार बहुत थोड़े ही स्मृतिकारों ने

१ कॅटलॉग ऑफ कॉइन्स इन दी पंजाब म्यूजियम, भाग १, चित्र १

२ यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः।
तस्मादाभिवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥ मनु ८.५

३ ब्रह्मा जनार्दनो रुद्रो इंद्रो वायुर्यमो रविः।
हुतभुग्वरुणो धाता पूषा भूमिर्निशाकरः।
एते चान्ये च ये देवाः शापानुग्रहकारिणः।
नृपस्यैते शरीरस्थाः सर्वदेवमयो नृपः। विष्णु पु० १. १३-१४

४ जातो नारायणांशेन पृथुराद्यः क्षितीश्वरः।
वेणस्य दक्षिणे हस्ते दृष्ट्वा चिह्नं गदाभृतः।
पादयोरविंदं च तं वै मेने हरेः कलाम्।
भाग ४. १३, २३; देखिये वायु, ५७.७२.

माना है। अधिकांश स्मृतियां और पुराणों में केवल राजा और देवताओं के कार्यों की समता का उल्लेख और वर्णन किया गया है। महाभारत (१२. ६९. ४०) नारद स्मृति (१७. २६) शुक्रनीति (सृष्टि. ७२) और मत्स्य (अ. २२.६) मार्कण्डेय (२७, २१) अग्नि (२२५. १६) पद्म (सृष्टि. ३०, ४५) और बृहद्धर्म (उत्तर खंड ३.८) पुराणों में बताया गया है कि राजा अपने तेज से दुष्टों को भस्म कर देता है अतः वह अग्नि के समान है, वह अपने चरों द्वारा सब कुछ देख लेता है अतः सूर्य के तुल्य है; वह अपराधियों को उचित दण्ड देता है अतः वह यम के समान है और योग्य व्यक्तियों को प्रचुर पुरस्कार देता है अतः वह कुबेर के तुल्य है[1]। अस्तु, अधिकांश ग्रंथकार राजा और देवताओं के विभिन्न कार्यों की समता पर ही जोर देते हैं। वे अनेक बार राजा के कार्यों की देवताओं के कार्यों से तुलना करते हैं पर यह नहीं कहते कि राजा स्वयं देवता है।

इस प्रकार हिन्दू ग्रंथकारों ने राजपद को दैवी बताया है न कि किसी राज-व्यक्ति को। ईश्वरप्रणीत वर्णाश्रमधर्म प्रजा से पालन कराना राजा का कर्तव्य था। यदि राजा को दैवी माना जाय तो यह कर्तव्य प्रजा से अधिक अच्छी तरह से किया जा सके, ऐसी समाज की धारणा थी। राजपद को दैवी मानने से राजा की प्रतिष्ठा बढ़ने की संभावना थी व उसकी आज्ञाओं का पालन अधिक अच्छी तरह से हो सकता था। किन्तु राजा यदि अधर्मशील हो, तो देवत्व के सहारे से वह अपने

---

१ कुरुते पंच रूपाणि कार्ययुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥
यदा ह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान्सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥ ४४ ॥
यदा त्वधार्मिकान्सर्वां तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति।
धार्मिकांश्चानुगृह्णति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४६ ॥
म० भा० १२. ६७

दुराचार या जुल्म का समर्थन नहीं कर सकता था; उसे धर्मशास्त्र ने राक्षस का अवतार माना है। यूरोप में राजा के देवत्व का सिद्धांत मुख्यतः निरंकुश राजसत्ता के समर्थन के लिए ही प्रतिपादित किया गया था। प्राचीन भारत में एक मात्र नारद ही ऐसे ग्रंथकार हैं जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है क्योंकि उसमें देवता का अंश है[१]। परन्तु दूसरे किसी ने भी उनकी बात नहीं मानी। दुष्ट राजा वेण ने अपने देवत्व की दुहाई देकर दंड से बचना चाहा पर क्रुद्ध ऋषियों ने उसकी एक न सुनी और उसे तत्काल मार डाला। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि प्राचीन भारत में केवल अच्छे और धार्मिक राजा ही देवतुल्य माने जाते थे। दुष्ट और दुराचारी राजा तो राक्षसावतार माने जाते थे[२]। पोप ग्रेगरी के इस मत से हिन्दू शास्त्रकार सहमत नहीं थे कि दुष्ट राजा भी देवता के अंश होने से परमात्मा के सिवाय अन्य कोई उनसे जवाब तलब नहीं कर सकता। राजा के देवत्व के पूर्ण समर्थक मनु भी कहते हैं कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता है[३]। वे यह भी कहते हैं कि देवत्व का अर्थ यह नहीं है कि राजा सब दोषों के परे है बल्कि साधारण जन की अपेक्षा उसके गलती करने की आशंका अधिक है (७.४५) क्योंकि उसके सामने प्रलोभन भी बड़े रहते हैं अतः उसे सर्वदा काम, क्रोध और लोभजन्य बुराइयों से बचने की सावधानीपूर्वक चेष्टा करते रहना चाहिये। धूर्त खुशामदियों की स्तुतियों से प्रतारित होकर अपने को अतिमानुष समझनेवाले राजागण किस प्रकार जगहँसाई के पात्र होते हैं इसका वर्णन बाणभट्ट ने भलीभाँति कर दिया है[४]।

ब्लैकस्टोन का यह मत कि राजा के कार्यों में ही नहीं किन्तु विचारों में भी दोष या गलतियाँ नहीं हो सकतीं प्राचीन भारतीय विचारकों को अनुमत नहीं था।

---

१ राजनि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः।
शूले तमग्नौ विपचेद् ब्रह्महत्याशताधिकम्॥ १८.३१

२ गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः।
विपरीतस्तु रक्षोंऽशः स वै नरकभाजनः॥ शुक्र १.८७

३ दण्डो हि सुमहत्तेजा दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ मनु, ७. २८

४ प्रतारणकुशलैर्धूर्तैः अमानुषलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणाः आत्मन्यारोपितालीकाभिमानाः मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषमात्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभवाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति। कादंबरी शुकनासोपदेश

इसके विपरीत वे तो यह मानते थे कि साधारण जन की अपेक्षा राजा के कर्तव्य-च्युत होने की आशंका अधिक है। राजा के देवत्व का यह अर्थ भी नहीं माना गया था कि दुष्ट या अनीतिमान् राजा की आज्ञाओं का भी बिना मीन-मेष निकाले पालन करना ही जरूरी है। यूरोपीय विचारकों में विशप ब्रोसुए का मत है कि राजा के पापाचरण करने पर भी प्रजा उसकी आज्ञापालन के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती; काल्विन कहते हैं कि नीच राजा की आज्ञा भी सदैव शिरोधार्य मानना चाहिये। प्राचीन भारत के विचारकों का मत इसके विरुद्ध है; वे अयोग्य या दुष्ट राजा को देवत्व का अधिकारी कभी भी नहीं मानते। वे साफ-साफ कहते हैं कि ऐसा राजा साक्षात् राक्षस है और प्रजा को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का पूरा अधिकार है। इंगलैंड के राजा प्रथम जेम्स का यह मत प्राचीन भारत में मान्य नहीं था कि प्रजा कदापि राजा को दंड देने की अधिकारिणी नहीं हो सकती क्योंकि राजा का अधिकार प्रजा को दण्ड देना है न कि प्रजा का राजा को। प्रजा की सृष्टि ही राजा के आज्ञापालन के लिए हुई है। अतः विलोबी का यह कथन भारत पर नहीं लागू होता कि 'प्राचीन काल के सभी एशियाई राज्यों में राजा प्रजा पर शासन करना अपना ईश्वरप्रदत्त अधिकार समझते थे और प्रजा भी बिना चीं-चपड़ के उनका यह दावा स्वीकार कर लेती थी'।

यह विषय समाप्त करने के पूर्व हम राजा के देवत्व के विषय में अन्य प्राचीन देशों में प्रचलित विचारों पर दृष्टिपात करेंगे। प्राचीन मिस्र में राजा या 'फाराओ' 'रा' (सूर्य) देवता का पुत्र माना जाता था। सार्वजनिक यज्ञ का संचालन और देवता से किसी बात की याचना करने का अधिकार केवल उसे ही था। प्राचीन बॅबिलोनिया और असीरिया में भी राजा ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते थे और देवताओं की भाँति पूजा के भाजन होते थे। प्राचीन ग्रीस में भी राजा देवाधिदेव झ्यूस के वंशज माने जाते थे। देवताओं की इच्छा जानने की भी शक्ति केवल उन्हीं में थी। १० ई० के बाद प्राचीन रोम के सम्राट मरने के बाद देवता घोषित कर दिये जाते थे और उनकी पूजा के लिए मन्दिर भी बनाये जाते थे। पोप की धार्मिक आज्ञाएँ उनके देवत्व के कारण शिरोधार्य करना आवश्यक है, ऐसा ईसाई मत था। धीरे-धीरे लोग धार्मिक आज्ञाओं के साथ-साथ शासन-विषयक आज्ञाओं को भी वैसा ही समझने लगे। सोलहवीं सदी में ईसाई धर्म में जो सुधारकपन्थ (Reformation) उत्पन्न हुआ, उसके कारण पोप के देवत्व पर आघात हुआ। किन्तु जो राजा पोप का विरोध करते थे, उनका देवत्व समाज धीरे-धीरे मानने

१ नेचर ऑफ स्टेट, पृ० ४२-३

लगा। राजाओं की ओर से चार प्रकार के दावे रखे गये। (१) नृपतंत्र परमेश्वर-प्रणीत है। (२) राजा का अनुवंशत्व स्वतः सिद्ध है। (३) राजा की जवाबदेही केवल परमेश्वर की ओर है, न कि किसी पार्लमेंट की ओर। (४) यह प्रजा का परमेश्वरविहित कर्तव्य है कि वह राजाज्ञाओं का प्रतिकार न करें व उनका अच्छी तरह से पालन करें। १७वीं और १८वीं सदी के यूरोपीय विचारकों के मत का ऊपर उल्लेख हो ही चुका है।

राजा के सम्बन्ध की अन्य धारणाएँ

अब तक हमने राजा के देवत्व सम्बन्धी धारणाओं का विवेचन किया है। राजा के पद का महत्व ठीक-ठीक समझने के लिए उसके सम्बन्ध में प्रचलित अन्य धारणाओं पर भी विचार आवश्यक है।

राजा का व्रत-परिपालकत्व

वैदिककाल से ही राजा धर्म का रक्षक, पोषक और समर्थक समझा जाता रहा है। वैदिककाल के राजा का आदर्श ऋत और धर्म की रक्षा करनेवाले धृत-व्रत वरुण देव थे। राजा केवल लाक्षणिक रूप में देवतांशी था। मगर विधिनियम साक्षात् देवदत्त माने जाते थे और यह अनिवार्य था कि राजा उनका पालन करे। राजत्व सर्वस्वेण धर्माधिष्ठित है धर्म से बढ़कर कुछ दूसरी चीज नहीं है अतः धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्तव्य है[१]। संसार के सर्वप्रथम राजा वेण को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुतिस्मृतियों में जो धर्म कहा गया है मैं उसका पूरा पालन करूँगा और कदापि मनमानी न करूँगा[२]। राजा का उत्तर-दायित्व बहुत बड़ा था। वह प्रजा का नेता था और प्रजा उसका अनुगमन करती थी अतः उसका आचरण आदर्श होना चाहिये। प्रजा के रोग, शोक और कष्ट का कारण राजा का कर्तव्यच्युत होना ही समझा जाता था। एक लेखक कहता है कि यदि राजा अन्यायी हो जाय तो शक्कर और नमक भी अपना स्वाद खो देते हैं[३]। जातकों में इस विषय पर जनता के मत की अभिव्यक्ति बहुत अच्छी तरह हुई है। किसान के बैल को हल से चोट लग गयी, इसका दोष भी राजा को ही दिया गया, एक ग्वाला दुष्ट गाय द्वारा मारा जाता है इसका दोष भी राजा के मत्थे। यहाँ तक कि भूखे कौओं द्वारा काटे जाने पर मेढक भी राजा को ही दोष

---

१ तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। बृ. उप, १. ४. १४

२ यश्चात्र धर्म इत्युक्तो धर्मनीतिव्ययाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ म. भा. १२. ५९, ११६

३ जातक भाग तृतीय, पृ. १११।

देते हैं[1]। लोगों का विश्वास था कि धर्म और सदाचार से ही सुख मिलता है और उनकी वृद्धि तभी हो सकती है जब राजा स्वयं उनके आदर्श बने। अतः यह स्वाभाविक था कि यदि राजा धर्म-पालन नहीं करें तो प्रजा के कष्टों की जिम्मेदारी उस पर रक्खी जाय।

प्राचीन तमिल ग्रंथ मणिमेखला में भी ऐसी ही विचार-सरणी पाई जाती है। वहाँ (७.५.८-१२) कहा गया है कि यदि राजा अधर्मी हो, तो आकाश के ग्रह भी अपने-अपने पथों पर नहीं चलेंगे, यथाकाल वर्षा नहीं होगी, जिसके फलस्वरूप अकाल आ जायगा व सब प्राणिमात्र मर जायेंगे।

राजा का प्रजा-सेवकत्व

राजा के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण धारणा यह भी थी कि वह प्रजा का सेवक[2] समझा जाता था। एक प्राचीन धर्म-सूत्र लेखक बौधायन का कथन है कि राजा वास्तव में प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग जो कर में दिया जाता है वही उसका वेतन है। नारद भी कर को राजा द्वारा प्रजा की रक्षा का पारिश्रमिक कहते हैं। अपरार्क कहते हैं कि बिना प्रयोजन कोई भी किसी को कुछ नहीं देता अतः राजा से अपनी रक्षा की आशा में ही प्रजा उसे कर देती है[3]। यतः प्रजा राजा को भरपूर वेतन देती है अतः उसे भी भृत्य और दास की भाँति उसकी सेवा करनी चाहिये[4]।

राजा का थातित्व

राजपद को थाती (trustee) समझने की धारणा भी प्राचीन भारत में वर्तमान थी। राजा को खास तरह से चेता दिया जाता था कि राजकोष उसकी निजी संपत्ति न थी बल्कि जनता की थाती थी और विश्वास के नाते ही वह उसका उपयोग केवल सार्वजनिक हित के लिए कर सकता था। यदि राजा सार्वजनिक

---

१ जातक भाग पंचम पृ. १०१—७।

२ षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्। बौ. ध. सू., १, १०. ६

३ सर्वो हि धनं प्रयच्छन्नात्मसमवायि प्रयोजनमुद्दिशति। न च करदानस्य स्वगुप्तेरन्यत्प्रयोजनमस्ति। तस्मात्करमाददानेन प्रजापालनं विधेयमिति सिद्धम्॥ या. स्मृ. १. ३६६ पर टीका

४ सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवत्स्यात्तु रक्षणे। शुक्र, ४. २. १३०।

धन का दुरुपयोग करे और उसे अपने निजी काम में लगावे तो वह नरक का भागी होता है[1]।

कुछ राज्यशास्त्रियों के मत में तो राजा का काम विश्वस्त या थातीदार के काम से भी कठिन और दुर्वह होता है। विश्वस्त का कर्तव्य यह है कि वह अपने सुपुर्द कार्य ठीक तरह से करे। यदि वह अच्छी देखरेख करता है और उससे किसी प्रकार का व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाता तो उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। विश्वस्त के नाते कर्तव्य पालन करने में उससे स्वार्थत्याग की अपेक्षा नहीं की जाती। पर आदर्श राजा का स्वार्थत्याग भी कर्तव्य है। जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपने उदरस्थ शिशु को हानि पहुँचाने की आशंका से अपनी इच्छाओं का दमन और सुखों का त्याग करती है उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के भले के सामने सुख और इच्छाओं की परवाह नहीं करनी चाहिये[2]।

राजा के निरंकुशता पर वैधानिक रोक

अस्तु इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीय शास्त्रकार आदर्श राजा उसे ही मानते थे जो अपना जीवन प्रजा-पालन के लिए न्योछावर कर दे। परंतु मनुष्य स्वभावतः दुर्बल है और औसत दर्जे के राजा से इस उच्च आदर्श के सांगोपांग निर्वाह की आशा हमेशा नहीं की जा सकती। अभी देखना यह है कि स्वेच्छाचारी राजा की मनमानी से प्रजा की रक्षा का कोई उपाय किया गया था या नहीं। राजा की शक्ति को निरंकुश न होने देने के लिए उसपर कुछ रोक की व्यवस्था थी या नहीं।

प्रारंभ में ही यह स्वीकार कर लेना अच्छा होगा कि प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा राजशक्ति पर आधुनिक स्वरूप के कोई वैधानिक रोक लगाने की व्यवस्था नहीं की गयी थी। संभवतः वैदिककाल की लोकसभा या समिति द्वारा राजा की शक्ति पर रोक रहती थी, कुछ वैदिक उद्धरणों से पता चलता है कि समिति के प्रतिकूल होनेपर राजा का अपने पद पर कायम रहना कठिन हो जाता था। पर क्रमशः समिति की शक्ति कम होती गयी, ५०० ई० पू० तक वह लुप्त-

---

१ बलप्रजारक्षणार्थं धर्मार्थं कोषसंग्रहः।
परत्रेह सुखदो नृपस्यान्यस्तु दुःखदः॥
स्त्रीपुत्रार्थं कृतोयश्च स्वोपभोगाय केवलम्।
नरकायैव स ज्ञेयो न परत्र सुखप्रदः॥ शुक्र, ४. २. ३-५।

२ नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत्॥ अग्निपुराण, २२२.८।

प्राय हो गयी और उसके स्थान पर दूसरी किसी लोकप्रिय संस्था की स्थापना न हो सकी। राजा को अपने न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति को नियमभंग करने पर दंड देने का अधिकार था। यदि राजा अपने अधिकार के दुरुपयोग करने पर उतारू हो जाय तो उसे रोकनेवाली समिति या सभा जैसी कोई लोकप्रिय संस्था भी न थी। साधारणतः अमात्य-मंडल राजा पर अंकुश रखता था पर अमात्य का पद राजा की ही इच्छा पर निर्भर था अतः जनमत की परवाह न करनेवाले निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजा की रोक-टोक करना उनकी सामर्थ्य से परे था।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि पार्लमेंट या प्रतिनिधि-सभा राजकाज का खर्च देने से इन्कार करके राजा की शक्ति का जिस प्रकार वैधानिक नियंत्रण करती है, वह उपाय भी आधुनिककाल की ही घटना है। प्राचीन यूरोप में भी यह अज्ञात था। अत्याचारी राजा का विचार करनेवाला न्यायालय प्राचीन भारत में ही नहीं यूरोप में भी वर्तमान न था। अतः प्राचीन भारतीय ये उपाय तो न निकाल सके पर जो उपाय उन्होंने निकाले वे भी साधारणतः कम सफल न थे।

प्राचीन भारत में धार्मिक और पारलौकिक दंडों का बड़ा डर था और हमारे विधानशास्त्रियों ने राजा की शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए इस भावना का पूरा उपयोग किया है। सभी शास्त्रकारों ने एकमत से कहा है कि प्रजा का पीड़न और सार्वजनिक धन का अपव्यय करनेवाला राजा घोर पाप करता है और निश्चय नरक का भागी होता है। नरक का भय कैसा भयानक होता था इसकी कल्पना आधुनिक काल में करना कठिन है।

राजा का पद लोग कुछ हद तक दिव्य मानते थे पर विधि-नियम और रूढ़ियों को उससे भी अधिक दिव्य समझते थे। राज्याभिषेक के समय राजा को उनके पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और उनमें परिवर्तन करने का उसे अधिकार न था।

समुचित संस्कार और शिक्षा के अभाव से राजाओं में अक्सर स्वेच्छाचार और निरंकुशता की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः बाल्य और किशोरावस्था में राजकुमार की शिक्षा और संस्कार की व्यवस्था करने पर शास्त्रकारों ने बहुत ध्यान दिया है। बड़े ही प्रभावकर शब्दों में वे कहते हैं कि राजा को विनयी, शांत, सदाचारी और धार्मिक होना चाहिये; उसे वाणी में मधुर, व्यवहार में शिष्ट, गुरुजनों की अभ्यर्थना में उत्सुक, सत्संगति का प्रेमी और लोकमत का ध्यान रखनेवाला होना चाहिये; उसे रणविद्या और शासनकला में निपुण होना चाहिये। शिक्षा और संस्कार द्वारा उपर्युक्त गुणों का बीजारोपण जिस राजा में किया जा

चुका है वह कदापि अपने कर्तव्य का उल्लंघन करने वाला और प्रजा का पीड़न करनेवाला नहीं हो सकता।

परंतु यदि राजा को उपयुक्त शिक्षा न मिले अथवा शिक्षा द्वारा भी उसकी दुष्प्रकृति का शमन न हो सके तो? यदि वह लोकमत की परवाह न करे, बड़े-बूढ़ों, गुरुओं और मंत्रियों के उपदेश का अनादर करे, नरक का भय भी उसके स्वेच्छाचार को न रोक सके, तो प्रजा का क्या कर्तव्य है?

हम पहले ही देख चुके हैं कि हमारे शास्त्रकारों ने अत्याचारी राजा की आज्ञा के पालन का समर्थन नहीं किया है। वे अत्याचार का प्रतिरोध करना प्रजा का कर्तव्य समझते हैं। पर उन्होंने इसका विवेचन नहीं किया है कि प्रतिरोध कब उचित है और उसका रूप या उसकी सीमाएँ क्या हों। संभव है उन्हें यह आशंका रही हो कि इस विषय पर खुलकर चर्चा करने से अराजकता को उत्तेजन मिले।

परंतु हमारे शास्त्रकार एक क्षण को भी यह कल्पना नहीं करते कि प्रजा चुपचाप अत्याचार सहन कर लेगी। वे कहते हैं कि जनता अत्याचारी राजा को चेतावनी दे कि यदि तुम अपना व्यवहार नहीं बदलते तो हम तुम्हारा राज्य छोड़ कर दूसरे सुशासित राज्य में चले जायँगे[1]। उन्हें आशा थी कि प्रजा के राज्य-त्याग द्वारा कर की हानि के डर से राजा के होश ठिकाने आ जायँगे। पर यदि वह इस पर भी न सुधरे तो प्रजा उसे गद्दी से उतार कर उसके कुल के किसी गुणवान व्यक्ति को उसके पद पर बिठा दे सकती थी[2]। इतना ही नहीं यदि और कोई उपाय न रह जाय तो महाभारत ने स्पष्ट शब्दों में अत्याचारी राजा के वध की भी अनुमति दी है[3]। राज्य-शास्त्र के ग्रंथों में इस प्रकार मारे जानेवाले राजाओं के नाम भी दर्ज हैं। वेण राजा इनमें से एक था जिसे ऋषियों ने देवत्व

---

१ अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः।
धर्मशीलातिबलवद्रिपोराश्रयतः सदा॥ शुक्र, ४. १.३।

२ गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोप्यधार्मिकः।
नृपो यदि भवेत्तं तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥
तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये॥ शुक्र, २. २७४-५

३ अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः संनह्य निर्घृणम्॥ म. भा. १३. ८६. ३५-६

की दुहाई देने पर भी मार डाला। जनता की रोषाग्नि में भस्म होनेवाले राजाओं में नहुष, सुदास, सुमुख और निमि भी हैं। यह उल्लेखनीय है कि राजा के देवत्व का समर्थन करनेवाले मनु ने राजाओं को उपर्युक्त अत्याचारियों के दृष्टांत से शिक्षा लेने की सलाह दी है। जातकों में भी प्रजा द्वारा अत्याचारी राजाओं के वध की अनेक कथाएँ हैं[1]।

प्रजा को अत्याचारी राजा के वध का अधिकारी मानने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन शास्त्रकार प्रभुता या सार्वभौमता का स्रोत जनता को ही मानते थे। पर विद्रोह के सिवा इसके उपयोग का कोई शांतिमय उपाय न था। अतः इसे वैधानिक अधिकार न कहकर विधानातीत ही कहना पड़ेगा। यह भी मानना होगा कि यह उपाय काम में लाना कठिन था।

अत्याचारी राजा के नियमन का अधिक सुलभ और व्यावहारिक उपाय होना चाहिये था, पर हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीनकाल में किसी अत्याचारी राजा को गद्दी से उतारना या मारना बहुत कठिन भी न था। जातकों में इस प्रकार की घटनाओं के बहुत उल्लेख मिलते हैं। प्राचीनकाल में एक ओर स्थायी और वेतनभोगी सेना का भी बहुत रिवाज न था दूसरी ओर ग्रामों और नगरों में लोकसेनाएँ भी रहती थीं जिनके शस्त्रास्त्र राजकीय हथियारों से किसी निम्नकोटि के न होते थे। अतः विद्रोह की सफलता की संभावना सर्वथा असंभव न थी। देश में सामन्तों और सरदारों की भरमार थी। इनमें से या राज्य के मंत्रियों और उच्चपदाधिकारियों में से अत्याचारी राजा के प्रतिरोध के लिए नेता निकल ही आते थे। मौर्य और शुंग वंश के अंतिम शासकों और राष्ट्रकूट चतुर्थ गोविंद का अंत अत्याचारपीड़ित जनता, मंत्रियों और सामंतों के विद्रोह द्वारा ही हुआ। प्राचीनकाल में अत्याचारी राजा के स्थान पर अच्छे शासक को बैठाना जनता के लिए उतना दुष्कर न था जितना आजकल है, जब राज्य के पास टैंक, विमान और अणु-बम का बल है और जनता को अपने हाथ में अधिक से अधिक लाठी और तलवार का ही सहारा है।

अस्तु राजशक्ति के साधारण प्रतिबंध, नरक और लोकमत की परवाह न करने वाले राजा को, न्याय-पथ पर रखने में असमर्थ थे। व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से वे आधुनिक लोक-तंत्र और प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों के विधान की भी बराबरी न कर सकते थे। पर यह न भूलना चाहिये कि अति प्राचीन

---

१ देखिये 'सच्चंकिर' और 'पदकुसल-मानव' जातक।

वैदिककाल में जब राज्य ग्रीक नगर-राज्यों की भाँति छोटे होते थे, समिति जैसी लोकप्रिय संस्थाएँ राजाओं का उसी प्रकार नियंत्रण करती थीं जैसी कोई आधुनिक प्रतिनिधि सभा कर सकती है। उस काल में राजा के लिए इससे बड़ी कोई विपत्ति कल्पित न की जा सकती थी कि समिति से उसका विरोध हो जाय[१]। परंतु जब राज्य अधिकाधिक विस्तृत हो गये तब यातायातों के जल्द और सुलभ साधनों के अभाव से समिति के सभासदों का एकत्र होना दुष्कर हो गया। हमें यह भी न भूलना चाहिये कि प्रतिनिधि-मूलक लोकतंत्र की कल्पना, जिसमें जनता का प्रतिनिधित्व केंद्रीय प्रतिनिधि-सभा द्वारा होता है, ३०० वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। अतः प्राचीन ग्रीस और रोम की भाँति यदि प्राचीन भारत में भी उसका अभाव हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

यह भी न समझना चाहिये कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने सब-कुछ नरक के भय, लोकमत के प्रभाव या विद्रोह की सम्भावना पर ही छोड़ दिया था। उन्होंने ग्राम, नगर और प्रादेशिक पंचायतों और सभाओं को शासन के व्यापक अधिकार देकर और विविध कार्य सौंप कर शासन के विकेंद्रीकरण का प्रतिपादन मात्र ही नहीं उसे व्यावहारिक रूप भी दे दिया था[२]। इन संस्थाओं में जनता का पूरा हाथ रहता था और इनके माध्यम से ही राज्य प्रजा के संपर्क में आता था। राजा चाहे कितने ही कर लगा दे पर प्रायः वसूली केवल उन्हीं की हो सकती थी जिसे ग्राम-सभा वसूल करने को तैयार होती थी। इन स्थानीय संस्थाओं को न्याय के भी पर्याप्त अधिकार थे, जिससे राजा के हाथ से एक और विभाग निकल जाता था जो अत्याचार का प्रमुख साधन बन सकता था। स्थानीय संस्थाओं को अपनी सीमा में उगाहे जानेवाले भूमिकर तथा अन्य करों के पर्याप्त अंश पर भी अधिकार रहता था। इनका उपयोग जनता की इच्छानुसार सार्वजनिक हित के कार्यों में किया जाता था। गाँव के अधिकारी भी अधिकतर राज्य से तनख्वाह लेनेवाले कर्मचारी न थे, प्रायः उनका पद और अधिकार आनुवंशिक होता था। केंद्रीय सत्ता से संघर्ष उपस्थित होने पर वे स्थानीय संस्था का ही साथ प्रायः देते थे। अस्तु, ग्राम और नगर संस्थाएँ बहुंश में छोटे-छोटे प्रजातन्त्र ही थे जिनमें जनता की ही चलती थी। अतः अत्याचारी राजा का शासन साधारणतः राजधानी के परे न चल पाता था।

---

१ नास्मै समितिः कल्पते। अ. वे., ५. १९. १५

२ नवम अध्याय देखो

अस्तु, राजा की शक्ति पर सबसे बड़ी रोक प्राचीन भारत में प्रचलित व्यापक विकेंद्रीकरण की ही थी। आधुनिक प्रकार के प्रतिबन्ध इसलिए न लगाये जा सके कि प्रतिनिधि-तन्त्र की कल्पना १९वीं शताब्दी के पहले पूर्व और पश्चिम दोनों में अज्ञात थी।

राजपद की प्रतिष्ठा व महत्ता

(ई० पू० ५०० के पहले)

राजपद की प्रतिष्ठा व महत्ता किस प्रकार की थी, इस विषय पर हम अभी विचार करेंगे।

अलग-अलग काल-खंड में राजा की प्रतिष्ठा विभिन्न प्रकार की थी। प्रागैतिहासिककाल में राजा का आसन अस्थिर था व उसकी सत्ता नियन्त्रित थी। उस समय राजा अमीर-सभा का केवल अध्यक्ष था। औपचारिक या अनौपचारिक निर्वाचन से ही उसे अध्यक्षत्व मिलता था और समिति राज्य-शासन पर काफी नियंत्रण रखती थी। वैदिककाल के दुष्टर्तु, दीर्घश्रवस्, सिंधुसित् इत्यादि राजा सिंहासन से निकाले गये थे। ऐसी आपत्ति न उत्पन्न हो, इसलिए राजा का पुरोहित हमेशा प्रार्थना करता रहता था। राजा को प्रजा से कर भी निश्चित समय या रूप में नहीं मिलता था[1]। राज्याभिषेक के समय, इन्द्रदेव प्रजा को नियमित कर-भार देने के लिए बाध्य करें, ऐसी प्रार्थना की जाती थी[2]।

जब तक राज्य का क्षेत्र छोटा था, तब तक सभा या समिति आसानी से राजधानी में बैठकर राज्यसंचालन कर सकती थी; किन्तु जब राज्य का विस्तार विशाल हुआ, तब समिति का बार-बार मिलना कठिन होने लगा और विश्पति व कुलपतियों के अधिकार भी कम होने लगे। फलस्वरूप राजा के अधिकार व ऐश्वर्य बढ़ने लगे। एकराट्, अधिराट्, सम्राट् इत्यादि शब्दों का प्रयोग ऋग्वेद में आता है[3]। इसमें संदेह नहीं है कि इन शब्दों से निर्दिष्ट राजाओं की प्रतिष्ठा मामूली राजा से अधिक थी।

उत्तर वैदिककाल में राजा की प्रतिष्ठा व ऐश्वर्य बढ़ने लगे। राजास्तुति के सूत्रों से मालूम होता है कि राजा धनी और सम्पन्न थे। उनका पशुधन विशाल था; उनकी निजी जमीन भी विस्तृत थी और प्रजा उनको कर भी प्रायः नियमित

---

१ यत्र शुल्कों न क्रियते अबलेन बलीयसे। अ. वे., ३.२९.३

२ अथा ते इन्द्र केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्। अ. वे. १०१७३.६

३ ऋ. वे. २.२८.१; ७.३७.३; १०.१२८,९; १.३५-१०

रूप से देती थी। अथर्ववेद के अनुसार राजा अतुल्य योद्धा था, प्रजा में उसका स्थान सर्वश्रेष्ठ था व उसकी संपत्ति विपुल थी। वहाँ राष्ट्र पर राजा के प्रभुत्व के जमने के लिए प्रार्थना की गयी है[1]। एक यज्ञ के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र राजा को एक-एक गाय अर्पित करते हैं[2]। इससे यह प्रतीत होगा कि संपूर्ण प्रजा पर राजा का स्वामित्व प्रस्थापित हो चुका था। उसके अधिकार अधिकाधिक विस्तृत होने के कारण उसके क्रोध से लोग डरने लगे थे[3]।

समाज में शांति व सुव्यवस्था बनाये रखना व विदेशी हमलों से राज्य को सुरक्षित रखना राजा का सर्वप्रथम कर्त्तव्य था। प्रजा के द्वारा परंपरागत आचारों व विधियों का पालन कराना भी उसका कार्य था। राजधानी के वरिष्ठ न्यायालय का वह अध्यक्ष रहता था। किन्तु मामूली मुकदमों का निर्णय ग्रामपंचायतें करती थीं। राज्य-कार्य के संचालन में सेनापति, ग्रामणी, संग्रहीता इत्यादि अधिकारी उसे सहायता प्रदान करते थे।

राजपद की प्रतिष्ठा व महत्ता
(ई० पू० ५०० से आगे)

ई० पू० ५०० से आगे बड़े विस्तार के राज्य अस्तित्व में आने लगे और फलस्वरूप राजा की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। समिति के नष्ट होने के कारण राजा के अधिकार अधिक विस्तृत होने लगे। स्वेच्छाचारी व जुलमी राजाओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

राजा के संरक्षण के लिए विशेष खबरदारी ली जाने लगी। शिकार आदि के कारण बाहर जाने के समय रास्ते कैसे रक्खे जाते थे व राजा से भेंट करने के लिए आने वालों की कैसी छानबीन की जाती थी इसका वर्णन अर्थशास्त्र १-२१ में मिलता है। शरीर-संरक्षकों का शस्त्रों से सुसज्जित दल आस्थानमण्डप में हमेशा राजा की रक्षा के लिए तैयार रहता था। राजा के सोने व रहने के कमरे बारबार बदले जाते थे जिसमें उसे मार डालने का षड्यन्त्र सफल न होने पावे। विषप्रयोग की आशंका के कारण उसके अन्न की पहले ठीक-ठीक परीक्षा की जाती थी।

शुक्रनीति, मानसोल्लास इत्यादि ग्रंथों में राजदरबार का विस्तृत वर्णन आता है। दरबार-भवन के मध्य में राजा का रत्नविभूषित सिंहासन रखा जाता था,

---

१ अ. वे., ४.२२

२ तै. सं., ८.१६; तै. ब्रा., १.७.१०

३ अन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः। अ. वे., ६.४०.२

उसके एक ओर छत्रधारी व दूसरे ओर चौरीधारी चपरासी खड़े रहते थे। शरीर रक्षकों का दल समीप ही तैयार रहता था। राजा के पीछे उसके पुत्र, पौत्र, व भागिनेय बैठते थे। उसकी बायीं ओर चचा के व लड़की के पुत्र, सेनापति इत्यादि अधिकारी व दाहिनी ओर नाना, जामाता व मन्त्रिगण इत्यादि अधिकारी अपने-अपने आसनों पर विराजमान होते थे। राजवैद्य, राजकवि व राजज्योतिषियों को भी उचित आसन दिये जाते थे।

राजा का पराक्रम व गौरव वर्णन करने वाले श्लोकों के गाने वाले चारणगण राजा के प्रवेश की घोषणा करते थे। जुलूस के आगे राजा रहता था; उसके पीछे रानियाँ, राजकुमार, मन्त्री व उच्चाधिकारी; उनके पीछे वे सामंत राजा व प्रांताधिपति जो राजधानी में राजा से मिलने के लिए आये हुए थे। जब सब लोग आसन पर बैठ जाते थे, तब पराजित राजाओं को प्रवेश करने की अनुमति दी जाती थी। वे आकर पहले साष्टांग नमस्कार करते थे और पीछे निर्दिष्ट आसनों पर बैठते थे।

सम्भव है कि राजपुत्र, सामन्त, अधिकारी इत्यादि के जो स्थान शुक्रनीति व मनसोल्लास में दिये गये हैं उनके अनुसार सर्वत्र आयोजन नहीं किया जाता हो। किन्तु ऊपर के वर्णन से राजदरबार की काफी स्पष्ट कल्पना पाठकों को मिलेगी।

इस काल-खंड में समिति या लोकसभा लुप्त हो गयी व राजा ही राज्य-कार्य का मुख्य बन गया। सेनापति व कोषाध्यक्ष अलग होते थे, किन्तु सेना व कोष पर राजा का ही प्रभावकारी नियन्त्रण रहता था। दूसरे देशों से किस प्रकार के सम्बन्ध रहें, किनके साथ शांति रखनी है, किनके खिलाफ युद्ध शुरू करना है इत्यादि प्रश्नों पर राजा ही आखिरी निर्णय करता था। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा ही करता था। यदि उनका कार्य राजा को पसन्द न होता था, तो उनको पद-त्याग करना पड़ता था। मन्त्रिमण्डल की बैठक प्रायः राजा की अध्यक्षता में होती थी। यदि राजा उसमें भाग लेने में असमर्थ होता, तो मन्त्रिमण्डल के प्रस्ताव उसके सामने अनुमति के लिए रखे जाते थे। परंपरा के अनुसार अनेक कर वसूले जाते थे; किंतु करों के बारे में राजा अदल-बदल भी कर सकता था। कानून बनाने का अधिकार राजा को नहीं था। किंतु परम्परागत विधि-नियमों के माफिक उसके आदेशों का भी पालन करना प्रजा को आवश्यक था। मौर्य सम्राट् अशोक, चौलुक्य राजा कुमारपाल इत्यादि के आदेश-लेख सुप्रसिद्ध ही हैं, जिनका अपने धर्मविहित आचारों के खिलाफ रहते हुए भी हिन्दू प्रजा को पालन करना पड़ता

था। राजा समय-समय पर दौरा करते थे, जब वे प्रजा की परिस्थिति देखकर, उनकी कठिनाइयों के दूर करने की चेष्टा करते थे और सामंतों से कर इकट्ठा करते थे। राजधानी में राजा को गुप्तचरों के द्वारा राज्य की विविध घटनाओं का ज्ञान होता था। सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश की हैसियत से अपीलों को सुनकर राजा निर्णय देता था। अपने जन्मदिन या विजय के उपलक्ष में अपराधियों को माफी देकर वह छोड़ भी सकता था। राजा के अधिकार इस प्रकार विशाल थे व कर्त्तव्यक्षेत्र विस्तीर्ण। किन्तु हर एक राजा अपनी-अपनी योग्यता व व्यक्तिगत झुकाव के अनुसार अपना कार्यक्षेत्र निश्चित करता था।

समिति या लोकसभा के लुप्त होने के कारण राज्याधिकार-क्षेत्र राजा व मन्त्रिमण्डल में विभाजित रहता था। 'राजायत्त-तन्त्र' में प्रायः सर्व सत्ता राजा के हाथों में रहती थी, 'सचिवायत्त-तन्त्रों' में मन्त्रियों के हाथों में। किन्तु प्रायः बहुसंख्य राज्यों में राजा व मन्त्री इन दोनों के हाथों में राज्यसत्ता विभाजित रहती थी, व ऐसे राज्यों को 'उभयायत्त-तन्त्र' कहते थे। इनमें राजा व उसके मन्त्री सब समस्याओं पर विचार करके अन्तिम निर्णय संयुक्त जिम्मेदारी के आधार पर करते थे। किन्तु मन्त्री लोकसभा के बजाय राजा के प्रति जिम्मेदार थे अतः राजसत्ता ही अधिकाधिक प्रभावशाली हो रही थी।

अध्याय ६

गणराज्य या प्रजातन्त्र

●

पिछले अध्याय में हमने नृपतंत्र का विवेचन किया है। अब हम राज्य के दूसरे प्रकारों का जिसमें लोकतंत्र और उच्चवर्गतंत्र या अभिजनतंत्र आदि आते हैं विवेचन करेंगे।

कुछ लेखकों का मत है कि प्राचीन भारत में केवल नृपतन्त्र का ही प्रचलन था ; जिन राज्यों को प्रजातन्त्र समझा जाता है वे वास्तव में जन-राज्य या ज्ञाति-राज्य थे। इस मत के अनुसार मालव गण और यौधेय गण का अर्थ मालव और यौधेय प्रजातन्त्र नहीं वरन् मालव और यौधेय (ज्ञाति) राज्य है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। यदि हम मान भी लें कि मालव और यौधेय गण या ज्ञातियाँ थीं तो भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि इनकी राज्य-व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक थी। यह निर्विवाद सिद्ध है कि गण का अर्थ एक विशिष्ट राज्य-व्यवस्था है जो नृपतन्त्र से नितांत भिन्न है। मध्यप्रदेश के कुछ व्यापारियों से दक्षिण के एक राजा ने पूछा कि आपके देश में कौन राजा राज्य करते हैं तो उन्होंने उत्तर दिया कि महाराज हम में से कुछ ऐसे देश के हैं जहाँ राजा का राज्य है पर औरों के देश में गणतंत्र की व्यवस्था है[1]। एक जैन ग्रन्थ में कहा गया है कि जैन साधु ऐसे देश में न जायँ जहाँ राजा न हो, या जहाँ युवराज का राज्य हो या जहाँ आपस में लड़ने वाले दो राजाओं (द्विराज्य) का राज्य हो या जहाँ गणराज्य हो[2]। इन दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि गण का एक निश्चित वैधानिक अर्थ है और इससे ऐसे राज्य का बोध होता है जहाँ अधिकार एक आदमी के हाथ में न होकर गण अथवा अनेक व्यक्तियों के हाथ में होता था। ठीक इसी अर्थ में 'संघ' शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। अतः जब सैकड़ों मुद्राएँ हमारे सामने हैं जिन पर के छोटे लेखों में यौधेय, मालव और अर्जुनायन राजाओं का नहीं

---

१ देव केचिद्देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः। अवदानशतक, २. पृ. १०३

२ अरायणि वा गणरायणि वा जुवरायणि वा दोरज्जणि वा वेरज्जणि वा विरुद्धरज्जणि वा। आचारंग सूत्र, २. ३. १. १०१

वरन् उनके गण का उल्लेख है तो उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उनका तात्पर्य जन या ज्ञाति से नहीं वरन् गण या लोकतंत्र राज्यव्यवस्था से है जिसकी ओर से उक्त मुद्राएँ जारी की गयी थीं।

मुद्रा-लेखों और पारिभाषिक शब्दों के अतिरिक्त प्राचीन भारत में राज्यतंत्र से भिन्न प्रकार के प्रजातंत्रों का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमारे पास सम-सामयिक यूनानी लेखकों के विवरणों का बहुमूल्य प्रमाण भी है। कुछ लोग इन प्रमाणों को संदिग्ध समझते हैं[१]। वे कहते हैं कि यूनानी इतिहासकारों ने जबर्दस्ती भारतीय राज्यव्यवस्था को अपने देश में प्रचलित व्यवस्था से मिलाने की चेष्टा की है। यह तर्क विचित्र है। प्राचीन यूनान में जितनी राजनीतिक सिद्धांतों और मूलतत्वों की चर्चा और विवेचन और शासन-व्यवस्था का अध्ययन और विश्लेषण हुआ था उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ था। यूनानी इतिहास-लेखकों ने प्राचीन भारत में नृपतंत्र और अनेक प्रकार के प्रजातंत्र दोनों देखे थे। वे स्वयं लोकतंत्र के समर्थक थे और कोई कारण नहीं कि वे झूठ-मूठ अपने शत्रुओं में ऐसी राज्यव्यवस्था का अस्तित्व सिद्ध करना चाहें जिसे वे अपने गौरव का विषय मानते थे। उनके लेखों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि उन्होंने भिन्न प्रकार के राज्यों की विभिन्नता का बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। आंभी और पुरु दोनों सिकन्दर के समकालीन राजा थे। यूनानी लेखकों का कथन है कि जब पुरु ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली तो सिकन्दर ने अपना जीता हुआ बहुत बड़ा भूमिभाग उसको प्रदान कर दिया; यूनानी इतिहासकार बड़ी सावधानी से कहते हैं कि उस प्रदेश में प्रजातंत्रात्मक राज्यव्यवस्था थी[२]। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि न्यासा के नगर-राज्य में उच्चवर्गतंत्र प्रचलित था[३]। वे आगे जाकर कहते हैं कि सबरक नामक प्रबल भारतीय ज्ञाति में प्रजा-तंत्र था, नृपतंत्र नहीं। व्यास नदी के पूर्व एक शक्तिशाली राज्य अवस्थित था जिसका शासन उच्चवर्ग के हाथ में था, जो जनता पर न्याय से और सौम्यता से शासन करता था। सिंधु नदी की घाटी में बहुत से प्रजातंत्रीय राज्य थे मगर उनका वर्णन करने से यूनानी इतिहासकार जो वहाँ इनेगिने नृपतंत्रात्मक राज्य थे उनका उल्लेख करना नहीं भूले हैं। वे लिखते हैं कि मुसिक राज्य पर एक राजा का राज्य है और पाटल में भिन्न कुल के दो राजाओं का राज्य है जो लोक-समिति

---

१ वेणीप्रसाद, स्टेट। १६८-९। मैकक्रिंडल, अलेक्जेंडर्स इनवेजन,

२ पृ. ३०८-९ ३—वही पृ. ८१ ३—वही पृ. २५२, ४—पृ. १२१

की सलाह से एक साथ राज्य करते हैं। जब हम देखते हैं कि यूनानी लेखकों ने शासनपद्धति और राज्य-व्यवस्था की विभिन्नता का किस सूक्ष्मता से वर्णन किया है तब हमें उनके वर्णनों की प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ती है और यह विचित्र तर्क अस्वीकार करना पड़ता है कि उन्होंने केवल यूनान से समता दिखाने के लिए अपने मन से भारत में प्रजातंत्र राज्यों का वर्णन दिया है। मैकक्रिंडल का यह मत भी निस्सार है कि यूनानी लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातंत्रात्मक राज्य वास्तव में ग्राम-संस्थाएँ थीं[१]। यूनानी लेखकों ने तो ग्राम-जीवन या ग्राम-शासन का उल्लेख भी नहीं किया है। फिक का यह मत है कि ग्रीक लेखकों द्वारा वर्णित प्रजातंत्र या स्वयंशासित राज्य छोटी-छोटी रियासतें या एक्के-दुक्के नगर थे जो मगध जैसे बड़े-बड़े साम्राज्यों के अड़ोस-पड़ोस में रहते हुए और किसी प्रकार अपनी स्वायत्तता को बनाये रख सके थे[२]। परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है। एक तो सिकन्दर के समय में पंजाब में कोई बड़ा साम्राज्य भी न था दूसरे उस समय के प्रजातंत्रात्मक राज्य राजाओं द्वारा शासित राज्यों से कहीं अधिक विस्तृत और शक्तिवान थे।

अभी तक हमने इन राज्यों के लिए प्रजातंत्र शब्द का सामान्य प्रयोग किया है। अब हमें इनका प्रकृत स्वरूप निश्चित करना है। कुछ लेखक इनकी शासन-संस्था को केवल ज्ञाति या जन की पंचायत बताते हैं। कुछ दूसरे उसको उच्च-जनतंत्र समझते हैं, कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो इनमें विशुद्ध प्रजातंत्र देखते हैं। अब हमें देखना है कि इनमें से कौन-सा शब्द इनके विधान का ठीक-ठीक वर्णन कर सकता है।

कुछ लेखकों का कहना है नि इन राज्यों को प्रजातंत्र या लोकतंत्र कहना ठीक नहीं क्योंकि इनमें सारे अधिकार साधारण जनता के हाथ में नहीं वरन एक छोटे से उच्चवर्ग के लोगों के हाथों में ही रहते थे। हम जानते हैं कि यौधेयों में शासन-सूत्र ५,००० व्यक्तियों की परिषद् के हाथ में था जिनमें से प्रत्येक के लिए राज्य को एक हाथी देना जरूरी था[३]। अस्तु, यह स्पष्ट है कि इस राज्य के अमीर या उच्चवर्ग के सदस्य ही होते थे, जिनमें एक-एक हाथी दे सकने की सामर्थ्य थी। जनसाधारण का राज्य के शासन में कोई हाथ न था। शाक्यों और

---

१ मैकक्रिंडल, पृ. ११५

२ फिक, सोशल कंडिशंस इन दि नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृ. १३७

३ मैकक्रिंडल, इन्वेज़न ऑफ अलेक्जंडर दि ग्रेट, पृ. १८१

कोलियों के राज्य में यही स्थिति थी। समस्त जनता के जीवन से घनिष्ठ संबंध रखनेवाले संधि-विग्रह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय भी थोड़े से शाक्य और कोलिय राजाओं अर्थात् सरदारों के हाथ में था। साधारण किसान और मजदूर का काम केवल अधिकारीवर्ग के निश्चय को मानना और पूरा करना था।

इसमें संदेह नहीं कि आजकल प्रजातंत्र और लोकतंत्र का जो अर्थ है उस अर्थ में तो प्राचीन भारत के यौधेय, शाक्य, मालव और लिच्छवि गणराज्य लोकतंत्र नहीं कहे जा सकते। आधुनिककाल के अधिकांश उन्नतिशील लोकतंत्र-राज्यों की भाँति प्राचीन भारत के इन गण-राज्यों में शासन की बागडोर सामान्य जनता के हाथ में नहीं थी। फिर भी हम इन्हें प्रजातंत्र या गणतंत्र कह सकते हैं। राजनीति के प्रमाणभूत ग्रंथों के अनुसार प्रजातंत्र राज्य वह है जिसमें सर्वोच्च शासनअधिकार राजतंत्र की भाँति एक व्यक्ति के हाथों में न होकर एक समूह, गण या परिषद् के हाथ में हो जिसके सदस्यों की संख्या चाहे कम हो या अधिक। इस प्रकार सरदारतंत्र, उच्चजनतंत्र और प्रजातंत्र सभी लोकतंत्र की श्रेणी में आते हैं। इसी प्रकार प्राचीन रोम, एथेंस, स्पार्टा, कार्थेज, मध्यकालीन वेनिस, संयुक्त नेदरलैंड और पोलैंड सभी प्रजातंत्र माने गये हैं यद्यपि इनमें से किसी में भी आधुनिक लोकतंत्र के सब लक्षण वर्तमान न थे। प्राचीन यूनान और इटली के प्रजातंत्र राज्यों में मतदान का अधिकार बहुत छोटे से अल्पसंख्यक समूह के हाथ में था जो स्वतंत्र मगर अधिकाररहित नागरिक और बहुसंख्यक दास वर्ग पर शासन करता था। मध्ययुग में वेनिस के प्रजातंत्र में कौंसिल की समाप्ति के बाद मताधिकार थोड़े से रईसों के हाथ में रह गया था और इन पर भी एक छोटे से गुट का बड़ा प्रभाव रहता था। संयुक्त नेदरलैंड के सात राज्यों का शासक निर्वाचित 'स्टैथोल्डर' होता था परंतु उसे चुनने का अधिकार भी बहुत थोड़े लोगों को ही था। आधुनिककाल में भी संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में लाखों निग्रो चिरकाल तक मताधिकार से वंचित रहे हैं, इंगलैंड में भी १६वीं सदी के मध्य तक 'पाकेट बारो' पाये जाते थे जिनके सहारे सरदार लोग जिसे चाहे उसे निर्वाचित कर सकते थे। और अभी हाल तक स्विट्जरलैंड में स्त्रियाँ मताधिकार से वंचित थीं जिससे उस देश की आधी जनता चुनाव में भाग नहीं ले सकती थी।

अस्तु, शास्त्रीय और ऐतिहासिक दोनों आधारों से प्राचीन भारतीय गणराज्य प्रजातंत्र कहे जायँगे उसी प्रकार जैसे प्राचीन इटली और यूनान के राज्य प्रजातंत्र कहे जाते थे। इन राज्यों में शासनाधिकार एक ही व्यक्ति अथवा मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में नहीं वरन काफी बड़े वर्ग के हाथ में था। वैशाली का लिच्छवि

गणराज्य आजकल के दो जिलों से बड़ा न था फिर भी उसके शासकवर्ग में ७७०७ आदमी थे, जो राज्य के संस्थापकों के वंशज थे और जिनको राजा की पदवी का अधिकार था। उत्तरी भारत के बहुसंख्यक गणों में शासकों के बारे में 'राजा' पदवी का व्यवहार करते थे[1] व प्रायः मूल संस्थापक वंशों के वंशज थे। धीरे-धीरे पूरे क्षत्रिय वर्गों को राज्यसंचालन का अधिकार मिल गया। तब दो प्रकार के गणतंत्र अस्तित्व में आये। जहाँ केवल राज्य-संस्थापक क्षत्रिय वंशजों के हाथों में सत्ता थी उस गणतंत्र को राजक गणतंत्र कहने लगे; जहाँ सर्व क्षत्रिय वर्ग के हाथों में, उसको राजन्यक[2]; जब सर्व क्षत्रियों के हाथों में सत्ता चली गयी, तब हर एक को 'राजा' कहने लगे। शांति पर्व में एक जगह गणतंत्रों में सब अधिकारी एक जाति के व एक वंश के रहते हैं,[3] ऐसा क्यों विधान किया गया है यह समझना अब कठिन नहीं होगा।

शाक्य, लिच्छवि इत्यादि क्षत्रिय गणतंत्रों में ब्राह्मणों के हाथों में अधिकार थे या नहीं, यह कहना कठिन है। ब्राह्मणों का वर्गव्यवस्था में ऊँचा स्थान था। वे सैनिक व सेनापति भी होते थे, और उनके गणतंत्र अलेग्जंडर के अभियान के समय सिंध में थे। (अर्थात् वहाँ उनके ही अधीन सब अधिकार रहते थे।) अर्थशास्त्र ११. १ में गणतंत्र के लोग वाणिज्य व युद्धकला में प्रवीण रहते थे, ऐसा जो विधान मिलता है उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कुछ गणतंत्रों में वैश्यों का स्थान भी काफी ऊँचा रहता था।

किंतु प्रायः बहुसंख्यक गणतंत्र क्षत्रियप्रधान थे और यहाँ राजसत्ता क्षत्रिय उच्चजनों (अमीरों) के हाथों में रहती थी। भाषा में भी उनको निर्दिष्ट करने के लिए विशिष्ट शब्द रूढ़ हुए थे। मालव व क्षुद्रक गणतंत्रों में सत्ताधारी क्षत्रियवर्ग के व्यक्ति को मालव व क्षुद्रक नाम से संबोधित करते थे; जो क्षत्रियेतर व ब्राह्मणेतर सत्ताधारी नहीं थे उनके लिए मालव्य व क्षुद्रक्य शब्दों का

---

१ शाबर भाष्य (पू. मी. ६.७.३.) में लिखा है कि राजा व क्षत्रिय ये शब्द पर्यायवाची हैं।

२ अथराजकम्। राजन्यकंचनृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्। २.८.९.३
वृष्णियों के सिक्कों पर 'वृष्णि राजन्य गणस्य जयः।
यह अभिलेख मिलता है।

३ जात्या च सदृशाःसर्वे कुलेन सदृशास्तथा। १२. १०७. २९

उपयोग किया जाता था[१]। ब्राह्मणों को मालव्य व क्षुद्रक्य नहीं कहते थे। संभव है कि उनके हाथों में भी कुछ शासनसत्ता थी, किंतु निश्चित रूप से हम इस विषय में किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि बहुसंख्यक प्राचीन भारतीय गणराज्यों में शासक-वर्ग प्रायः क्षत्रिय होता था और संख्या में प्राचीन ग्रीस या इटली के प्रजातंत्र-राज्यों के शासकवर्ग से अधिक नहीं तो कम भी न था। अतः जिस अर्थ में प्रामाणिक राजनीति ग्रंथों में प्राचीन यूनान या रोम के राज्य प्रजातंत्र कहे गये हैं उसी अर्थ में ये गणराज्य भी प्रजातंत्र थे। साथ ही यह याद रखना चाहिये कि ये आजकल के लोकतंत्रराज्यों की कोटि के नहीं थे, जिनमें अधिक से अधिक लोगों को मताधिकार दिया जाता है। प्राचीन गणराज्यों में राजनीतिक अधिकार अधिकतर क्षत्रियों के हाथ में ही था। अस्तु इस प्रकार के राज्यों को प्राचीन वाङ्मय और लेखों में गणराज्य कहा गया है, और आगे चलकर हम भी उनको उसी संज्ञा से निर्दिष्ट करेंगे।

अब हम अपने गणतंत्र राज्यों के विकास-क्रम का अध्ययन करेंगे। हम देख चुके हैं कि वैदिककाल में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित था। इस काल में आर्य लोग नये-नये प्रदेश पादाक्रांत कर रहे थे इसलिए उनको एकमुखी नेतृत्व की बड़ी आवश्यकता थी। मेगास्थनीज ने भी लिखा है कि ४थी शताब्दी ई० पू० में भारत में एक परंपरा प्रचलित थी जिसके अनुसार प्रजातंत्र का विकास राजतंत्र के बाद माना जाता था[२]। पुराणों में बुद्ध के पूर्व की जो राज-वंशावली है उनसे प्रकट होता है कि ६ठीं शताब्दी के मद्र, कुरु, पांचाल, शिवि और विदेह गण-तंत्र पहले नृपतंत्र ही थे।

ऋग्वेद के अंतिम सूक्त में प्रार्थना की गयी है कि समिति की मंत्रणा एक-मुखी हो, सदस्यों के मन भी परम्परानुकूल हों और निर्णय भी सर्वसम्मत हों[३]। इस सूक्त का संकेत गणतंत्र की समिति की ओर भी हो सकता है पर साधारणतः समिति का सम्बन्ध राजा से ही रहता था। अतः इस बात में संदेह है कि इसका

---

१ पाणिनि ५.३.११४ पर काशिका देखिए।

२ इस प्रकार कई पीढ़ियाँ बीतने पर नृपतन्त्र समाप्त हुआ और उसका स्थान प्रजातन्त्रात्मक शासन ने लिया। एरियन, अध्याय ९।

३ समानो मंत्रः समितिः समानो समानं मनः सह चित्तमेषाम्। १०.१९१.३

तात्पर्य गणतंत्र की केंद्रीय समिति से रहा हो। केवल इस सूक्त से ऋग्वेदकाल में गणतंत्र का अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा।

एक अन्य स्थल पर राजाओं के समिति में एकत्र होने का वर्णन किया गया है[1]। दूसरे स्थान पर यह कहा गया है कि राजा वही हो सकता है जिसे अन्य राजा लोग स्वीकार करें[2]। यहाँ पर अन्य राजाओं का अर्थ सम्भवतः विश्पति है, और यह राज्य भी बाद के प्रजातन्त्र राज्य के प्रकार का था। राजशक्ति सर्वसाधारण जनता के हाथ में न हो कर विशों के मुखियों के हाथ में थी। यदि इनके द्वारा स्वीकृत अध्यक्ष या अधिपति का पद आनुवंशिक हो जाता था तो राज्य नृपतंत्र में परिवर्तित हो जाता था। पर यदि विश्पति या सरदारों द्वारा स्वीकृत अधिपति के अधिकार की कालमर्यादा सीमित होती थी और उसका पद आनुवंशिक न होने पाता था तो बाद में चलकर यही राज्य परवर्तीकाल के क्षत्रिय गणराज्य के रूप में विकसित हो सकता था।

ब्राह्मण वाङ्मय के एक प्रसिद्ध उद्धरण में कहा गया है कि प्राच्यों के राजा 'सम्राट्' कहे जाते थे, सात्वतों के राजा 'भोज', तथा नीच्यों और आपाच्यों के राजा 'स्वराट' कहे जाते थे ; और उत्तर-मद्र तथा उत्तर-कुरु आदि हिमालय के उत्तर के प्रदेशों में 'वैराज्य' व्यवस्था थी और वहाँ के लोग 'विराट्'[3] शब्द से संबोधित किये जाते थे। 'स्वराट्' और 'भोज' उपाधियों के अर्थ के विषय में कुछ मतभेद है[4]। पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र के 'वैराज्य' गणतंत्र ही थे क्योंकि 'विराट' संबोधन उनके राजाओं का नहीं वरन् 'नागरिकों' का है और अभिषेक राजा का नहीं जनता का होता था[5]। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि उत्तर-कुरुओं और उत्तर-मद्रों के देश में ४थी सदी ईसवी तक गणतंत्र-व्यवस्था ही प्रचलित थी।

---

१ यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ॥ ऋ. वे., १०. ९७. ६

२ यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।
श. प. ब्रा. ९. ३. २. ५

३ ये के च प्राच्यानं साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते...ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरवः उत्तरमद्रा इति वैराज्यैव तेऽभिषिच्यन्ते विराडित्येतान-भिषिक्तानाचक्षते। ऐ. ब्रा., ७, ३. १४

४ डा० जायसवाल का मत है कि ये प्रजतान्त्र राज्य थे, पर यह संभव नहीं प्रतीत होता। हिन्दु पॉलिटी, १. ८०—१

५ सायण प्रजातन्त्र राज्यों के अस्तित्व से अनभिज्ञ थे अतः उन्होंने वैराज्य

ऐतिहासिककाल में भारत के उत्तरी-पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी भूभागों में गणतंत्र राज्य कायम थे। पर दक्षिण में किसी गणतंत्र राज्य का पता नहीं चलता यद्यपि उत्तर भारत की अपेक्षा वहाँ स्थानीय शासन में जनता का हाथ कहीं अधिक था। अब हम ऐतिहासिककाल के विविध गणतंत्र राज्यों पर दृष्टिपात करेंगे और उत्तर-पश्चिम से शुरू करेंगे[1]।

५०० ई० पू० से ४०० ई० तक पंजाब और सिंधु की घाटी में गणतंत्र-राज्यों का ही बोलबाला था। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिनके केवल नाम ही वैयाकरणों के ग्रंथों में हमें मिल जाते हैं पर उनके बारे में दुर्भाग्यवश हम और कुछ नहीं जानते। इस श्रेणी में वृक, दामणि पार्श्व और कंबोज हैं। पाणिनि के समय में त्रिगर्त-शष्ठ छ गणतन्त्रों का राज्यसंघ था, काशिका (१००० वर्ष बाद रचित) के अनुसार ये छ राज्य कौडोपरथ, दंडकि, कौष्ठकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि थे। संभवतः उन्होंने अपनी मुद्रा भी चलायी थी जिस पर 'त्रकत (त्रिगर्त) जनपदस्य' 'त्रिगर्त देश की मुद्रा' ऐसा लेख पाया जाता है[2]।

(क्रमशः)

का अर्थ 'इतरेभ्यो भूपतिभ्यः श्रैष्ठ्यम्' किया है। महाभारत (१२.६७.५४) में 'विराट्' राजा का एक पर्याय माना गया है। पर यदि विराट् का अर्थ 'विशेषेण राजा' हो सकता है तो वि (बिना) राजा भी हो सकता है। 'वैदिक इंडेक्स' में वैराज्य भी राजशक्ति का एक प्रकार कहा गया है पर वैराज्य में यदि पूरी जनता का अभिषेक होता था तो स्पष्ट है कि राजशक्ति अनेक आदमियों के हाथ में थी।

१ प्राचीन भारत के गणतन्त्र राज्यों का वृत्तान्त उत्तर-पश्चिम में मुख्यतः ग्रीक लेखकों और उत्तर पूर्व में बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है। पाणिनि, कात्यायन, पंतजलि, जयादित्य और वामन आदि वैयाकरणों से भी बहुत सहायता मिलती है क्योंकि इनके ग्रन्थों में राजनीतिक-विधान सम्बन्धी बहुत से शब्दों की व्युत्पत्ति सिद्ध की गयी है। महाभारत में भी दो अध्यायों में इन राज्यों के विधान और उनके गुण-दोषों की सहानुभूति-पूर्वक चर्चा की गयी है (१२.८१, १०७) अर्थशास्त्र ने मुख्यतः गणों और संघों की शक्ति भंग करने के उपायों पर विचार किया है, पर इसी सिलसिले में इनके विषय की बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं।

२ एलन, कॉइन्स आफ ऐंशिऍट इंडिया, चित्रफलक ३९. १०, इन मुद्राओं के लेखों से गणतन्त्र का अस्तित्व सिद्ध होता है।

संभवतः यह गणसंघ जलंधर दोआब में स्थित था और बाद में उसका 'कुणिंद' नामांतर हुआ। कुणिंदों की मुद्राएँ बड़ी संख्या में मिली हैं। कुणिंद राज्य दूसरी सदी ईसवी तक वर्तमान था और कुशाण साम्राज्य[1] को नष्ट करने में इससे यौधेयों को बहुत सहायता मिली।

आधुनिक आगरा-जयपुर प्रदेश में लगभग २०० ई० पू० से ४०० ई० तक अर्जुनायन गणतन्त्र कायम था। इसकी मुद्राएँ भी मिली हैं। इन पर किसी राजा का नाम नहीं है केवल इतना ही लिखा है 'अर्जुनायननानाम् जयः' 'अर्जुनायनों की जय हो'। मुद्राओं का समय अनुमानतः १०० ई० पू० है पर गणतन्त्र इससे कहीं पुराना रहा होगा क्योंकि उसका शासक-वर्ग अपनी उत्पत्ति महाभारत के प्रख्यात योद्धा 'अर्जुन' से मानता था। इनका यौधेयों से, जो अपने को धर्मराज युधिष्ठिर के वंशज मानते थे, बहुत सहयोग रहा करता था।

यौधेय गणतन्त्र काफी बड़ा राज्य था। इसकी मुद्राओं के प्राप्ति-स्थानों से ज्ञात होता है कि इसका विस्तार पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में भावलपुर तक और उत्तर-पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण-पूर्व में दिल्ली तक रहा होगा। यह तीन गणतन्त्रों का राज्यसंघ था। इनमें से एक की राजधानी पंजाब में रोहतक थी। दूसरे के शासन में उत्तर-पांचाल का उपजाऊ 'बहुधान्यक' प्रदेश था और तीसरे की सीमा में संभवतः राजपूताना का उत्तरी भूभाग था। सिकन्दर के वृत्तलेखकों ने लिखा है कि व्यास पार एक उपजाऊ देश था जिसमें वीर लोग रहते थे और जिसके शासन की बागडोर उच्चवर्ग के हाथ थी। यह गणतन्त्र निस्संदेह यौधेय गणतन्त्र ही था और उसका प्रभाव उस समय सर्वविख्यात था। यौधेय अपनी अप्रतिम वीरता के लिए प्रख्यात थे। वे देवसेना के सेनानी कार्तिकेय को अपना कुलदेवता मानते थे और इसीलिए उनके वाहन के नाम पर 'मत्तमयूरक' विशेषण धारण करते थे[2]। इनके पराक्रम और शक्ति का वर्णन सुनकर ही सिकन्दर के सैनिक दहल गये थे और उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया था। प्रथम शताब्दी ईसवी में कुशाण सम्राट् कनिष्क ने इनका पराभव किया पर अधिक समय तक कुशाण इन्हें अपने काबू में नहीं रख सके। रुद्रदामा के शिलालेख के शब्दों में 'अपने पराक्रम के लिए समस्त क्षत्रियों में अग्रगण्य' इन अभिमानी वीरों ने शीघ्र सिर उठाया[3] और २२५ ई० तक न

---

१ मजुमदार और अल्तेकर—दि एज ऑफ वाकाटक एंड गुप्ताज़, अध्याय २
२ महाभारत, ५. ३५. ३-४।
३ जूनागढ़ का शिलालेख।

केवल इन्होंने अपनी खोयी हुई स्वतन्त्रता ही पुनः प्राप्त कर ली वरन् कुशाण साम्राज्य को ऐसा धक्का दिया जिससे वह फिर सँभल न सका[१]। ३५० ई० तक यह गणतन्त्र वर्तमान था, पर इसका बाद का इतिहास ज्ञात नहीं है।

मध्यपंजाब के मद्रों का भी एक गणराज्य था। मद्र लोग संभवतः कठों से भिन्न न थे जिनके प्रजासत्तात्मक राज्य का उल्लेख सिकंदर के वृत्त लेखकों ने किया है। इनकी राजधानी स्यालकोट थी। शत्रु के सम्मुख सिर झुकाकर प्राण बचाने से इन्होंने अन्त तक सिकन्दर के विरुद्ध लड़ते-लड़ते मर जाना ही अच्छा समझा। इनका गणराज्य ४थी सदी ईसवी तक वर्तमान था।

मालव और क्षुद्रक उन गणतंत्रों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने सिकंदर के अभियान का प्रबलतम प्रतिरोध किया था। इस समय मालव चेनाब और रावी के बीच वाले तथा उससे कुछ दक्षिण के प्रदेश में बसे थे और क्षुद्रक उनके दक्षिणी पड़ोसी थे[२]। सिकन्दर का सामना करने के लिए उन्होंने संयुक्त योजना बनायी थी पर दोनों सेनाओं के मिलने के पहले ही सिकन्दर मालवों पर टूट पड़ा। मालवों के पास १ लाख लड़ाके थे और उन्होंने जमकर यूनानियों से लोहा लिया, यहाँ तक कि मालवों के .एक गढ़ पर हमला करते समय सिकंदर के प्राण जाते-जाते बचे। अन्त में मालवों और क्षुद्रकों को संधि-प्रार्थना करनी पड़ी। पर इस संकट से सबक सीखकर दोनों राज्यों ने जो राज्यसंघ स्थापित किया वह कई शताब्दियों तक कायम रहा। महाभारत में अनेक बार मालव और क्षुद्रकों का उल्लेख साथ-साथ पाया जाता है[३]। और वैयाकरणों ने इन दोनों नामों से बने हुए एक विशेष रूप के 'द्वंद्व समास' का उल्लेख किया है। आगे चलकर क्षुद्रक पूर्ण रूप से मालवों में मिल गये। १०० ई० पू० के आस-पास मालव अजमेर-चित्तौड़-टोंक प्रदेश में जाकर बसे और आगे बढ़ते हुए ४०० वर्ष बाद मध्य हिंदुस्थान के प्रदेश में गये जिसे अब मालवा कहा जाता है। १५० ई० के करीब शकों ने उन्हें पराजित किया पर २२५ ई० तक वे फिर स्वतन्त्र हो गये। मालव श्री रामचन्द्र के प्रख्यात इक्ष्वाकु वंशज होने का दावा

---

१ मजुमदार और अल्तेकर—दि एज ऑफ वाकाटकाज एंड गुप्ताज, पृ० २८-३२

२ मैक्क्रिंडल, इन्वेजन ऑफ अलेग्जंडर, पृ० १३८

३ २. ७९. ९०, ५. ५७. १८

करते हैं। उनकी ताँबे की मुद्राएँ भी बहुतायत से मिलती हैं। इन पर किसी राजा का नाम न होकर 'मालवों की जय' लिखा है।

सिकंदर के वृत्तलेखकों द्वारा वर्णित मालवों के पड़ोसी गणतन्त्र 'अगेसिनाइ' और सिवियों का ठीक स्थान निश्चित नहीं है। सिवियों का राज्य पहले नृपतंत्र था बाद में गणतंत्र में परिवर्तित हुआ। १०० ई० पू० तक वे राजपूताने में चित्तौर के पास मध्यामिका में जाकर बस गये थे। यहाँ उनके गणतंत्र का स्पष्ट निर्देश करनेवाली मुद्राएँ बहुत बड़ी संख्या में मिली हैं[1]।

क्षुद्रकों के पड़ोस में अम्बष्ट गणतन्त्र भी था। यूनानी इतिहासकार कर्टियस ने स्पष्टतः उनके राज्य को प्रजातंत्र (Repulic) कहा है। इनकी सेना में ६० हजार पदाति, ६ हजार घुड़सवार और ५०० रथ थे, सिकंदर का सामना करने के लिए इन्होंने तीन सेनानी चुने थे, पर अन्त में अपने वृद्धों की सलाह मानकर उन्होंने सिर झुका दिया। इनके भी बाद के इतिहास का कुछ पता नहीं।

द्वारिका (काठियावाड़) के अंधक-वृष्णियों का राज्य भी गणतंत्र था। इसका अस्तित्व प्रागैतिहासिककाल से ही था, महाभारत में इसका उल्लेख किया गया है। अर्थशास्त्र में काठियावाड़ के 'संघ' माने गणराज्यों के उल्लेख से पता चलता है कि इस प्रदेश में गणतंत्र की परंपरा कायम रही।

बौद्धों के त्रिपिटक और भाष्यों से पता चलता है कि वर्तमान युक्तप्रांत के गोरखपुर और उत्तरी बिहार के प्रदेशों में भी अनेक गणतंत्र वर्तमान थे। इनमें से मग्ग, बुली, कोलिय और मोरिय राज्य तो आधुनिक तहसीलों से बड़े न थे। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य कुछ बड़े थे पर सब मिलाकर भी इनका विस्तार लंबाई में २०० और चौड़ाई में १०० मील से अधिक न था। पश्चिम में गोरखपुर से पूर्व में दरभङ्गा तक और उत्तर में हिमालय से। दक्षिण में गंगा तक इन गणराज्यों का विस्तार था। इन चारों में शाक्यों का राज्य सबसे छोटा था। यह गोरखपुर जिले में स्थित था। इसके पूर्व में मल्लराज्य स्थित था। इसका विस्तार पटना जिले तक था। इसके बाद लिच्छवि और विदेह राज्य थे[2]।

---

१ इन मुद्राओं पर यह लेख है 'मझिमिकाय सिबिजनपदस।' एलन—कॉइंस ऑफ एंशंट इंडिया, पृ० १२४

२ अस्तु, यह प्रकट हो जाता है कि ये गणतन्त्र-राज्य ग्रीस के नगर-राज्यों से बड़े न थे। सबसे बड़े नगर-राज्य स्पार्टा का क्षेत्रफल ३३६० वर्ग मील

शाक्य-राज्य की शासन-व्यवस्था के बारे में कुछ संदेह है। बौद्ध-ग्रंथों के कुछ उल्लेखों से जान पड़ता है कि यहाँ नृपतंत्र था। बुद्ध के समय में भद्दीय यहाँ का राजा था, उसने जब संघ में प्रवेश करने का निश्चय किया तो अपने राज्य के उत्तराधिकारी की व्यवस्था करने के लिए एक सप्ताह का समय माँगा। पर हम देख चुके हैं कि पूर्वी भारत के इन क्षत्रिय गणतन्त्रों का प्रत्येक सदस्य 'राजा' कहलाने का अधिकारी था। भद्दिय भी संभवतः इसी अर्थ में राजा हुआ होगा। जातकों में शाक्यों के संथागार का वर्णन है जहाँ एकत्र होकर वे सन्धि, विग्रह आदि महत्वपूर्ण विषयों पर विचार किया करते थे। इनमें संपूर्ण शाक्य-प्रदेश पर राज्य करनेवाले किसी आनुवंशिक राजा का उल्लेख नहीं है।

इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं कि बुद्ध के जीवन-काल में मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य गणतंत्र थे; उनके पड़ोसी मगध और कोशल के राजा उन्हें जीतने का बार-बार प्रयत्न करते थे इसलिए अपनी रक्षा के लिए ये गणतंत्र अपना एक संयुक्त राज्यसंघ बीच-बीच में बनाते थे। कभी लिच्छवि मल्लों से मिल जाते थे तो कभी विदेहों से। पर ५०० ई० पू० में मगध ने मल्ल और विदेह राज्यों को जीत लिया। लिच्छवियों को भी मगध-साम्राज्य के आगे नत-मस्तक होना पड़ा पर २०० ई० पू० तक वे पुनः स्वतन्त्र हो गये। ४थी सदी ईसवी में लिच्छवि-राज्य अत्यन्त शक्तिशाली था और गुप्त साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त को उनसे वैवाहिक सम्बन्ध करने से अपने उत्थान में बहुत मदद हुई।

अब हम प्राचीन भारतीय गणतन्त्रों के विधान और उनकी शासन-व्यवस्था का विवेचन करेंगे। हमारी कठिनाई यह है कि इस विषय पर सामग्री बहुत कम है। अतः विभिन्न काल के और विभिन्न प्रदेशों के अनेक गणतंत्रों के सम्बन्ध की बिखरी बातें जोड़कर हमें उनके विधान की एक रूपरेखा बतानी है। यद्यपि यह तरीका बहुत अच्छा नहीं पर दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है।

यह तो स्पष्ट ही है कि मोरिय, कोलिय, शाक्य आदि छोटे-छोटे थोड़े से

(क्रमशः)

था, लिच्छवि-राज्य का विस्तार भी प्रायः इतना ही था। अपने चरम उत्कर्ष के समय एथेंस का विस्तार लगभग १०६० वर्ग मील था, शाक्य-राज्य का विस्तार भी प्रायः इतना ही था।

गाँवोंवाले गणतन्त्रों की शासन-व्यवस्था यौधेय, मालव आदि सैकड़ों ग्रामों और दर्जनों नगरों वाले विशाल गणतंत्र-राज्यों से बहुत भिन्न होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-पूर्व के इन छोटे-छोटे गणतंत्रों की केंद्रीय-समिति के सदस्य अधिकतर राजधानी में ही रहते थे और वहीं संथागार याने सभा-भवन में एकत्र होकर राजकाज के विषयों पर निश्चय किया करते थे। वे उच्चवर्ग के थे और उनमें से प्रत्येक सदस्य को राजा और उसके पुत्र को उपराजा की उपाधि दी जाती थी[1]। संभवतः इन 'राजा' लोगों की देहातों में कुछ जमींदारी हुआ करती थी जिसका प्रबन्ध उनके कारिंदे करते थे। शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कृषक, भृत्य, दास, कारीगर आदि सम्मिलित थे जो बहुसंख्यक होने पर भी सत्ताहीन रहते थे। जब रोहिणी नदी के जल के ऊपर कोलियों और शाक्यों के किसानों और भृत्यों में झगड़ा हुआ तो उन्होंने अपने अपने राज्य के कर्मचारियों को खबर दी और इन्होंने अपने 'राजाओं' को समाचार पहुँचाया। इससे प्रकट होता है कि संधि, विग्रह आदि महत्वपूर्ण सार्वजनिक विषयों पर निर्णय देने का अधिकार उच्चवर्गीय 'राजाओं' को था, जन-साधारण को नहीं। परन्तु शाक्य-राज्य में छोटे-छोटे कस्बों और ग्रामों में भी पंचायतें होती थीं जिनके सभा-भवन (संथागार) का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में मिलता है[2]। सम्भवतः इन ग्राम-पंचायतों में सब वर्गों के लोगों को प्रवेश और शासनाधिकार मिलता था।

यौधेय, मालव आदि विशाल गणराज्यों की व्यवस्था स्वभावतः बहुत

---

१ तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होंति तत्तका येव उपराजानो तत्तका सेनापतिनो तत्तका भंडागारिका। जा. १. पृ० ५०४। इस वाक्य का अर्थ जो ऊपर किया गया है वही ठीक मालूम पड़ता है। डा० भांडारकर का कहना है कि ऊपर उद्धृत वाक्य एक ऐसे राज्य-संघ का संकेत करता है जिसके घटक ७७०७ राज्य थे, जिसमें हरेक राज्य का पृथक् राजा, युवराज इत्यादि रहते थे। कारमायकल लेक्चर्स, १९१८, पृ० १३५। इस वाक्य पर डा० मजुमदार के भाष्य के लिए देखिये, कॉर्पोरेट् लाइफ्, पृ० ९३—४ (प्रथम संस्करण)

२ चतुमा गाँव के संथागार का उल्लेख बौद्ध वाङ्मय में मिलता है।
म. नि., १. पृ. ४५७

भिन्न थी। विस्तृत होने के कारण ये अनेक प्रांतों में विभाजित रहते थे जिनके शासक संभवतः उच्चवर्ग से ही चुने जाते थे। राज्य के बहुसंख्यक नगरों का एक अलग शासन-विभाग था। उनको स्थानीय विषयों में पूरा अधिकार था और इनका शासन-प्रबन्ध स्थानीय नेताओं के ही हाथ में था। दुर्भाग्यवश यह पता नहीं कि नगर-परिषदों का संघटन किस प्रकार का था। संभव है कि इनमें भी उच्च वर्ग की ही प्रधानता रही हो, पर नृपतन्त्र-राज्यों की नगर-परिषदों के बारे में जो विश्वसनीय वृत्तांत उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि इनमें साधारण वर्ग के व्यापारियों, कारीगरों और किसानों का भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहता होगा। राज्यों में फैले हुए सैकड़ों गाँवों की पंचायतों में तो सामान्य जनता के हाथ में ही प्रायः सर्वसत्ता रहती थी। संभव है कि गाँव का मुखिया शासक वर्ग का ही होता हो, राजकर्मचारी भी अधिकतर इसी वर्ग के होते रहे हों पर ग्राम-पंचायतों के अत्यधिक सदस्य साधारण श्रेणी के और हर जाति तथा वर्ग के होते थे।

इन गणतंत्रों में शासन का सर्वोच्च अधिकार केन्द्रीय-समिति के ही हाथों में था जिसके सदस्यों की संख्या काफी बड़ी होती थी। यौधेयों की समिति में ५००० और लिच्छवियोंकी समिति में ७७०७ सदस्य थे[1]। क्षुद्रकों ने अपने १५० प्रमुख नेताओं को सिकंदर से संधिवार्ता के लिए भेजा था, उनकी समिति की सदस्य-संख्या इसकी कई गुनी रही होगी। ये संख्याएँ बहुत बड़ी जान पड़ती हैं पर स्मरण रखना चाहिये कि इसी समय यूनान में एथेनियन असेंबली में ४२००० नागरिक थे और हरएक को उसकी बैठक में शामिल होने का अधिकार था। पर वास्तविक व्यवहार में वहाँ ऐसा नहीं होता था। देहात के सदस्य हरेक मामूली बैठक में शामिल होने के लिए समय और धन का व्यय करना न पसन्द करते थे। साधारणतः दो-तीन हजार सदस्य उपस्थित होते थे जो पूरी संख्या के ७-८ प्रतिशत से अधिक न थे। लिच्छवि और यौधेय समिति के सदस्य संभवतः गणतंत्र के मूल संस्थापकों के वंशज थे, वे सब 'राजा' कहलाने के अधिकारी थे, इनमें से कुछ राजधानी में रहते थे, कुछ राज्य के विभिन्न पदों पर थे और शेष राज्य के देहातों में रहते थे, इन सबको समिति में शामिल होने का अधिकार था पर मुश्किल से एथेंस की भाँति १० प्रतिशत ही उपस्थित होते

---

१ वैशाली की पूरी जनसंख्या लगभग १, ६८,००० थी, ऐसा मालूम होता है। जातक, १. पृ. २७१

रहे होंगे। जब कि न्यासा जैसे छोटे से नगर-राज्य की परिषद् में ३० सदस्य थे तब यौधेय-ऐसे विशाल गणतंत्र की केन्द्रीय-समिति में ५००० सदस्य रहे हों तो आश्चर्य ही क्या। हमें यह भूलना न चाहिये कि शासक-वर्ग का प्रत्येक सदस्य अपनी वंश-परम्परा से समिति की सदस्यता का अधिकारी था, हरेक को अपने आभिजात्य और ऊँचे पद का इतना अभिमान था कि प्रतिनिधित्व का सिद्धांत उन्हें ज्ञात भी होता तो भी, प्रतिनिधि नियुक्त करने का विचार उनके मन में आ ही न सकता था।

डा० जायसवाल का मत है कि कुछ गणतंत्रों में व्यवस्थापिका-सभा के अमीर-सभा[1] और सामान्य-सभा ऐसे दो भाग होते थे[2]। पर यह बहुत असंभव प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि केंद्रीय-समिति में केवल उच्चवर्ग के लोग रहते थे। उनको अपने कुल और हैसियत का बड़ा गर्व था, अपने से श्रेष्ठ सभा की कल्पना भी कदापि सहन न करते। सामान्य श्रेणियों के लोगों की सभा ही अस्तित्व में न थी। जिन 'वृद्धों' या अगुओं की सलाह पर अम्बष्ठों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करने का निश्चय किया वे किसी अमीर-सभा के सदस्य नहीं वरन् अपने वर्ग के वयोवृद्ध और अनुभवी लोग थे।

अस्तु, गणतंत्रों में सर्वशासनाधिकार केन्द्रीय-समितियों में निहित थे। इन्हें अपने अधिकारों और शक्ति का बड़ा ध्यान रहता था। ये केवल मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का ही नहीं वरन् सेना के नायकों का भी निर्वाचन करती थीं। सिकन्दर के अभियान की खबर मिलने पर अम्बष्ठों ने तीन प्रख्यात योद्धाओं को अपनी सेना का नेतृत्व करने के लिए चुना। रोमन सीनेट की भाँति ये समितियाँ भी हरेक युद्ध के लिए अलग-अलग सेनापति नियुक्त करती थीं। कम-से-कम शुरू में तो सेनापति युद्ध के समय उसी युद्ध के लिए नियुक्त किये जाते थे, इससे किसी एक सेनापति द्वारा राज्य पर कब्जा करने की आशंका न रह सकती थी।

---

१ अमीर सभा = House of Lords or Upper House.

२ हिन्दू पालिटी, पृ. ८४—'संघे चानुत्तराधे' (पाणिनि ३. ३. ४२) इस सूत्र का तात्पर्य व्यवस्थापिका-समिति के दो खंडों से नहीं है न इसका राज्य विधान से ही संबंध है, बल्कि इसमें तो ब्राह्मण और श्रमणों के समूह तथा शूकरों के यूथ का उल्लेख करके बताया गया है कि एक के सदस्यों की स्थिति में अंतर है दूसरे में नहीं।

जो परिपाटी अम्बष्ठों में ४०० ई० पू० में थी वही यौधेयों में ई० चौथी सदी में भी थी, क्योंकि गुप्तकाल के एक लेख में यौधेय-गण द्वारा एक सेनापति के पुरस्कृत (निर्वाचित) किये जाने का उल्लेख है[१] । पर धीरे-धीरे यह पद भी आनुवंशिक हो गया। २२५ ई० में जिस मालव सेनापति ने अपने राज्य की खोयी हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त की थी उसके वंश में लोग तीन पीढ़ियों से सेनापति होते आये थे[२] । पर ये सेनापति कभी भी राजा या महाराजा जैसी राजत्व-सूचक उपाधि धारण न कर पाते थे।

बौद्ध-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि गणतंत्रों की केन्द्रीय-समितियाँ परराष्ट्र-नीति पर पूरा अधिकार रखती थीं। विदेशी राज्यों से आनेवाले राजदूतों से मिलकर उनके प्रस्तावों पर विचार करती थीं और संधि-विग्रह के प्रश्न का निपटारा करती थीं[३] । संकट के समय यह अधिकार समिति के प्रमुख नेताओं को दे दिया जाता था, क्षुद्रकों ने सिकन्दर के पास अपने जो डेढ़ सौ दूत भेजे थे वे वास्तव में उनकी केंद्रीय-समिति के प्रमुख सदस्य थे और उन्हें चर्चा करके संधि करने का पूरा अधिकार दिया गया था[४] । कुछ शास्त्रकारों का मत है कि राज्य के लिए केंद्रीय-समिति में संधि-विग्रह ऐसे नाजुक प्रश्नों पर प्रकट चर्चा होनी अहितकर है। इन प्रश्नों का निर्णयगण-मुख्यों पर ही छोड़ देना चाहिये। संभव है कि कुछ गणतंत्रों ने अपनी मंत्रणा गुप्त रखने के विचार से यह प्रथा अपनाई हो, पर उनकी संख्या अधिक न थी क्योंकि विधान-शास्त्रियों ने गणतंत्र-राज्यों का यह बहुत बड़ा दोष बताया है कि वे अपनी मंत्रणा गुप्त न रख सकते थे।

साधारण तौर पर गणतन्त्र-राज्यों की सरकार पर केंद्रीय-समिति का पूरा नियंत्रण रहता था। अंधकवृष्णि-संघ के प्रधान श्रीकृष्ण नारद से शिकायत करते हैं कि—मैं ज्ञाति का (समिति का) दास हूँ स्वामी नहीं और मुझे आलोचकों

---

१ फ्लीट्, कॉ. इ. इ. पृ. २५२

२ सम्भवतः एपि. इ. भा. २७ में यह लेख प्रकाशित होगा।

३ जातक, भाग ४, १४५ (नं ४६५) रॉकहिल—लाइफ आफ बुद्ध, पृ. ११८-९

४ मैक्रिंडल, असे. इन., पृ. १५४।

५ न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत।
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः ॥ म. भा, १२. १०७. २४

के कटु वचन सुनने और सहने पड़ते हैं[1] ! अर्थशास्त्र (एकादश भाग) से पता चलता है कि संघ-मुख्य (अध्यक्ष) या शासन-परिषद के सदस्य सार्वजनिक धन का दुरुपयोग या नियम का उल्लंघन करने पर राज्य के न्यायालय द्वारा दंडित और पदच्युत किये जा सकते थे। यह भी प्रायः निश्चित है कि ऊँचे पदाधिकारियों और प्रादेशिक शासकों की नियुक्ति भी केंद्रीय-समिति द्वारा ही की जाती थी, यद्यपि इस विषय का कोई उदाहरण हमें नहीं मिलता। इसी कारण इस संस्था के सदस्यों में बड़ी लाग-डाँट रहा करती थी।

संथागार (सभागृह) केवल राजकाज करने का ही स्थल नहीं था; उसमें बीच-बीच में गोष्ठी भी जुड़ती थी जिसमें सामाजिक और धार्मिक विषयों पर चर्चा होती थी। कुशीनार के मल्लों ने अपने संथागार में ही एकत्र होकर भगवान् बुद्ध के अंत्येष्ठि-सस्कार के विषय पर विचार किया था। इन्हीं मल्लों और लिच्छवियों ने भगवान् बुद्ध से अपने नवनिर्मित संथागारों में उपदेश देकर उसके उद्घाटन करने की प्रार्थना अनेक समय पर की थी।

इस प्रकार के सामाजिक या धार्मिक अवसरों पर संथागार में सभा के समय भले ही शांति रहती हो पर महत्वपूर्ण राजनीतिक विषयों के विचार के समय यह शांति न रहती थी। आजकल की म्युनिसपलटियों और पार्लमेंटों की भाँति इन समितियों में भी दलबन्दी का बहुत जोर रहता था। यहाँ तक कि बौद्ध-ग्रंथों, अर्थशास्त्र और महाभारत में गणतंत्रों में आपस का ईर्ष्याद्वेष और दलबन्दी की प्रबलता ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी बतलाई गयी है। बुद्ध और नारद, जो गणतन्त्र-व्यवस्था के समर्थक थे इन्हें आपस के झगड़ों से बचने का उपदेश देते हैं और उसका उपाय भी बताते हैं[2]। कौटिल्य इस व्यवस्था के विरोधी थे अतः उन्होंने बहुत से ऐसे अनुचित उपाय बताये हैं जिनसे गणतन्त्रों में फूट डालकर उनका विनाश किया जा सके। (अर्थशास्त्र ११)

दलबंदी का कारण प्रायः सदस्यों की आपसी ईर्ष्या और अधिकार-लोलुपता थी। आजकल की भाँति उस प्राचीनकाल में भी संघ के सदस्य अधिकार-प्राप्ति के लिए गुट्ट बनाया करते थे। दौड़-धूप करनेवाले, गुटबंदी में निपुण और

---

१ दास्यमैश्वर्यभावेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धभोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥ म. भा., १२. ८१. ५

२ डायलॉग्ज ऑफ बुद्ध, भा. २, पृ. ८०; म. भा., १२. ८१

भाषणपटु व्यक्ति अधिकार-प्राप्ति में सफल सिद्ध होते थे[1]। जब दलों की शक्ति बराबर-बराबर रहती थी तो छोटे-छोटे गुट्टों को सरकार को बनाने और बिगाड़ने का अवसर मिल जाता था। कुछ लोग अपनी दुष्टता के कारण ही प्रभावशाली बन जाते थे, पक्ष और विपक्ष सभी उनसे घबड़ाते थे। अंधकवृष्णि-संघ में आहूक और अक्रूर इसी प्रकार के महानुभाव थे[2]। आज-कल की भाँति उस समय भी अधिकारारूढ़ दल को खिसकाना कठिन काम था[3]। समिति में दल-बंदी तीव्र होने पर बेचारे संघ-मुख्य की स्थिति बहुत नाजुक और दयनीय होती थी। वह स्वार्थ के लिए झगड़नेवाले दोनों पक्षों के रोष का लक्ष्य बनता था। परंतु राज्य के हित से प्रेरित होने के कारण वह किसी की तरफदारी न कर सकता और उसकी दशा उस माता की तरह हो जाती थी जिसके दो पुत्र जुआ खेलते समय आपस में झगड़ रहे हों, और किसी की भी विजय उसके हर्ष का कारण नहीं हो सकती हो।

किंतु आदर्श गणराज्य में मत लेने की नौबत न आती थी। समिति में मित्रता का वातावरण रहता था और निर्णय वृद्धों की सलाह से होते थे, बहुमत के संख्याबल से नहीं। लिच्छवि-संघ के स्वर्णयुग में यही अवस्था थी[4]। अंबष्ठों ने पहले सिकंदर से लड़ने के लिए सेनापति चुने, फिर वृद्धों की सलाह मानकर संधि का निश्चय किया।

शांतिपर्व के १०७वें अध्याय में आदर्श गणतंत्र का वर्णन मिलता है। नयी पीढ़ी को ठीक प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। विशेषतः युवकों को सच्चरित्र व सदाचारी होने के लिए सचेत किया जाता था। बुद्धि, शौर्य व कार्यक्षमत्व के कारण प्रसिद्ध नेताओं के हाथों में राज्याधिकार सौंपे जाते थे और वे प्रायः गण-तंत्र को आपत्तियों से बचा सकते थे। शासन-कार्य की गंभीर समस्याओं पर

---

१ अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्॥ म. भा., १२. ८१. ८-९

२ स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किंनु दुःखतरं ततः॥ म. भा, १२. ८१, १०.

३ बभ्रूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः॥ म. भा. १२. ८१, १७

४ रिज़ डेविड्स — डायलॉग्स ऑफ बुद्ध, भा. २ पृ. ८०.

लोकसभा में वादविवाद नहीं किया जाता था। उनको हल करने का अधिकार कार्यक्षम व अनुभवी नेताओं को दिया जाता था। देश-हित के लिए मंत्रि-मन्डल के सदस्य मिल-जुलकर राज्य-कार्य चलाते थे। राजदूतों की नियुक्ति पूर्ण विचार करके की जाती थी और देश की प्रगति के लिए आर्थिक उन्नति पर काफी ध्यान दिया जाता था।

गणराज्यों में आजकल के गणतंत्रों के समान भिन्न-भिन्न दल रहते थे, और उनको निर्दिष्ट करने के लिए जो शब्द व्यवहार में आते थे, उनका उल्लेख वैयाकरणों ने भी किया है। सत्ताकांक्षी दलों का निर्देश 'द्वन्द्व' शब्द से किया जाता था और उनकी स्पर्धा का 'व्युत्क्रम' शब्द से। लोकसभा-भवन में आजकल के समान विभिन्न दलों के सदस्य भिन्न-भिन्न गुटों में बैठते थे। दलों के सदस्यों को निर्देश करने के लिए 'वार्य', 'गृह्य' 'प्रपद्य' शब्दों का उपयोग करते थे। अक्रूर के दल के सदस्यों को 'अक्रूरवार्य' या 'अक्रूरपद्य' या 'अक्रूरगृह्य' ऐसे पुकारते थे। भिन्न-भिन्न दल अपने नेताओं के नामों से ही प्रायः निर्दिष्ट किये जाते थे।

समिति के संचालन और वादविवाद के नियंत्रण संबंधी कुछ नियम तो अवश्य ही बने होंगे पर किसी राज्यशास्त्र के लेखक ने उनका वर्णन नहीं किया है। यदि हम यह मान लें कि 'बौद्ध संघ' के नियम तत्कालीन 'गण' या 'संघ' राज्यों के आधार पर बनाये गये हैं तो हमें इस विषय की कुछ जानकारी मिल जाती है। बौद्ध-संघ की गणपूर्ति (कोरम) के लिए २० सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी, इसी प्रकार का कोई नियम गणतंत्र की समिति में भी अवश्य रहा होगा, खासकर जब विभिन्न दलों में अधिकार-प्राप्ति के लिए इतनी होड़ रहती थी। पाणिनि के अनुसार जिस सभासद के आने से गणपूर्ति होती थी, उसको 'गणतिथ' या 'संघतिथ' कहते थे। गणपूर्ति के लिए जो आवश्यक कारवाई करता था, उसे गणपूरक कहते थे (महावग्ग ३. ३. ६)। सदस्यों के बैठने का स्थान-निर्धारण करने लिए भी एक कर्मचारी नियुक्त था; संभवतः गण-प्रमुख मंच पर बैठते थे और शेष सदस्य दलों के अनुसार उनके सामने रहते थे। गणमुख्य अधिवेशन का अध्यक्ष होता था और मंत्रणा का नियंत्रण करता था। जरा भी पक्षपात करने पर उसकी कटु आलोचना होती थी। पहले प्रस्तावक औपचारिक रूप से प्रस्ताव उपस्थित करता था, तत्पश्चात् उस पर वादविवाद होता था। बौद्ध-संघ में यह प्रथा थी कि जो लोग प्रस्ताव के पक्ष में रहते थे वे चुप रहते थे केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। परंतु गणतंत्र की समितियों में तो जोरों का

विवाद बराबर होता रहा होगा। आज-कल की भाँति बौद्ध-संघ में प्रस्ताव तीन बार उपस्थित और स्वीकृत किया जाता था, गणतंत्रों की समितियों में शायद यह परिपाटी न बरती जाती थी। जब मतभेद दिखाई देता था तब मत लिये जाते थे और बहुमत का निश्चय मान्य होता था। जब शाक्यों को कोशल की सेना द्वारा अपनी राजधानी घिर जाने पर कोशल-नरेश की आखिरी चेतावनी या अतिमेत्थं (Ultimatum) मिला तब उनकी समिति यह निश्चय करने के लिए बुलायी गयी कि दुर्ग के फाटक खोल दिये जायँ या नहीं। कुछ लोग इसके पक्ष में थे कुछ विपक्ष में। अंत में मत-संग्रह करने पर मालूम हुआ कि बहुमत आत्म-समर्पण की ही ओर है, वैसा ही किया भी गया[1]। यही परिपाटी सर्वत्र प्रचलित रही होगी। मतदान कभी-कभी अप्रकट रूप से किया जाता था तब उसे 'गूढ़क' मतदान कहते थे। कभी-कभी सदस्य मतसंग्रह करने वाले के कान में अपना मत कहते थे, तब उसे 'सकर्णजपकं' मतदान कहते थे। कभी-कभी प्रकट रूप से मत-दान होता था, तब उसे 'विवतक' मतदान कहते थे[2]। प्रत्येक सदस्य को अनेक रंगों की शलाकाएँ दी जाती थीं व पूर्वसंकेत के अनुसार विशिष्ट रंग की शलाका विशिष्ट प्रकार के मत के लिए 'शलाका ग्राहक' के पास दी जाती थी। मत के लिए 'छंद' शब्द का प्रयोग किया जाता था, जिसका अर्थ अपना-अपना निजी अभिप्राय था। ऐसी मतदान-पद्धति बौद्ध-संघ में थी, और वैसी ही गणतंत्रों में भी अवश्य रही होगी।

समिति की कारवाई का व्योरा रखने के लिए लेखक भी अवश्य रहते होंगे। एक बार निश्चय हो जाने पर फिर पुनर्विचार कुछ समय तक न होने पाता था।

अब हम गणराज्यों के मंत्रिमंडल पर विचार करेंगे। राज्य के आकार और परंपरा के अनुसार मंत्रियों की संख्या में अंतर रहता था। मल्ल-राज्य के मंत्रि-मंडल में केवल चार सदस्य थे, इन सब ने भगवान बुद्ध की अंत्येष्टि में प्रमुख भाग लिया था। इससे बड़े लिच्छवि-राज्य में नौ मंत्री थे यद्यपि इनकी समिति में ७७०७ सदस्य थे। लिच्छवि-विदेह-राज्यसंघ की मंत्रि-परिषद् में १८ सदस्य थे। यौधेय, मालव और क्षुद्रक आदि बड़े राज्यों के मंत्रिमंडल में कितने मंत्री रहते थे यह हमें मालूम नहीं। सिकंदर से संधिवार्ता के लिए क्षुद्रकों ने १५०

१ रॉ. हिल—लाइफ, पृ. ११८ ९।

२ चुल्लवग्ग, ४.१४.२४.

भव्य और प्रभावकारी आकृति के प्रतिनिधि भेजे थे। कहा जा सकता है कि वे ही उनके मंत्रिमंडल के सदस्य थे। मगर मंत्रिमंडल कितना ही बड़ा क्यों न हो इसमें १५० तक सदस्य शायद ही हो सकेंगे। पातंजल-महाभाष्य से भी मंत्रियों की संख्या के बारे में कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। पतंजलि ने 'पंचक' 'दशक', 'विंशक' इत्यादि शब्दों से संघों का वर्णन किया है। संभव है कि 'पंचक-संघ' शब्द से उस गण का उल्लेख किया होगा जिसके मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या पाँच थी, 'दशक-संघ' से उस संघ का, जिसके मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या दस थी। 'अतगदसओ' में समुद्रविजय प्रमुख दस दशाणों का व बलभद्र व उनके चार सहायकों का उल्लेख आता है[1]। ये सब अपने-अपने मंत्रिमंडल के सदस्य होंगे। महावग्ग (६. ४) में चार, पाँच, दस व बीस सदस्यों के 'वग्गों' के कारण संघों का विभाजन किया है। ये 'वग्ग' मंत्रिमंडल ही होंगे, जिनके सदस्यों की संख्या कभी चार, कभी पाँच, कभी दस या कभी बीस रहती थी।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मंत्रिमंडल की संख्य गणतंत्रों में प्रायः चार से बीस तक रहती थी।

केंद्रीय-समिति ही संभवतः मंत्रिमंडल के सदस्य नियुक्त करती थी। मंत्रियों का चुनाव कुछ प्रतिष्ठत कुलों के प्रमुखों से ही होता था या कोई भी इस पद के लिए खड़ा हो सकता था, इसका ठीक पता नहीं। धीरे-धीरे मंत्रिपद भी आनुवंशिक हो गया, यद्यपि पिताके स्थान पर काम करने से पहले पुत्र का औपचारिक निर्वाचन होता रहा हो। मालवों की स्वतंत्रता के उद्धारक श्रीसोम का वंश कम से कम तीन पीढ़ियों से गणमुख्य होता आ रहा था[2]। अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि पिता का पद न मिलने पर कुछ मंत्रि-पुत्र अक्सर शत्रु से मिलकर राज्य नष्ट करने की भी कुचेष्टा करते थे। लिच्छवि और यौधेय आदि कुछ गणराज्यों में तो।मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को 'राजा' की उपाधि दी जाती थी। परंतु मालव इस प्रकार उपाधि देने के विरुद्ध थे, २२५ ई० में उनकी स्वतंत्रता का उद्धार करनेवाले महान नेता के लिए भी, विजय की घोषणा में भी ऐसी किसी उपाधि का प्रयोग नहीं किया गया।

गणराज्य अपनी समर-शूरता के लिए प्रख्यात थे। उनके मंत्रिमंडल के सभासद् अवश्य ही संकट से अपने गण के उद्धार की शक्ति रखने वाले धीर वीर

---

१ समुद्रविजयपमोक्खाणं दसण्हुं दसाणाणं पृ. ४. (वैद्य संपादित ग्रंथ)

२ संभवतः एपि. इ. २७ में यह लेख प्रकाशित हो जायगा।

सेनानी रहे होंगे। गण-नेता के लिए प्रज्ञा, पौरुष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र और गणपरंपरा का ज्ञान आदि गुणों की अत्यंत आवश्यकता थी[1]।

गणाध्यक्ष ही मंत्रिमंडल का प्रधान और समिति का अध्यक्ष हुआ करता था। शासन-कार्य की देखरेख के साथ ही उसका मुख्य कार्य गण की एकता बनाये रखना और झगड़े तथा फूट का निवारण करना था जो बहुधा गणराज्यों के नाश के कारण होते थे। एक मंत्री के जिम्मे परराष्ट्र-विभाग रहता था जो गुप्तचरों के विवरण सुनता था और अपने तथा दूसरे राज्यों के छिद्रादि पर आँख रखता था[2]। कोष-विभाग एक अन्य मंत्री के हाथ में रहता था, उसे राज्य के धन को बाजार में लगाने और राज्य का ऋण वसूल करने का अधिकार था[3]। तीसरा विभाग न्याय का था, इसके अध्यक्ष का काम संभवतः मातहत न्यायालयों के विचारों की अपील सुनकर व्यवहार और धर्म के नियमानुसार अंतिम निर्णय करना था[4]। अर्थशास्त्र ने गणतंत्र का नाश चाहनेवाले राजा को सलाह दी है कि युवती विधवाओं की फरियाद लेकर इस विभाग के अध्यक्ष के पास भेजना और उसे पथभ्रष्ट कराकर गण-शासन की बदनामी करानी चाहिये। अन्य विभागों में दंड (पुलिस), कर, व्यापार और उद्योग भी थे। कुछ गणतंत्र व्यापार में भी उतने ही उन्नत थे जितने वे युद्ध में विख्यात थे[5]।

आधुनिककाल के मन्त्रिमंडलों की भाँति प्राचीन मन्त्रिमण्डल के भिन्न-भिन्न सदस्यों के पदों और अधिकारों में सम्भवतः कुछ अंतर था[6]।

---

१ प्राज्ञाञ् शूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्तान्विवर्धन्ते गणा नृप ॥
द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान्गणान्सन्तारयन्ति ते ॥ म. भा., १२. १०७. २०-२१

२ चारमंत्रविधानेषु कोषसंनिचयेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ म. भा. १२. १०७. १९

३ धन लगाने के विवरण के लिए अर्थशास्त्र, अ. १२ देखिये।

४ धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ वही, १७

५ वार्ताशस्त्रोपजीविनः। अर्थशास्त्र, अ. ११

६ इससे शत्रु को अक्सर गणतन्त्रों में फूट डालने का अवसर मिल जाता था। अर्थशास्त्र, ११

प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष के अधीन विभिन्न श्रेणी के अधिकारी काम करते थे। शाक्य, कोलिय आदि छोटे-छोटे राज्यों के मातहत अधिकारी सीधे विभागाध्यक्ष से संबंध रखते थे, बड़े राज्यों में बीच की कई श्रेणियाँ होती थीं।

यौधेय और क्षुद्रक आदि विशाल गणराज्यों में बहुसंख्यक नगरों की अपनी स्वायत्त-परिषदें होती थीं। इनमें शासक उच्च श्रेणी के अतिरिक्त जन-साधारण श्रेणी के विविध वर्गों का भी प्रतिनिधित्व रहता था, जैसा नृप-तंत्र द्वारा शासित नगरों में होता था[1]। इन परिषदों के निर्वाचन और कार्य-प्रणाली का हमें ज्ञान नहीं है इसलिए अभी यह जानना संभव नहीं है कि इन परिषदों पर केंद्रीय-शक्ति का नियंत्रण कैसे और किस रूप में रहता था और केंद्रीय-समिति में इनके प्रतिनिधि जाते थे या नहीं।

गणराज्यों के अंतर्गत ग्रामों में भी पंचायतें अवश्य रही होंगी, उनके अधिकार भी नृप तंत्रान्तर्गत ग्राम-पंचायतों से कम न रहे होंगे। यह भी संभव नहीं प्रतीत होता कि इनकी सदस्यता केवल उच्च या शासक-वर्ग तक ही सीमित रही हो क्योंकि इस वर्ग के लोग अधिकतर राजधानी और अन्य नगरों में ही रहते होंगे। अन्य राज्यों के समान किसान, व्यापारी, कारीगर आदि सभी ग्रामीण-वर्गों के प्रतिनिधि पंचायत में रहते थे। यह भी अनुमान ही है पर संभवतः वस्तुस्थिति भी यही थी।

समुचित सामग्री का अभाव गणतंत्रों के संबन्ध में जितना खलता है उतना अन्य कहीं नहीं खलता। उनके विधान और कार्यप्रणाली का जो चित्र हमारे सामने है वह अत्यन्त धुँधला और अस्पष्ट है। पर जो भी जानकारी मिली है उससे ज्ञात होता है कि ये राज्य बड़े ही समृद्ध और सुव्यवस्थित थे। सिकन्दर का जैसा प्रबल प्रतिरोध इन्होंने किया वैसा तत्कालीन नृपतंत्र-राज्य न कर सके। इन राज्यों के नागरिकों में जो उत्कट देशभक्ति और ज्वलंत स्वातंत्र्यप्रेम था वह नृप-तंत्र की प्रजा में दुर्लभ था। इस व्यवस्था में व्यापार और उद्योग की भी बहुत उन्नति हुई थी। पंजाब और सिंधु के गणराज्यों में सुखी और समृद्ध नगरों की बहुतायत थी। इनमें विचार-स्वातंत्र्य को प्रश्रय दिया जाता था अतः यहाँ दार्शनिक-चिंतन की भी खूब प्रगति हुई। पूर्वी गणराज्यों की तो यह विशेषता थी। उपनिषद, बौद्ध और जैन दर्शन के विकास में इनके नागरिकों का महत्व-

---

1 गुप्तसाम्राज्य की अवस्था के लिए दामोदरपुर ताम्रपत्र देखिये, एपि. इ., १५. पृ. १२९

पूर्ण भाग रहा। सिंधुनद की घाटी के दार्शनिकों से भी यूनानी बहुत प्रभावित हुए थे।

अधिकांश गणतंत्र एक ही ज्ञाति के रहते थे। इनका शासकवर्ग समझता था कि उसके सब व्यक्ति एक ही ऐतिहासिक या पौराणिक मूल-पुरुष के वंशज हैं। केंद्रीय-समिति की सदस्यता का अधिकार प्रायः उन्हीं तक सीमित था।

नगर और ग्राम संस्थाओं में सभी वर्गों और वृत्तियों को उचित प्रतिनिधित्व और स्थान मिलता था। विशेषाधिकारी उच्चवर्ग और शेष जनता में किसी संघर्ष का प्रमाण नहीं मिला है। यह भूलना न चाहिये कि छठवीं सदी तक अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा थी अतः क्षत्रियों की अलग और स्वयंपूर्ण जाति न बन सकी थी। सेना में उच्च पद प्राप्त करनेवाले वैश्य या शूद्र को क्षत्रिय-पद से वंचित करना संभव न था। पाणिनि के एक सूत्र से यह ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण का पद क्षत्रिय के ही समान था[१]।

गणतन्त्रों की स्थापना या विकास में वंशैक्य की भावना का बड़ा हाथ रहा। जहाँ यह भावना वर्तमान न थी वहाँ गणराज्यों की स्थापना प्रायः न हो सकी। यह भी प्रतीत होता है कि गणराज्यों के अधिकार का विस्तार या प्रभाव ऐसे प्रदेशों में न हो पाता था जहाँ उनके वंश के लोग पर्याप्त संख्या में नहीं रहते थे। यह सत्य है कि गणराज्य समान-शत्रु से मोर्चा लेने के लिए आपस में मिल जाते थे परन्तु मौर्य या गुप्त साम्राज्यों की भाँति कोई शक्तिशाली और विशाल साम्राज्य वे स्थापित न कर सके। उनकी दृष्टि अपने निवास-प्रदेश के परे न जाती थी। अपनी स्वतन्त्रता पर संकट आने पर वे प्राण होम करने को तैयार रहते थे पर विदेशी आक्रमण के निवारण के लिए पंजाब, राजपूताना और सिंध के गणराज्यों को मिलाकर एक विशाल उत्तर-पश्चिमी राज्यसंघ बनाने की कल्पना उनके मन में न आ सकी। कुलाभिमान, आपसी झगड़े और अत्यधिक स्वातंत्र्यप्रेम के कारण गणतन्त्रों में सुदृढ़ केंद्रीय-शासन का विकास भी न हो सका क्योंकि इसके लिए विशेषाधिकारी वर्ग और स्थानीय संस्थाओं के बहुत से अधिकार केंद्रीय-सरकार को सौंपने पड़ते हैं।

अब हमें इस बात का विचार करना है कि किन कारणों से ४०० ई० के बाद इन गणतन्त्रों का अस्तित्व नष्ट हो गया। डा० जायसवाल इनके पतन का

---

१ आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्। पाणिनि, ५.३।११५ यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय एक साथ रखे गये हैं।

कारण गुप्त वंशी नृपों के साम्राज्यवाद को मानते हैं। उनका कथन है कि 'सिकंदर की भाँति समुद्रगुप्त ने देश की स्वातंत्र्यभावना को कुचल डाला, उसने यौधेय, मालव तथा उन अन्य गणराज्यों का नाश किया जिनके उत्संग में स्वतंत्रता का पालन, पोषण और संवर्धन होता था।' परन्तु यह कथन ठीक नहीं। मालव, अर्जुनायन, यौधेय और मद्र आदि गणों ने समुद्रगुप्त की अधीनता केवल कुछ कर भर देने तक स्वीकार की थी। गुप्त सम्राट् को कर देते हुए भी उनकी अन्तर्गत स्वतन्त्रता सुरक्षित रही, उनके प्रदेशों पर गुप्त राजाओं का प्रत्यक्ष शासन न था। अतः उनकी गणतंत्रात्मक शासन-व्यवस्था पर गुप्त साम्राज्यवाद का विशेष प्रभाव पड़ना संभव न था। पहले भी मौर्य और कुषाण साम्राज्यों ने उन्हें आत्मसात् कर लिया था, पर इन साम्राज्यों के कमजोर पड़ते ही गणराज्य पुनः स्वतंत्र हो गये। गुप्त साम्राज्यवाद ने उनकी अन्तर्गत स्वाधीनता में हस्तक्षेप न किया था अतः यह समझना मुश्किल है कि वह उनकी प्रजातंत्र-व्यवस्था के लिए कैसे घातक सिद्ध हुआ।

नंदसा गाँव के यूप पर के लेख से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी में ही मालव-गणराज्य की सत्ता पैतृक परंपरागत होकर ऐसे कुलों के हाथ में जा रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाकु राजर्षियों से बताते थे। चौथी शताब्दी में यौधेय और सनकानिक गणों के नेता महाराज और महासेनापति जैसी राजसी उपाधियाँ धारण कर रहे थे। यही दशा लिच्छवि-गणराज्य की भी रही होगी क्योंकि 'राजपुत्री' कुमारदेवी लिच्छवि-प्रदेश की उत्तराधिकारिणी थी। अस्तु, जब गणराज्यों की सत्ता (आनुवंशिक) अध्यक्षों के हाथ में सीमित हो गई, जो सेनापति रहते थे और जो राजसी उपाधियाँ भी धारण करते थे, तो गणराज्य और नृपतंत्र में अन्तर ही क्या रहा ? गणतन्त्रों के सदस्यों ने इस नई प्रवृत्ति का विरोध क्यों नहीं किया और गण-व्यवस्था कैसे कमजोर होती गई, इसका ठीक कारण ज्ञात नहीं। राजा के देवत्व की भावना के जोर पकड़ने से प्रभावित होकर ही गणराज्यों ने सम्भवतः अध्यक्ष-पद के आनुवंशिक होने का विरोध नहीं किया। सम्भव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि गणतन्त्र की अपेक्षा नृपतन्त्र द्वारा विदेशी आक्रमण से अधिक सुरक्षा हो सकती है।

अध्याय ७

केंद्रीय लोकसभा

आधुनिक राज्यों के केंद्रीय-शासन में, राज्याध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति, उसकी परिषद् या मंत्रिमंडल, तथा सरकार पर नियंत्रण रखने और विधि-नियम या कानून बनाने के लिए पूर्णतः या मुख्यतः लोकमतानुवर्ती प्रतिनिधिसभा या धारा-सभा का समावेश होता है। इस सभा को केंद्रीय लोकसभा कहना उचित होगा। पिछले दो अध्यायों में नृपतंत्र और गणतंत्र के अध्यक्षों के संबंध में विचार किया जा चुका है। अब हम केंद्रीय लोकसभा के विषय पर विचार करेंगे। क्या प्राचीन भारत में आजकल की पार्लमेंट की भाँति कोई केंद्रीय लोकसभा थी? यह किसी विशेष युग या विशेष प्रकार के राज्य में ही थी या सब काल में और सब प्रकार के राज्यों में थी? इसके सदस्य किस प्रकार चुने जाते थे? सरकार पर इसका नियंत्रण था या नहीं और यदि था तो किस सीमा तक था? कानून या विधिनियम बनाने का अधिकार सभा को ही था या सरकार बिना इसकी स्वीकृति के विधि या कानून बना सकती थी। इन्हीं प्रश्नों पर हमें इस अध्याय में विचार करना है।

पिछले अध्याय में दिखाया गया है कि प्राचीन गणराज्यों में आधुनिक पार्लमेंट से मिलती-जुलती केंद्रीय लोकसभा वर्तमान थी। यह भी बताया जा चुका है कि उनमें किन वर्गों का प्रतिनिधित्व था और शासन पर उनका क्या प्रभाव था। अब हमें यह देखना है कि इसी प्रकार की संस्थाएँ नृपतंत्रात्मक शासन-पद्धति में भी होती थीं या नहीं।

वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन प्रायः सर्व राज्यों में लोकसभाएँ होती थीं जो राजाओं का नियंत्रण करती थीं। ऋग्वेदकाल का औसत राज्य ग्रीस के नगर-राज्यों की भाँति विस्तार में कुछ वर्ग मील से अधिक न थे। इनकी राजधानी इनमें अंतर्भूत ग्रामों से कुछ विशेष बड़ी न होती थी। हर ग्राम में जनता की 'सभा' होती थी और राजधानी में संपूर्ण राज्य की केंद्रीय लोकसभा होती थी जिसका नाम 'समिति' था।

'सभा' और 'समिति' का वैदिककाल में बड़ा ऊँचा स्थान था। एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुड़वा 'दुहिताएँ' कहा गया है[1]। इससे मालूम होता है कि लोग समझते थे कि ये सनातन ईश्वरनिर्मित संस्थाएँ हैं और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम से कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ये भी अस्तित्व में आयीं। वैदिककाल के भारत के गाँव-गाँव में ये संस्थाएँ विद्यमान थीं और होनहार राजनीतिज्ञ या विद्वान् की इससे बड़ी कोई आकांक्षा न थी कि समिति उसकी योग्यता स्वीकार करे[2]। यही नहीं, विवाह के समय यह मनाया जाता था कि नववधू भी अपने वक्तृत्व से समिति को वश में कर सके[3]।

वैदिक वाङ्मय में तीन प्रकार की सभाएँ मिलती हैं, 'विदथ', 'सभा' और 'समिति'। इन शब्दों का ठीक अर्थ निश्चित करना कठिन है। संभव है कि देश-काल के अनुसार इनके अर्थ में वैदिक युग में भी परिवर्तन हुआ हो। आधुनिक विद्वान् भी इस विषय में एकमत नहीं हैं। लुडविग का मत है कि 'सभा' में पुरोहित, धनिक आदि उच्चवर्ग के लोग सम्मिलित होते थे, और 'समिति' में साधारण लोग रहते थे। ज़िमर का अनुमान है कि 'सभा' ग्राम-संस्था थी और 'समिति' पूरे 'जन' की केंद्रीय परिषद् थी। हिलेब्रांड का मत है कि सभा और समिति एक ही थीं, सभा उस स्थान का नाम था जहाँ लोग एकत्र होते थे और 'समिति' एकत्रित समूह को कहते थे।

इन विभिन्न मतों की विवेचना न तो यहाँ संभव है न आवश्यक ही। 'विदथ' शब्द 'विद्' धातु से निकला है और इसका अर्थ संभवतः विद्वानों की सभा है। शासनव्यवस्था के संबंध में इसका प्रयोग शायद ही कहीं किया गया हो अतः इसे हम छोड़े देते हैं। हिलेब्रांड का यह मत भी ठीक नहीं कि सभा कोई अलग संस्था नहीं वरन समिति के अधिवेशनस्थल ही का नाम था, क्योंकि ऊपर दिये गये अथर्ववेद के उद्धरण में सभा और समिति दो बहनें अर्थात् दो अलग संस्थाएँ

---

१ सभा चा मांसमितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। अ. वे., ७. १२. १

२ ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्। अ. वे., १२. १. ५६

३ वशिनी त्वं विदथमावदासि। ऋ. वे.,१०. ८५. २६

कही गयी हैं। एक अन्य स्थल में वर्णन है कि व्रात्य का अनुसरण सभा, समिति और सेना के सदस्यों ने किस प्रकार किया[1]।

इससे स्पष्ट है कि 'सभा' 'समिति' के अधिवेशन का स्थान नहीं वरन अलग संस्था थी। एक पुराने वैदिक मंत्र में वर्णन है कि 'सभा' में बहुधा गउओं की ही चर्चा होती थी और उनके दूध के पौष्टिक गुण का बखान किया जाता था[2]।

एक अन्य स्थल पर वर्णन है कि जुआरी लोकसभा में एकत्र होकर किसी प्रकार जुए में सब-कुछ खो बैठने पर बाद में अपनी स्त्री और अपने को भी लगा देते थे[3]। ब्राह्मण-ग्रंथों में भी 'सभा' और जुए के इस संयोग का वर्णन है[4]। इससे प्रकट होता है कि 'सभा' मुख्यतः गाँव की सामाजिक गोष्ठी ही थी परंतु आवश्यकता पड़ने पर ग्राम-व्यवस्था से संबध रखने वाले छोटे-मोटे मामलों पर भी इसी में विचार कर लिया जाता था। आपसी झगड़े निपटाना और गाँव की रक्षा का प्रबन्ध करना ही मुख्य विषय थे, पुरुषमेध यज्ञ के वर्णन से पता चलता है कि सभा और सभाचरों का न्याय-दान से घनिष्ठ संबन्ध था।

संभव है कि कुछ राज्यों या प्रदेशों में 'सभा' का संबंध राजा से था और वह सामाजिक गोष्ठी नहीं वरन् राजनीतिक संस्था रही हो। अथर्ववेद के एक मंत्र में यम के सभासदों को राजसी पद दिया गया है और उन्हें यम को प्राप्त होनेवाले यज्ञ-भाग के १६वें हिस्से का अधिकारी बताया गया है। इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि मर्त्यलोक के सभासदों का पद भी स्वर्गलोक के सभासदों की भाँति राजसी श्रेणी का था और वे भी राजा को कर और शुल्क से होनेवाली आय में कुछ हिस्सा बटाने के हकदार थे। मगर यह संभव है कि उपरिनिर्दिष्ट स्थलों में 'सभा' से यम या इस लोक के राजा के अमात्य-मंडल का संकेत रहा हो न कि किसी लोकसभा का। एक स्थल पर सभासद के प्रचुर धन (गोधन) का उल्लेख और उसके खूब ठाट-बाट से बढ़िया घोड़ों के रथ पर सवार

---

१ तं च सभा च समितिश्चानुव्यचरन्। अ. वे., १५. ९

२ यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद्। ऋ. वे., ७. २८. ६.

३ सभामेति कितवा पृच्छमानः जेष्यामीति तन्वा शोशुचानः।
ऋ. वे., १०. ३४.६

४ तैत्ति. ब्रा., १. १. १०. ६; शत. ब्रा., ५. ३. १. १०।

५ यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः॥
ऋ. वे. १. २९. १.

होकर सभा में जाने का वर्णन किया गया है[1]। उससे भी यह सूचित होता है कि वह बड़ा अधिकारी होता था। फिर भी अधिकतर प्रमाणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'सभा' प्रायः ग्राम संस्था थी और उसमें सामाजिक और राजनीतिक दोनों विषयों पर विचार किया जाता था।

ऋग्वेद के अंतिम मंत्र में 'समिति' का उल्लेख सामाजिक या विद्वद्मण्डली के रूप में किया गया जान पड़ता है[2]। परंतु एक और पहले के मन्त्र में वर्णन है कि राजसत्ता को हस्तगत करने की इच्छा से एक नेता ने समिति को भी अपने वश में करने की योजना बनायी थी[3]। ऋग्वेद में एक स्थल पर आदर्श राजा के अपनी 'समिति' में जाने का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में एक पदच्युत राजा ने पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर सबसे बड़ी आकांक्षा यही प्रकट की कि मेरी समिति सदा मेरी ओर रहे[4]। इसी प्रकार ब्राह्मण का धन अपहरण करने वाले राजा को सबसे बड़ा शाप यही दिया जाता था कि 'तुम्हारी समिति तुम्हारा साथ न दे'[5]।

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रकट होता है कि एक-दो स्थानों पर 'समिति' का सामाजिक गोष्ठी के रूप में उल्लेख होने पर भी वह वास्तव में राजनीतिक संस्था थी और उसका रूप केंद्रीय-शासन की व्यवस्थापिका-सभा का सा था। यह संस्था अत्यन्त प्रभावशाली थी, बहुधा इसी के समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर रहता था। 'समिति' के विरुद्ध हो जाने पर राजा की स्थिति अत्यन्त संकटपूर्ण हो जाती थी। खोये हुए राज्य को फिर से प्राप्त करने वाले राजा की स्थिति तब तक सुदृढ़ न मानी जाती थी जब तक समिति उससे सहयोग करने पर तैयार न हो जाय। यह स्पष्ट है कि राज्य के केंद्रीय-शासन और सेना पर 'समिति' का बहुत अधिक प्रभाव था, पर व्यवहार में इसका उपयोग कैसे होता था और राजा के अधिकारों से इसका सामंजस्य किस प्रकार किया जाता था इसका हमें ज्ञान नहीं।

---

१ अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ इन्द्र ते सखा। ऋ. वे. ८. ४. ९

२ संगच्छध्वं संवध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
समानं मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्॥
१०. १९१. २-३

३ आ वश्चित्तं आ वो व्रतं आ वोऽहं समितिं ददे। १०. १६६, ४

४ ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। अ. वे., ६. ८८. ३

५ नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। अ. वे ५. १९. १५

समिति के संघटन के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते। समिति सरकारी संस्था थी या गैर सरकारी ? यदि गैर सरकारी तो निर्वाचित थी या नहीं ? यदि निर्वाचित तो निर्वाचक एक विशेष वर्ग था या साधारण जनता ? निर्वाचन समस्त जीवन भर के लिए था या कुछ वर्षों के लिए ? इन सब प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के लिए हमारे पास कुछ भी साधन नहीं हैं। चूँकि गणतंत्रों की समितियाँ उच्चवर्ग की संस्थाएँ थीं, अतः संभव है कि राजतन्त्र की 'समिति' भी उसी प्रकार की रही हो। वैदिककाल के राज्य ग्रीस के नगर-राज्यों की भाँति छोटे-छोटे होते थे अतः सम्भव है कि समाज में प्रमुख स्थान रखनेवाले योद्धा या प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति ही समिति के सदस्य रहे हों। उस युग में पुरोहित का कार्य युद्ध-क्षेत्र में भी महत्व रखता था अतः समिति में इनके प्रतिनिधिरूप में और कोई नहीं तो राजा के पुरोहित तो अवश्य ही रहे होंगे।

'समिति' के सदस्य समाज के प्रतिष्ठित और धनी व्यक्ति होते थे और शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता था, 'सभा' के सदस्यों की भाँति वे भी पूरे ठाठ से 'समिति' के अधिवेशन में उपस्थित होने जाते रहे होंगे।

समिति में गहरा वादविवाद होता था, राजनीति में नाम करने के इच्छुक नये सदस्य अपनी भाषण-कला से समिति को प्रभावित करने के लिए उत्सुक रहते थे[1]। समिति में सफलता उसी को मिलती थी जो अपनी वाक्चातुरी और तर्क-बल से सदस्यों को अपनी ओर कर ले। कभी-कभी दलबन्दी की तीव्रता होने पर गरमा-गरम बहस हो जाती थी और हाथापाई की भी नौबत आ जाती रही होगी। इसी से ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गई है कि समिति की कारवाई सौहार्द्रपूर्ण हो, सदस्यों में मेल-जोल रहे और उसके निर्णय एक मत से हों[2]।

यह खेद और आश्चर्य की बात है कि जो 'समिति' ऋग्वेद और अथर्ववेद के युग में इतनी प्रमुख और प्रभावशाली संस्था रही हो, वह संहिता और ब्राह्मण के युग आते-आते लुप्त सी हो जाय। 'सभा' का नाम तो शेष था पर स्वरूप एकदम बदल गया था। ग्राम-संस्था के बजाय अब वह राजा की परामर्शदात्री परिषद् या राज-सभा बन गई थी और अनेक शताब्दियों तक उसका यही अर्थ था। इसकी बैठक बारम्बार हुआ करती थी और इसका अपना

१ ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदाम्यहम्। अ. वे., १२. १. ५६

२ देखिये पृ. ११७, नोट २।

सभापति होता था[1]। इसके सदस्यों (सभासदों) का पद पुरोहित या उच्च राज्याधिकारी के बराबर होता था[2]। इसमें करद सामन्त भी उपस्थित रहते थे[3]। इससे पता चलता है कि यह धीरे-धीरे लोकप्रिय संस्था से राजदरबार में परिवर्तित हो गई थी। केंद्रीय लोकसभा के रूप में इसका इतिहास यहीं समाप्त होता है।

उपनिषद्काल में समिति पुनः प्रकट होती है। अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद श्वेतकेतु पाँचालों की समिति में जाते हैं। राजा भी इस समिति में उपस्थित थे और उन्होंने श्वेतकेतु की विद्या के परीक्षार्थ उनसे कुछ प्रश्न भी किये थे। इससे ज्ञात होता है कि उपनिषद्काल में समिति पंडित-सभा जैसी संस्था थी जिसके सभापति कभी-कभी राजा भी होते थे, खासकर किसी नये स्नातक की परीक्षा आदि के अवसर पर, जैसे आजकल विश्वविद्यालय के उपाधिवितरण समारोह के सभापति गवर्नर हुआ करते हैं। यह तो निश्चित है कि धर्मसूत्रों के समय से पहले ही (ई० पू० ५००) 'समिति' और 'सभा' राजनीतिक संस्था का रूप खो चुकी थीं, क्योंकि सूत्रों में राजा या शासन के कार्यों के वर्णन के प्रसंग में इन संस्थाओं का कभी नाम भी नहीं लिया गया है। 'समिति' के तो नाम से भी वे परिचित न थे। 'सभासद' शब्द का उल्लेख अवश्य हुआ है पर उससे न्यायसभा या राजसभा के सदस्य निर्दिष्ट होते थे न कि लोकसभा या व्यवस्थापक-सभा के।

परंतु गणराज्यों में केंद्रीय लोकसभाएँ बराबर काम करती रहीं यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। नृपतन्त्र में वे क्यों विलुप्त हो गईं यह बताना कठिन है। एक कारण यह हो सकता है कि गणराज्य बहुत बाद के समय तक भी विस्तार में बड़े न थे, जब कि ब्राह्मणकाल (१५००-१००० ई० पू०) में ही राजशासित राज्य बहुत विस्तृत हो गये थे। विस्तृत राज्यों में जहाँ ग्राम दूर-दूर पर बसे होते थे, 'समिति' जैसी केंद्रीय लोकसभा का मिलना और काम करना कठिन हो जाता था। प्रतिनिधि-व्यवस्था उस समय न निकली थी इसलिए समिति का काम करना छोटे-छोटे राज्यों में ही सम्भव वा सुकर था जहाँ जनता राजधानी से अधिक दूर न रहती थी। अस्तु, बड़े राज्यों में एक ओर सदस्यों के एकत्र होने और काम करने में कठिनाई थी, दूसरी ओर राजा

---

१ वा. सं, १६. २४
२ ऐ. ब्रा., ८. २१
३ श. ब्रा., ३. ३. ४. १४

सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में ही कर लेने का अवसर ढूँढ़ा करते थे। अतः 'सभा' और 'समिति' का इन परिस्थितियों में धीरे-धीरे समाप्त हो जाना स्वाभाविक ही था।

पौर-जानपद सभा

श्री काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि वैदिककाल की 'सभा-समिति' एकदम विनष्ट नहीं हुई, बल्कि उनका स्थान 'पौर-जानपद' ने ले लिया, जिनका उल्लेख बाद के साहित्य और उत्कीर्ण लेखादि में कभी-कभी मिलता है। श्री जायसवाल ने बड़े विस्तार से इस मत का प्रतिपादन किया है। आप कहते हैं कि साधारणतः पौर-जानपद का अर्थ किसी राज्य के ग्राम और नगर की जनता है पर जब इसका उल्लेख नपुंसक एक वचन में 'पौर-जानपद' के रूप में हो तब इसका अर्थ राजधानी और देश के नागरिकों की 'प्रतिनिधि संस्था' होता है। रामायण में इस संस्था का उल्लेख है और दूसरी शताब्दी ई० पू० में खारवेल के राज्य में यह काम कर रही थी। मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में जानपदों के कानूनों के वर्णन से भी इसका अस्तित्व सिद्ध होता है; इनके अध्यक्षों का भी उल्लेख स्मृतियों में पाया जाता है। इस संस्था की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि इसके विरुद्ध आचरण करनेवाले व्यक्ति को सरकार द्वारा किसी भी प्रकार की सुविधा देने का निषेध किया गया है[१]।

डा० जायसवाल ने अपने मत का प्रतिपादन बड़ी विद्वत्ता और चतुरता से किया है। पर उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं तथा इस विषय में जो अन्य सामग्री उपलब्ध है उन सबकी निष्पक्ष दृष्टि से समीक्षा करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक के काल में पौर जानपद' नामक कोई लोकसभा प्राचीन भारत में न थी। रामायण (कांड दो, सर्ग १४. ५४) में उल्लिखित 'पौर-जानपद' शब्द (एक वचन में याने 'पौरजानपदश्च के स्वरूप में) मानने और तब उसका अर्थ 'नागरिकों की एक संस्था' करने के पक्ष में व्याकरण के जो प्रमाण दिये जाते हैं, वे पुष्ट और मान्य नहीं हैं[२]। रामायण में

---

१ हिन्दू पॉलिटी, भाग दो, अध्याय २७-२८।

२ विवादभूत श्लोक यह है :—

उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्।

पौरजानपदश्चापि नैगमश्च कृतांजलिः ॥ कृ. पृ. उ.

अधिकतर यह शब्द बहुवचन में (पौर-जानपदाः) ही प्रयुक्त हुआ है और इसका अर्थ कोई लोकसभा नहीं वरन जनसाधारण ही है। उदाहरणार्थ रामायण (कांड दो, सर्ग १४, श्लोक सं ५४) में[1] 'पौर-जानपद' से प्रमुख व्यक्तियों की ओर ही संकेत है। अन्यत्र (२, १११. १६ में) भरत जिस पौर-जानपद का उल्लेख करते हैं उसका तात्पर्य उन हजारों लोगों से है जो श्रीराम को लौटाने के लिए भरत के साथ गये थे[2]। यदि यह मान भी लिया जाय कि पौर-जानपद का अर्थ जनता की लोकसभा से है तो भी यह स्पष्ट है कि इसे कुछ विशेष अधिकार न थे। न तो यह श्रीराम के वन-गमन के दशरथ के आदेश का निषेध कर सकी न श्रीराम को अयोध्या लौटने को राजी कर सकी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रामचन्द्र से आखिरी बार अयोध्या लौटने का अनुरोध करते हुए भरत अपनी और अमात्यों की प्रार्थना का तो उल्लेख करते हैं,पर पौर-जानपद या लोकसभा का नाम भी नहीं लेते[3]। राम भी भरत को विदा करते समय उन्हें मित्रों, अमात्यों और मन्त्रियों की सलाह से राजकाज चलाने का उपदेश देते हैं। यहाँ भी पौर-जानपद का नाम नहीं है[4]। यदि पौर जानपद वास्तव में जनता की प्रतिनिधि संस्था थी, तो यह उपेक्षा और भी आश्चर्य-जनक हो जाती है।

(क्रमशः)

जायसवालजी का यह दावा है कि चूंकि 'उपतिष्ठति' क्रियापद एकवचन में है इसलिए उसका हरेक कर्ता एकवचन होना चाहिए ; ऐसा होने से श्लोक में का 'पौरजानपदः' पद एकवचन मानना पड़ेगा और उसका अर्थ 'पौरजानपद' सभा होगा। मगर व्याकरण-शास्त्र में ऐसा कोई नियम नहीं है। प्रत्युत वह कहता है कि कर्ताओं में से कुछ एकवचन कुछ द्विवचन कुछ बहुवचन हो सकते हैं, ऐसी अवस्था में क्रियापद बहुवचन होना चाहिये।

१ **पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह। २. १४. ५४**

२ **उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यमनुशासथ॥ २. १४. ४०**

३ **एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।**
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ २. १०४ १६

४ **अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मंत्रिभिः।**
सर्वकार्याणि संमंत्र्य सुमहान्त्यपि कारय॥

खारवेल के हाथीगुंफा लेख में भी केंद्रीय लोकसभा का उल्लेख नहीं है। लेख की ७वीं पंक्ति में कहा गया है कि खारवेल ने पौर-जानपद पर लाखों 'अनुग्रह' किये[1]। जायसवाल 'अनुग्रह' का अर्थ वैधानिक अधिकार मानते हैं, जो पौरसभा और जानपदसभा को दिये गये। पर वैधानिक अधिकारों की संख्या कभी लाखों नहीं हो सकती अतः अनुग्रह का अर्थ यहाँ विविध सुविधाएँ ही समझना चाहिये जो नगर और देहातों की जनता के लिए दी गयीं और जिनका मूल्य लाखों रुपये तक था। राज्य की ओर से सड़क, कुएँ, रुग्णालय और विश्राम-गृह आदि बनवाना और लगान आदि में छूट देना प्रजा पर लाखों के बराबर 'अनुग्रह' करना कहा जा सकता है। हाथीगुंफा लेख के सूक्ष्म विवेचन से भी स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल की नीति या शासन पर किसी लोकसभा का कुछ भी नियंत्रण न था। लेख में उसके भारत के विभिन्न भागों पर अभियान और विजय का वर्णन है, परन्तु यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि पौर-जानपद से कभी इनके लिए परामर्श या सहमति ली गयी थी। यदि पौर-जानपद की कोई वैधानिक सत्ता थी भी तो उसे संधि-विग्रह के समान महत्व के मामले में बोलने का हक न था।

स्मृतियों में जानपद-धर्मों के उल्लेख से केंद्रीय व्यवस्थापिका या लोकसभा के रूप में जानपद का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मनु द्वारा (अष्टम अध्याय ४१) उल्लिखित 'जानपद-धर्म' का अर्थ देश-धर्म अर्थात् देशप्रथाएँ या लोकाचार हैं, केंद्रीय व्यवस्थापक-संस्था द्वारा बनाये गये विधि-नियम या कानून नहीं। इस श्लोक की प्रथम अध्याय के ११८वें श्लोक से तुलना करने[2] पर स्पष्ट हो

---

१ अनुग्रहानेकानि सतसहस्रानि विसजति पौर जानपदम्। ए. इं., २०. ७९

२ दोनों श्लोक धर्म के आधार का वर्णन करते हैं और दोनों की तुलना से ज्ञात होगा कि ८. ४१ का 'जानपद धर्म' १. ११८ का 'देशधर्म' ही है। देशधर्म और जानपद-धर्म में कुछ भी फरक नहीं था। देखिये :—

जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपालयेत्॥ ८. ४१
देशधर्मान् जातिधर्मान् श्रेणीधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः॥ १. ११८
देशजातिकुलधर्मा आम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्॥ गौतम ध. सू. ११. २०
पचधा विप्रतिपत्तिः दक्षिणतस्तथोत्तरतः।
तत्रतत्र देशप्रामाण्यमेव स्यात्। बौ. ध. सू. १. १. १७-१८

जायगा कि जानपदधर्म और देशधर्म एक ही हैं। कात्यायन की परिभाषा के अनुसार 'देशधर्म' किसी देश में प्रवृत्त वह सार्वलौकिक आचार है जो श्रुति और स्मृतियों के प्रतिकूल न हो[१]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी विभिन्न प्रदेशों के आचार को ही देशधर्म कहा गया है[२]। देश के विभिन्न भागों में दायभाग, विवाह, खान-पान और वृत्ति संबंधी नियम अलग-अलग होते थे। कहीं विधवा दायभाग की हकदार थी तो कहीं नहीं। दक्षिण में मामा की लड़की के साथ विवाह होता था पर उत्तर में नहीं। उत्तर में मदिरा-पान पर रोक नहीं थी, दक्षिण में थी। इसीलिए मनु तथा अन्य स्मृतिकार सलाह देते हैं कि न्याय करते समय उस देश के 'जानपदधर्म' और 'देशधर्म' का ध्यान रखना चाहिये। परंतु यह धर्म प्रचलित आचार ही था, 'जानपद' जैसी व्यवस्थापक-सभा द्वारा बनाये विधि-नियम या या कानून नहीं।

मनु एक स्थल पर 'ग्राम' और देश के 'समयों' का उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों के लिए दंड का निर्देश करते हैं। जायसवाल इन 'समयों' का अर्थ ग्राम और देश की व्यवस्थापक-सभाओं द्वारा बनाये गये विधि-नियम या कानून समझते हैं, पर यह धारणा भी ठीक नहीं है। मनु अध्याय ८, श्लोक १६ में स्पष्ट कहते हैं कि 'समय' या 'संविद्' राज्य के विधिनियम या कानून नहीं थे, किन्तु ग्राम और देश के अधिकारियों की राजी से किये समझौते मात्र थे[३]। यदि लोभवश कोई आदमी इनका उल्लंघन करे तो उस पर जुर्माना किया जाता था। अर्थशास्त्र, भाग ३, अध्याय १० में जहाँ ग्राम, देश, जाति या कुटुंब के 'समयों' के उल्लंघन पर विचार किया गया है, कौटिल्य ने इन 'समयों' का उदाहरण देकर सारी बात और भी स्पष्ट कर दी है। कौटिल्य

---

१ यस्य देशस्य यो धर्मः प्रवृत्तः सार्वलौकिकः।
श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन देशदृष्टः स उच्यते ॥

२ देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः।
उचितस्तस्य तेनैव दायधर्मं प्रकल्पयेत् ॥ अर्थशास्त्र, ३. ७.

३ अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्
यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत् ॥
निगृह्य दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुः सुवर्णान् षण् निष्कान् शतमानं च राजतम् ॥ मनु, ८. १८-२०

कहते हैं, यदि खेत-मजदूर ग्राम के लिए होनेवाले किसी कार्य में काम करने का इकरार करके पीछे उससे इनकार करे, या कोई व्यक्ति किसी तमाशे के लिए चन्दा न दे और चोरी से उसे देखे, या कोई ग्रामवासी ग्राम के मुखिया के ग्राम के हितार्थ दिये गये किसी आदेश को न पूरा करे तो ऐसी बातों में 'ग्राम-समय' का उल्लंघन हो जायगा और दोषी दंड का भागी जरूर होगा। अंत में यह भी कहा गया है कि 'देश-समय' का उल्लंघन भी इसी प्रकार समझना चाहिये[1]। इससे स्पष्ट है कि 'देश-समय' केंद्रीय व्यवस्थापक-सभा की व्यवस्था नहीं वरन् देश या प्रांत के प्रधान अधिकारी 'देशाध्यक्ष' से किये गये समझौते ही होते थे। जायसवाल की यह धारणा (पृ० ५७) ठीक नहीं है कि 'देशाध्यक्ष' या 'देशाधिप' देश की व्यवस्थापक-सभा के 'अध्यक्ष' को कहते थे। विष्णु-स्मृति और शुक्र-नीति के नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि जिले का प्रधान अधिकारी ही 'देशाध्यक्ष' या 'देशाधिप' कहा जाता था[2]। इसका अधिक विवरण आगे दसवें अध्याय में मिलेगा।

जायसवाल के इस मत का भी स्मृतियों से कोई समर्थन नहीं होता कि पौरजानपद के विरोधी की न्यायालयों में कोई सुनवाई नहीं होती थी। नीचे टिप्पणी में उद्धृत वीरमित्रोदय के वचन को जायसवाल आधार मानते हैं, मगर वह केवल यही कहता है कि यदि वादी का दावा नगर या देश में सर्वसम्मत पुरातनी व्यवस्था के विरुद्ध हो तो उसे न्यायालय स्वीकार न करे[3]।

---

१ कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्।....प्रेक्षायामनंशदः सस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नश्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्। सर्वहितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दंडः।......तेन देशजातिकुलसंघानां समयस्यानपाकर्म व्याख्यातम्।

अर्थशास्त्र, भाग ३, अध्याय १०।

२ तत्र स्वस्वग्रामधिपान् कुर्यात्। देशाध्यक्षान्। शताध्यक्षान् देशाध्यक्षांश्च। विष्णु ३. ७-१० ॥

चतुर्दिक्ष्वथवा देशाधिपान् सदा कुर्यात् नृपः। शुक्र १. ३४७।

३ वीरमित्रोदय का उल्लेख यह है—यत्र नगरे राष्ट्रे च या व्यवस्था पुरातनी तद्विरोधापादको व्यवहारो नादेयः पौरजानपदक्षोभापादकत्वात्। याज्ञवल्क्य स्मृति के अध्याय दो, श्लोक ६ पर टीका करते हुए अपरार्क 'पौरराष्ट्रविरुद्ध' का अर्थ स्पष्ट 'पौरराष्ट्राचारविरुद्धः' बतलाते हैं।

इस स्थल में न्याय के एक पुष्ट सिद्धांत का प्रतिपादन है, पर इससे यह अर्थ कभी नहीं निकलता कि 'पौर-जानपद' का विरोधी न्यायालयों से कोई सहायता न पा सकता था।

पौरसभा का भूतपूर्व सदस्य शूद्र होने पर भी ब्राह्मण का सम्मानार्ह है, यह धारणा भी मूल उल्लेख का ठीक अर्थ न समझने से ही हुई है। मूल में एक नगर के रहनेवालों के परस्पर शिष्टाचार का वर्णन है। गौतम का कथन है कि अपने से कम उम्र के ऋत्विक् और मामा आदि का भी उठकर अभिवादन करना चाहिये, ८० वर्ष की अवस्था से ऊपर शूद्र का भी इसी भाँति सम्मान करना चाहिये[1]। पौर यहाँ 'नगरनिवासी' का बोधक है नगर-लोकसभा के सदस्य का नहीं[2]।

अब हम तथोक्त 'पौर-जानपद' संस्था के वैधानिक अधिकारों के विषय में जायसवाल जी के मत की समीक्षा करेंगे। रामायण में राम के यौवराज्याभिषेक के प्रसंग में पौरों का भी जो उल्लेख आ गया है उसी के आधार पर जायसवाल जी का यह निष्कर्ष है कि इस संस्था को युवराज चुनने का अधिकार था। परन्तु रामायण में स्पष्ट कहा गया है कि राजा ने केवल अपने सचिवों से राय करके श्रीराम को युवराज नियुक्त करने का निश्चय किया[3]। जिस श्लोक के बल पर कहा जाता है कि पौरों से भी राय ली गयी, उसमें 'आमन्त्र्य' शब्द का अर्थ ही गलत समझा गया है। 'आमन्त्र्य' का अर्थ 'राय देना' नहीं बल्कि 'विदा करना' है। अस्तु, विवादभूत श्लोक[4] का सही अर्थ है कि 'राजा से

---

१ ऋत्विक्श्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवादनाद्याः। यथाऽन्यपूर्वः पौरः अशीतिकावरः शूद्रोऽपत्यसमेन। गौ. ध. सू. ६. ९—१०।

२ देखिये वी. मि. सं. पृ. ४६६, मनु के अध्याय दो के १३४ के दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पंचाब्दाख्यं कलाभृताम् की व्याख्या इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—एकपुरवासिनां अधिकतरविद्यादिगुणरहितानां दशाब्दपर्यन्तं ज्येष्ठे सत्यपि सखेत्येवमभिख्यायते न तु अभिवाद्यः। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं तेन एकग्रामवासेपि एवं भवति।

३ निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत। २-१-४१

४ ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्तच्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु। नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान्समानर्चुरतिप्रहृष्टाः॥ २.८.३४

बिदा लेकर राय देकर नहीं, पौरगण अपने घर गये। रामायण से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले व्यक्ति जानते हैं कि श्रीराम के भविष्य का निपटारा जनता की राय से नहीं, किन्तु अंतःपुर के षड्यंत्रों से हुआ।

इसी प्रकार मृच्छकटिक नाटक के दशम अंक के एक स्थल का कुछ और ही अर्थ लगा जाने के कारण यह मत प्रतिपादित किया गया कि पौर-जानपद राजा को गद्दी से उतार सकता था। इस अंक में शर्वलिक दुष्ट राजा पालक का वध करके अपने मित्र आर्यक को गद्दी पर बैठाता है। पौर-जानपद का इस कार्य में कुछ भी हाथ न था। शर्वलिक शासन-परिवर्तन की घोषणा 'जानपद संस्था' में नहीं, जनता के समूह में करता है, जो चारुदत्त का वध देखने को एकत्र हुए थे। शर्वलिक अपने मित्र चारुदत्त को खोज रहा था, कि उसकी दृष्टि जनसमूह पर पड़ती है, और वह अनुमान करता है कि चारुदत्त का मृत्युदंड देखने के लिए ही भीड़ एकत्र हुई है[1]। मृच्छकटिक नाटक के किसी अंक में कहीं भी पौर-जानपद संस्था का उल्लेख नहीं है।

जायसवाल जी के मतानुसार पौर-जानपद संस्था का एक प्रधान कार्य संकट के समय अतिरिक्त कर लगाने की स्वीकृति देना था। महाभारत से एक उद्धरण लेकर वे बताते हैं कि इससे राजा द्वारा पौर-जानपद से अतिरिक्त कर की यांचा की गयी है। परन्तु इस उद्धरण के अंतिम श्लोक में कहा गया है कि मौका पहचाननेवाला राजा इस प्रकार की मधुर, चतुर और आकर्षक बात लेकर अपने दूतों को प्रजा में भेजे[2]। अस्तु, उपर्युक्त उद्धरण में पौरजानपद-सभा में का राजा का भाषण नहीं वरन् आवश्यकता पड़ने पर किस प्रकार चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा प्रजा को फुसला कर अतिरिक्त कर देने पर राजी किया जाय इसका एक नमूना है।

यह धारणा भी ठीक नहीं है कि राज्य में चोरी-डकैती द्वारा होने वाली हानि के लिए राजा से क्षति-पूर्ति माँगने का पौरजानपद-सभा को अधिकार था[3]। प्राचीन भारतीय राजनीति का यह सिद्धान्त था कि चोरी का माल

---

१ भवतु अत्र तेन भवितव्यं यत्रायं जनपदसमवायः।
मृच्छकटिक, दशम अंक, श्लोक संख्या ४७ के बाद।

२ इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्योगमाधाय कालवित्॥ म. भा. १२. ८७. ३४

३ हिंदू पॉलिटी, भाग दो, पृ० ९८।

बरामद न होने पर राज्य नागरिक की क्षति पूरी करे। याज्ञवल्क्य आदेश देते हैं कि राजा 'जानपद' (नागरिक) को 'चोरहृत धन' दे। यहाँ 'जानपद' का अर्थ लोकसभा नहीं, यह मनुस्मृति के इसी विषय के निर्देश से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें यह कहा गया है कि चोरों द्वारा अपहृत धन पाने का अधिकार सब वर्गों के लोगों को है[१]। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति में 'जानपद' का अर्थ किसी भी वर्ण का नागरिक है 'जानपद-सभा' नहीं।

१०वें अध्याय में दिखाया जायगा कि नगर और ग्रामों में गैरसरकारी लोकसभा या पंचायतें होती थीं जिन्हें काफी अधिकार रहते थे। पर जायसवाल की यह धारणा गलत है कि जानपद (देहात) सभाओं से पृथक राजधानी की अपनी 'पौर-सभा' थी। इसका कोई प्रमाण नहीं कि उत्तर-बौद्धकाल में जानपद-सभाएँ विद्यमान थीं। जायसवाल जी ने जितने प्रमाण दिये वे ऐतिहासिक स्वरूप के नहीं हैं, वे सब साहित्यिक ग्रंथों के उल्लेख मात्र हैं और इनसे पौरजानपद जैसी किसी भी युक्त संस्था का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता जिसे राजा को गद्दी से उतारने, युवराज नियुक्त करने, नये कर स्वीकार या अस्वीकार करने या देश के लिए औद्योगिक, व्यापारिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का अधिकार रहा हो। कहा जाता है कि ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक इस प्रकार की संस्था काम कर रही थी। यदि ऐसा है तो तत्कालीन किसी भी उत्कीर्ण लेख में इसका उल्लेख क्यों नहीं मिलता। मेगास्थनीज के विवरणों और अशोक के धर्मलेखों में मौर्य-शासन का सविस्तर वर्णन है, पर ये दोनों ही पौरजानपद-सभा का कोई उल्लेख नहीं करते[३]। न कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसी किसी सभा का जिक्र है[४]।

---

१ देयं चौरहृतं राज्ञा द्रव्यं जानपदाय तु। याज्ञ०, २. ३६

२ दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरहृतं धनम्। मनु, ७. ४०

३ दिव्यावदान पृ० ४०७-८ में उल्लिखित तक्षशिला के पौर नगर-निवासी हैं, नगर-सभा के सदस्य नहीं। राजा की अगवानी के लिए वे सड़कों की सफाई और मकानों की सजावट कर रहे हैं, यह काम साधारण नागरिकों का ही है; नगर की प्रतिनिधि संस्था के सदस्यों का नहीं। 'श्रुत्वा च तक्षशिलापौरा अर्धाधिकानि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः'।

४ जायसवालजी की यह धारणा (भाग दो, पृ. ८४) भी ठीक नहीं है कि अर्थशास्त्र में पौरसभा की उपसमितियों का उल्लेख है जिनके जिम्मे तीर्थों

गुप्तों के उत्कीर्ण लेखों में अनेक शासन अधिकारियों का उल्लेख है, पर पौर-जानपद-सभा का नाम भी नहीं लिया गया है। जानपदों की मोहरें नालन्दा में बहुतायत से मिली हैं पर वे विभिन्न ग्रामों की पंचायत की मोहरें हैं किसी केन्द्रीय संस्था की नहीं[१]। ५०० से १३०० ई० के बीच उत्तर और दक्षिण भारत में राज्य करनेवाले विभिन्न वंशों के राजाओं के सैकड़ों ताम्रपत्र मिले हैं। इन ताम्रपत्रों में जहाँ भूमिदान का उल्लेख है वहाँ युवराज से लेकर गाँव के मुखिया तक समस्त शासनसंस्थाओं और अधिकारियों से, जिनसे कुछ बाधा की आशंका थी, दान पानेवाले व्यक्ति की अधिकार-रक्षा का अनुरोध किया गया है पर एक भी ताम्रपत्र में जायसवाल जी की पौरजानपद-सभा का उल्लेख नहीं है। यदि इस प्रकार की सभा उस समय कार्य कर रही थी और राज्य के आय-व्यय पर उसका नियंत्रण था तो ताम्रपत्रों में इनका उल्लेख सबसे प्रथम होना चाहिये था। जब राज्य के अन्य सब अधिकारियों से दान में बाधा न देने का अनुरोध किया जाता है तो पौर-जानपद से यह अनुरोध करना तो और भी आवश्यक था, क्योंकि राज्य के आय-व्यय पर इसका नियंत्रण बताया जाता है। हजारों ताम्रपत्रों में से जिनमें राज्य में तनिक भी अधिकार रखनेवाले एक-एक अधिकारी के नाम गिनाये गये हैं, एक में भी पौरजानपद-सभा का उल्लेख न मिलना हमारी समझ में इस बात का पक्का प्रमाण है कि ईसवी प्रथम सहस्राब्दी में ऐसी कोई भी संस्था भारत में अस्तित्व

(क्रमशः)

सार्वजनिक भवनों और बाजार आदि की देखरेख का काम था। अर्थशास्त्र के उक्त स्थल में इस प्रकार का वर्णन है—'राजा के चर (खुफिया) तीर्थों, सभा-शालाओं और पूगों (बाजार) में 'जनसमवाय' (भीड़) में जायँ और बहस छेड़कर राजा के बारे में उनके विचार जानने की चेष्टा करें।' चर पौर-सभा की उपसमितियों में, जिसके वे सदस्य भी न थे, कैसे जा सकते थे और बहस छेड़ सकते थे? फिर समिति के वाद-विवाद से ही सदस्यों के विचार मालूम हो सकते थे फिर चर भेजने की क्या जरूरत थी? मूल इस प्रकार है—

सत्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालासमवायेषु विवादं कुर्युः सर्वगुणसंपन्नोयं राजा श्रूयते। न चास्य कश्चिद् गुणो दृश्यते यः पौरजानपदान् दण्डकराभ्यां पीड़यति। ७. १३

१ पुरिकाग्रामजानपदस्य, वारकीयग्रामजानपदस्य, श्रीनालंदा प्रतिबद्धमनग्रिका-ग्रामजानपदस्य—मे. अ. स. इं., नं. ६६.पृ. ४.५६।

में न थी। काश्मीर के जीवन और शासन व्यवस्था का सविस्तर वर्णन करनेवाली राजतरंगिणी में भी इस प्रकार की किसी लोक-संस्था का उल्लेख नहीं है।

जैसा कि दसवें और ग्यारहवें अध्याय में दिखाया जायगा, १२वीं सदी के अंत तक भारत में ग्राम-पंचायतें और नगरों तथा पुरों की परिषदें विद्यमान रहीं और इन्हें शासन के काफी अधिकार भी थे। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि जायसवाल जी द्वारा प्रतिपादित प्रकार की कोई केंद्रीय-सभा उत्तर-बौद्धकाल में रही हो। इस संस्था के विलोप हो जाने के कारण भी ऊपर इस अध्याय में बता दिये गये हैं। शासन पर लोकमत का प्रभाव डालने की विधि कुछ और ही थी जो पाँचवें अध्याय में बतायी जा चुकी है।

सरकार और विधि-नियम (कानून) बनाने के अधिकार

इसी अध्याय में यह भी समझ लेना चाहिये कि प्राचीन भारत के राज्यों को विधि-नियम बनाने के अधिकार कहाँ तक थे। आधुनिककाल में ये अधिकार राज्य की केंद्रीय-सभा को रहता है। देखना है कि प्राचीन भारत में जब सभा और समितियाँ वर्तमान थीं, तब उन्हें ये अधिकार थे या नहीं।

आजकल के लोगों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि प्राचीन भारत में राज्य या समिति न तो विधि-नियम बनाती थी न उनको बनाने के अधिकार का दावा करती थी। आधुनिक युग में सर्वोच्च व्यवस्थापक-सभा द्वारा बनाये गये विधि-नियम सर्वमान्य हो रहे हैं और सनातन रूढ़िनियमों का क्षेत्र अधिकाधिक संकुचित करते जा रहे हैं। पर प्राचीनकाल में यह स्थिति न थी। विधिनियम या कानून धार्मिक और लौकिक दोनों श्रेणी के होते थे। धार्मिक विधिनियमों के आधार शास्त्र (श्रुति और स्मृति), लौकिक प्रथाएँ और पुराने रीतिरिवाज थे। सरकार या केंद्रीय-समिति का इस विषय में कोई अधिकार न समझा जाता था। यदि सरकार ने परंपरागत विधिनियमों को बलात बदलने की चेष्टा की होती तो उसका अधिक दिन टिकना असंभव हो जाता। परंपरागत रिवाज भी धार्मिक नियमों की ही भाँति दिव्य समझे जाते थे। इनमें भी कालक्रम से परिवर्तन होता था। पर यह परिवर्तन व्यवस्थापक-सभा द्वारा प्रकाश्य और मुखर रूप में नहीं वरन् धीरे-धीरे प्रथाओं के स्वयं परिवर्तित होने से चुपचाप अलक्ष्य गति से हो जाता था। व्यवस्थापक-सभा के आदेश से हटात् परिवर्तन से समाज में घोर दैवी आपत्तियों के विक्षोभ की आशंका थी।

अतः वैदिककाल में राज्य या समिति कोई भी विधिनियम बनाने का दावा न करती थी और स्मृतिकाल तक यही स्थिति रही।

प्राचीन यूनान के प्लेटो जैसे राज्यशास्त्रज्ञ भी विधिनियम बनाना सरकार के कार्यक्षेत्र का अंग न समझते थे। उनका यह मत था कि विधिनियम परंपरागत अनुभव पर ही अधिष्ठित होने चाहिये; किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में वह योग्यता नहीं हो सकती है जो प्रामाणिक ग्रंथों में या परंपरागत विधिनियमों में रहती है।

धर्मशास्त्रों में बहुत जोर देकर कहा गया है कि राजा का काम शास्त्र और प्रचलित प्रथाओं से अनुमोदित धर्म का पालन कराना और करना है,[1] स्वयं या किसी राज्य-संस्था द्वारा धर्म में परिवर्तन करने का उसे अधिकार नहीं है। धर्म और नीतिशास्त्र परमात्मा ने स्वयं रचे हैं और राजा का कार्य उनके निर्देशों को कार्यान्वित करना है, अपने अधिकार से उनमें कोई परिवर्तन वह नहीं कर सकता[2]।

परन्तु समय बीतने पर ज्यों-ज्यों शासन का विकास होता गया और जीवन की पेचीदगी बढ़ने लगी, राज्य को विधिनियम बनाने का अधिकार देने की आवश्यकता जान पड़ी। ऐसी अवस्थाएँ उपस्थित होने लगीं जिनके लिए धर्म और नीतिशास्त्रों में कोई व्यवस्था न की गयी थी और राज्य तथा जनता दोनों के हितार्थ पुराने नियमों के संशोधन और नये की व्यवस्था की भी जरूरत जान पड़ी। मनुस्मृति ने राजा को शासन या आदेश जारी करने का अधिकार दिया[3], परन्तु वे शास्त्र और आचार के विरुद्ध न होने चाहिये[4]। याज्ञवल्क्य भी

१ देशजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे प्रतिष्ठापयेत्। व. ध. सू. १९.४
जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपालयेत्॥ मनु, ८. ४१

२ यश्चापि धर्मं इत्युक्तो दंडनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ म. भा., १२. ५९. ११६

३ तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥

४ मेधातिथि की इस पर टीका है—यतः सर्वतेजोमयः स राजा तस्माद्धेतोरिष्टेषु वल्लभेषु मंत्रिपुरोहितादिषु कार्यगत्या धर्मकार्यव्यवस्थां शास्त्राचाराविरुद्धां व्यवस्येत्तं न विचालयेत्।

कहते हैं कि न्यायालय को भी राजा के बनाये नियमों को मानकर कार्यान्वित करना चाहिये[१] ।

परन्तु राज्यशास्त्र के ग्रंथ राजशासन को धर्मशास्त्रों से भी अधिक मान्य और प्रामाणिक मानते हैं[२] । बृहस्पति का भी यही मत है (२, २७) । नारद का कथन है कि राजप्रवर्तित नियमों का पालन न करने वाला राजशासन की उपेक्षा के अपराध के लिए दंड पावे[३] । शुक्र कहते हैं कि प्रजा को सूचित करने के लिए राजशासन लिखकर चौमुहानी आदि सार्वजनिक स्थानों पर लगाये जायँ[४] ।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि साधारणतः सरकार का काम धर्मशास्त्रों और लोकाचार द्वारा निर्दिष्ट व्यवस्था का परिपालन करना था पर बाद में तीसरी सदी ई० पू० के लगभग विधिनियम बनाने के कुछ अधिकार दिये गये। इस समय तक सभा और समिति विलुप्त हो चुकी थीं अतः राजा अपने सचिवों से परामर्श-पूर्वक इस अधिकार का उपयोग करते थे ।

परन्तु राजशासन जारी करने का अधिकार उतना व्यापक नहीं था जितना आधुनिक व्यवस्थापक-सभाओं के अधिकार व्यापक हैं। व्यवहार[५], दंड, और उत्तराधिकार के नियमादि स्मृतियों और लोकाचार द्वारा निर्दिष्ट थे और राजशासन का इन पर विशेष प्रभाव न पड़ता था। पर शासन और कर-ग्रहण के क्षेत्र में राजा बहुत-कुछ संशोधन-परिवर्तन कर सकते थे। वे नये विभागों और पदों की सृष्टि कर सकते थे, नये कर लगा सकते थे और अशोक की भाँति अपनी नयी नीति निर्धारित कर सकते थे। इसके परिणामस्वरूप राजा के अधिकार काफी विस्तृत हो गये और प्रजा के अधिकार घटते गये क्योंकि जनता की कोई प्रतिनिधि-सभा राजा के इन नये अधिकारों को नियंत्रित करने के लिए न थी।

---

१ निजधर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत् ।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्च यः ॥

२ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।
विवादार्थचतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥ अर्थशास्त्र, ३. १

३ राज्ञा प्रवर्तितान्धर्मान्यो नरो नानुपालयेत् ।
दण्ड्यः स पापो वध्यश्च लोपयन्राजशासनम् ॥ १. १३

४ लिखित्वा शासनं राजा धारयेत चतुष्पथे ।
इति प्रबोधयन्नित्यं प्रजाः शासनडिंडिमैः । १. ३१२

५ व्यवहार = दीवानी झगड़े; civil law.

अध्याय ८

मंत्रिमंडल

●

आधुनिक राज्य-व्यवस्था में केंद्रीय-शासन के विभाग में राजा या राष्ट्रपति, केंद्रीय व्यवस्थापक-सभा, प्रजातंत्र, मंत्रिमंडल (प्रायः केंद्रीय-सभा द्वारा निर्वाचित) विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय-शासन के कार्यालय का समावेश होता है। हम ने अभी तक इन में से राजा, प्रजातंत्र और केंद्रीय व्यवस्थापक-सभा के स्वरूप और कार्यों का निरूपण कर लिया है। अब हम मंत्रिमंडल, विभागों के अध्यक्ष और केंद्रीय शासनकार्यालय पर विचार करके केंद्रीय-शासन विषय का अध्ययन पूरा करेंगे।

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मंत्रिमंडल को राज्य-व्यवस्था का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग माना है। महाभारत में कहा गया है (५. ३७. ३८) कि राजा अपने मंत्रियों पर उतना ही निर्भर है जितना प्राणिमात्र पर्जन्य पर, ब्राह्मण वेदों पर और स्त्रियाँ अपने पतियों पर। अर्थशास्त्र का कथन है[1] कि जिस प्रकार एक चक्र (पहिये) से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मंत्रियों की सहायता के अकेले राजा से राज्य नहीं चल सकता। मनु का कथन है कि सुकर कार्य भी एक आदमी को अकेले होने के वजह से दुष्कर हो जाता है फिर राज्य ऐसे महान् कार्य को बिना मंत्रियों की सहायता के चलाना कैसे सम्भव है[2]। शुक्र का कथन है कि योग्य राजा भी सब बातें नहीं समझ सकता, पुरुष पुरुष में बुद्धि-वैभव अलग-अलग होता है, अतः राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाला राजा योग्य

---

१. सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवाँस्तस्मात्तेषां च शृणुयान्मतम् ॥ अर्थ०, १. ३. १, अध्याय ३

२. अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किंनु राज्यं महोदयम्। मनु, आठ, ५५

मंत्रियों को चुने अन्यथा राज्य का पतन निश्चित है[1]। उपर्युक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि हिन्दू विधानशास्त्री मंत्रिमंडल को राज्य का *अविच्छेद्य अंग मानते थे।*

अब हमे देखना है कि व्यवहार भी ऐसा ही था या नहीं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के मंत्रियों का उल्लेख नहीं है, न उल्लेख का कोई प्रयोजन ही है। हाँ यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मण ग्रंथों में राज्य के कुछ उच्चाधिकारियों का उल्लेख है; ये 'रत्नी' कहे जाते थे और संभवतः राजपरिषद् के सदस्य थे[2]। परंतु भिन्न-भिन्न ग्रंथों में इनके जो नाम दिये गये हैं उनमें अंतर है और इन सबके कार्यों का ठीक-ठीक वर्णन करना भी बहुत कठिन है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि रत्नियों की सूची में राजा के संबंधी, मंत्री, विभागों के अध्यक्ष और दरबारीगण सम्मिलित थे। पहली श्रेणी में राजा की पट्टरानी और प्रिय रानी भी थीं क्योंकि इनका नाम सभी संहिताओं में मिलता है। इससे यह लक्षित होता है कि वैदिककाल में रानी की हैसियत केवल राजा की पत्नी ही की नहीं थी वरन् शासनव्यवस्था में भी उसका एक स्थान था। युवराज भी राजपरिषद् में रहते होंगे यद्यपि रत्नियों की सूची में उनका नाम नहीं मिलता। इसका कारण संभवतः यह है कि राज्याभिषेक के समय ही रत्नियों का उल्लेख संहिताओं में आता है, और उस समय बहुत छोटा, और इसीलिए शासनकार्य में सहयोग करने में असमर्थ होने के कारण, युवराज का अंतर्भाव रत्नियों में न किया होगा।

पुरोहित का नाम सर्वत्र रत्नियों की सूचियों में मिलता है। उस युग के लोगों का विश्वास था कि जिस राजा के योग्य पुरोहित न हों उसका हविर्भाग देवता अंगीकार न करते थे। अतः जिस युग में यज्ञ द्वारा देवता का प्रसाद प्राप्त

---

1. पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम्।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥
न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्याभिवृद्धये ॥
विना प्रकृतिसंमन्त्र्याद्राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम्।
रोधनं भवेत्तस्माद्राज्ञस्ते स्युः सुमंत्रिणः ॥ शुक्र, २. ८१

2. पं० ब्रा०, १९. १. ४ में रत्नी को 'वीर' पदवी से संबोधित किया है।

करने पर ही युद्धक्षेत्र में विजयप्राप्ति निर्भर मानी जाती थी उस युग में पुरोहित का नाम मंत्रियों की सूची में पहले रखा जाना अनिवार्य ही था।

रत्नियों की सूची में मिलने वाले विभागाध्यक्षों के नामों में सेनानी, सूत, ग्रामणी, संग्रहीता और भागधुक के नाम हैं। सेनानी सेनापति था। सूत संभवतः रथसेना का नायक था और सम्मान के लिए राजा के सारथी का पद वहन करता था। ग्रामणी गाँव के मुखियों में प्रधान होता होगा, जो रत्नी वर्ग की सदस्यता के लिए संभवतः चुना जाता होगा। एक स्थल में उसे वैश्य कहा गया है, संभवत वह इसी वर्ण का होता था। भागधुक स्पष्ट ही कर वसूलने वाला या अर्थमंत्री था और संग्रहीता कोषाध्यक्ष था।

रत्नियों की सूची में उल्लिखित क्षत्ता, अक्षावाप और पालागल, दरबारी श्रेणी के जान पड़ते हैं। क्षत्ता संभवतः राजा का परिपार्श्वक था[1]। अक्षावाप द्यूतक्रीड़ा में राजा का साथी और पालागल उसका अंतरंग मित्र था—बाद के युग के विदूषक की भाँति। कुछ लोगों का अनुमान है कि पालागल पड़ोसी राज्य के राजदूत को कहते थे पर यह ठीक नहीं जान पड़ता[2]। कुछ ग्रन्थों में गोविकर्तन या गोव्यच्छ, तक्षा और रथकार के नामों का भी रत्नियों की सूची में उल्लेख किया है[3]। वैदिककाल में गौएँ ही धन समझी जाती थीं अतः गोविकर्तन राजा के गोधन का अधिकारी रहा होगा। तक्षा का अर्थ बढ़ई है और रथकार रथ बनानेवाला था। आजकल के युद्ध में विमान का जो स्थान है वही वैदिककाल में रथ का था अतः यह असंभव नहीं कि बढ़ई और रथकारों की श्रेणी के प्रमुख भी रत्नी वर्ग में शामिल किये गये हों।

अतः वैदिककाल की रत्निपरिषद में पट्टरानी, युवराज, राजन्य आदि राजा के संबंधी, अक्षावाप, क्षत्ता आदि दरबारी और सेनानी, सूत, संग्रहीता और रथकार आदि प्रमुख अधिकारी शामिल रहते थे।

रत्नी लोगों का पद बहुत ऊँचा समझा जाता था। वाजपेय यज्ञ के अवसर पर राजा 'रत्नि बलि' प्रदान के लिए स्वयं रत्नियों के घर जाता था, वे उसके

---

१. बाद के साहित्य में इस शब्द का यही अर्थ है। परंतु डॉ० घोसाल का मत है कि क्षत्ता भोजन बाँटने वाले को कहते थे। हिस्ट्री ऑफ हिंदू पब्लिक लाइफ, भाग १, पृ. १०९। परंतु इस प्रकार का कोई विभाग वैदिककाल में था, इसमें संदेह है।

२. आप. श्रौ. सू., १४. १०. २६।

३. श. प. ब्रा., ५. ३. १. १.; का. सं., १५.४

घर नहीं आते थे। एक जगह राजा को राज्य देनेवाले रत्नी होते हैं ऐसा भी वर्णन मिलता है[1]। वैदिककाल की समिति बहुत शक्तिशाली संस्था थी। संभवतः रत्नी उसी के सदस्यों में से चुने जाते थे, परन्तु इस संभाव्य अनुमान का कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि रत्नी किस प्रकार कार्य करते थे;'राजा को परामर्श देने के लिए परिषद् के रूप में उनकी कोई बैठक होती थी, अथवा राजा उनसे अलग-अलग परामर्श करता था।

वैदिक यज्ञों का प्रचार घटने से धीरे-धीरे रत्नी वर्ग का भी अंत हो गया। बाद के वाङ्मय में यदा-कदा राजा के 'रत्नों' का उल्लेख मिल जाता है पर 'रत्नी' का अर्थ राजा के परामर्शदाता या सहायक ही नहीं रह गया था। यथा वायुपुराण में रत्नी दो श्रेणियों में विभाजित किये गये हैं, सजीव और निर्जीव। सजीव श्रेणी में रानी, पुरोहित, सेनानी, सूत, मंत्री आदि ही नहीं घोड़े और हाथी भी आ जाते हैं। दूसरी श्रेणी में मणि, तलवार, धनुष, भाला, रत्न, पताका और कोष आदि रखे गये हैं[2]। इससे पता चलता है कि बाद के काल में रत्नी शब्द का मूल अर्थ बदल गया था और रत्नीगण का शासन में कोई प्रयोजन न रह गया था।

परन्तु धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों से पता चलता है कि रत्नी का स्थान एक और भी प्रभाव-शाली संस्था ने ले लिया था। यह 'मंत्री' या 'अमात्य' अथवा 'सचिव' परिषद् थी। हम बता चुके हैं कि मंत्रिमंडल हमारी राज्य-व्यवस्था का अविच्छेद्य अंग समझा जाता था और ऐतिहासिककाल में भी अधिकतर राज्यों में यह संस्था काम कर रही थी। भारत के सबसे प्राचीन ऐतिहासिक राज्य मगध में राजा अजातशत्रु के महामात्य वस्सकार का उल्लेख है[3]। यह भी बताया गया है कि उसका समकालीन कोशल का राजा प्रसेनजित् अपने मंत्री मृगधर और श्रीवृद्ध की सलाह लेकर ही किसी बड़े काम में हाथ लगाता था[4]। जातकों में भी मंत्रियों का उल्लेख बार-बार मिलता है[5]। उत्कीर्ण

---

१. एते वै राष्ट्रस्य प्रदातारः। तै. ब्रा., १. ८. ३
२. अध्याय ५७, ६८–७१
३. डायलॉग्स ऑफ् बुद्ध, भा. २, पृ. ७८।
४. उवसगदसाओ, दो, परिशिष्ट, पृ. ५८।
५. सं० ५२८, ५३३।

लेखों और साहित्य में[1] भी मौर्यों और शुंगों की मंत्रिपरिषद का[1] वर्णन है। पश्चिम भारत के शक राजा भी एक परिषद की सहायता से राज्य करते थे, जिसमें 'मति सचिव' (परामर्श दाता) और 'कर्म सचिव' (शासन-विभागों के अध्यक्ष) सदस्य होते थे[2]। गुप्त राजाओं के लेखों में भी मंत्रियों का उल्लेख बराबर होता है।

मौखरि राज्य के मंत्रियों के अधिकार तो बहुत ही अधिक थे। मौखरिवंश के अंतिम राजा का अचानक निस्संतान निधन हो जाने पर मंत्रियों ने ही हर्षवर्धन को मौखरि-राज्य का सिंहासन प्रदान किया था[3]। मंत्रिमंडल मध्य-युगीन शासन-तंत्र का भी अविच्छेद्य अंग था। परमार राजा यशोवर्मा के एक लेख में उसके 'महाप्रधान' (प्रधानमंत्री) पुरुषोत्तम देव का नाम है[4]। गुजरात के चौलुक्य और युक्तप्रांत के गाहड़वाल राजाओं के प्रायः सभी ताम्रपट्टों में उनके 'महामात्य' का उल्लेख पाया जाता है। नाडोल के चाहमान राजाओं के दानलेखों में महामात्य के नाम का उल्लेख सब राजकर्मचारियों में पहले किया गया है[5]। महोबा के चंदेलों के लेखों में अनेक मंत्रियों के वंश का उल्लेख है[6]। राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कश्मीर के शासन में मंत्रियों का स्थान कितना महत्त्व का था। दक्षिण के राष्ट्रकूट, चालुक्य और शिलाहार वंश के राजाओं के लेखों से भी यही स्थिति लक्षित होती है। यादववंश के एक दानपत्र में बताया गया है कि मंत्रियों की सहमति से ही उक्त दान दिया गया[7]। दक्षिण-भारत के अनेक लेखों से पता चलता है कि बहुधा मंत्रियों की हैसियत सामंत राजाओं के समान उच्च थी और 'महासामंत' तथा 'महामंडलेश्वर' जैसी ऊँची उपाधियों से वे विभूषित किये जाते थे।

---

१. अर्थशास्त्र, भाग १, अध्याय; अशोक के चट्टनलेख, सं० ३ और ६, मालविकाग्निमित्र, अंक ५।

२. रुद्रदामा का जूनागढ़ शिलालेख, एपि. इं. ८. पृ. ४२

३. वाटर्स. प्रथम भाग, पृ. ३४३।

४. इं. एं., १९. पृ. ३४९

५. एपि. इं. ११. ३०८।

६. ,, ,, १. १५७ तथा २०९।

७. श्री सेउणाख्येन नृपेण प्रधानयुक्तेन विचार्य हृदङ्गं दत्तम्।

इं. एं. १२. १०७

सुशासन के लिए मंत्रियों का होना इतना आवश्यक समझा जाता था कि युवराज और प्रांतों के शासक भी अपनी मंत्रि-परिषद् नियुक्त करते थे। मौर्य-साम्राज्य में तक्षशिला में एक प्रांताधिकारी की मंत्रिपरिषद् थी ; पुष्यमित्र के युवराज और मालवा के प्रांताधिकारी अग्निमित्र की भी (१५० ई० पू०) मंत्रिपरिषद् थी। गुप्त राज्य में युवराज के मंत्रियों को 'युवराजपदीय कुमारामात्य' कहते थे[१]। यादव-नरेश पंचम भिल्लम (११६०-१२१० ई०) के युवराज के यहाँ भी मंत्रिमंडल था। यादव राजा रामचन्द्र के दक्षिण प्रदेश के शासक टिक्कम देवरस भी मन्त्रिपरिषद् की सहायता से शासन करता था[२]। युवराज और प्रांताधिकारी सामंत राजाओं के समकक्ष होते थे और सम्राट् की भाँति उनके लिए भी मंत्रिपरिषद् का होना जरूरी समझा जाता था।

अब हमें देखना है कि मंत्रिमंडल में कितने सदस्य होते थे। मनु का मत है कि मंत्रियों की संख्या ७ या ८ होनी चाहिये[३]। महाभारत ८ के पक्ष में है[४]। अर्थशास्त्र इस विषय में विभिन्न मतों का उल्लेख करता है जिससे पता चलता है कि मानव संप्रदाय वाले १२, बार्हस्पत्य पंथवाले १६ और औशनस पंथवाले २० मंत्रियों के पक्ष में थे[५]। शुक्रनीति १० मंत्रियों की राय देती है[६]। नीतिवाक्यामृत के अनुसार मंत्रिसंख्या ३, ५ या ७ से अधिक न होनी चाहिये।

यह अंतर इसलिए है कि मंत्रियों की संख्या निर्दिष्ट करते समय विभिन्न आचार्यों की दृष्टि विभिन्न राज्यों पर थी। इसीलिए मनु[७] और कौटिल्य[८] इस बात में एकमत हैं कि हरेक राज्य की आवश्यकतानुसार उसके मंत्रियों की संख्या निश्चित की जाय। यदि राज्य छोटा है और उसका कार्यक्षेत्र भी सीमित है

---

१. अ. स. रि., १९०३-४, पृ. १०७
२. सौ. इं. इ., भाग ९, सं. ३६७ त. ३७८
४. सचिवान्सप्त चाष्टौ वा कुर्वीत सुपरीक्षितान् । ७. ५४
मानसोल्लास (२. २. ५७) में यही श्लोक उद्धृत किया है। किन्तु सुपरीक्षितान् की जगह मतिमान्नृपः यह पाठ दिया है।
४. अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत् ॥ १२. ८५
५. भाग एक, अध्याय १५।
६. २. ७०।
७. मनु ७. ६१।
८. यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः। १. १५

तो ४–५ मंत्रियों से ही काम चल जायगा, जैसा कि शिलाहार-राज्य में था[1]। जातककाल में, जब कि राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक न होता था साधारणतः पाँच मंत्री होते थे[2]। परन्तु बड़े-बड़े साम्राज्यों में मंत्रियों की संख्या अधिक होती थी। परराष्ट्र-विभाग में ही भिन्न-भिन्न विषयों के लिए कई मंत्री भी होते थे। शिलाहार-राज्य में एक प्रधान परराष्ट्रमंत्री के अतिरिक्त कर्णाटक के परराष्ट्र-संबंध की व्यवस्था के लिए एक पृथक् मंत्री भी रहता था[3]। यदि शिलाहार जैसे छोटे राज्य में परराष्ट्र-विभाग में दो मंत्री थे, तो मौर्य, गुप्त और राष्ट्रकूट जैसे विशाल साम्राज्यों में तो अनेक रहे होंगे। परन्तु मंत्रिमंडल की संख्या सर्वसम्मत परम्परा के अनुसार प्रायः आठ ही रहती थी। और आवश्यकता पड़ने पर शुक्र[4] के मतानुसार उपमंत्री नियुक्त किये जाते रहे होंगे।

भरत को उपदेश करते समय राम ने उसे तीन-चार मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने के लिए कहा है। कौटिल्य ने भी चार मंत्रियों के साथ चर्चा करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है[5]। संभव है कि ये तीन या चार मंत्री मंत्रिमंडल के वयोवृद्ध, विशेषानुभवी वरिष्ठ सभासद् हों जो अंतस्थ मंत्रिमंडल (Inner Cabinet) के सभासद् हों और जिनके उपदेश पर राजा विशेष तरह से विचार करता हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि ७ या ८ मंत्रियों के मंत्रिमण्डल के अतिरिक्त आजकल की प्रिवी कौंसिल की भाँति एक बड़ी परामर्शदात्री संस्था भी होती थी जिसके सदस्य 'अमात्य' कहे जाते थे[6]। महाभारत में उल्लिखित ३६ अमात्यों की परिषद् इसी प्रकार की संस्था थी। अर्थशास्त्र से भी ज्ञात होता है कि अमात्य विभागों के अध्यक्ष-जैसे उच्चपदस्थ अधिकारी होने पर भी मंत्रियों से पद में

---

१. इं. ए. जिल्द पाँच, पृ. २७८, जिल्द ९., पृ. ३५

२. जातक सं. ५२८

३. इं. ए., ५. २७७

४. २. १०९-११०

५. मंत्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मंत्रयेत्।

६. १२. ८५. ७-८

नीचे थे इसीलिए संख्या में भी अधिक थे[1]। उनका वेतन भी मंत्रियों से कम था। परन्तु गंभीर स्थिति उपस्थित होने पर सलाह के लिए वे भी मंत्रियों के साथ ही आमंत्रित किये जाते थे। बाद में सातवाहन और पल्लव राज्य में प्रादेशिक शासकों और विभागों के अध्यक्षों को अमात्य कहने लगे; मंत्रिपरिषद् या किसी परामर्शदात्री परिषद् से उनका कोई संबंध न रह गया था[2]।

मंत्रियों के कार्यक्षेत्र में शासन का पूरा क्षेत्र आ जाता था। उनका कार्य नयी नीति का निर्धारण करना, उसे सफलतापूर्वक कार्यान्वित करना, इसमें उठनेवाली कठिनाइयों को दूर करना, राज्य के आय-व्यय के संबंध में नीति-निर्धारण और उनका निरीक्षण करना, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध करना, उनके राज्याभिषेक में भाग लेना और परराष्ट्र-नीति का संचालन करके पड़ोसी स्वतंत्र राजाओं की और .साम्राज्यांतर्गत करद सामंतों की नीति पर विचार करना था[3]।

यह स्वाभाविक ही था कि मंत्रिगण काम बाँट लें और एक-एक विभाग का जिम्मा ले लें। पर हमारे प्राचीन आचार्यों ने विभागों के विभाजन पर कुछ विचार नहीं प्रकट किये हैं। ८वीं सदी ईसवी के आचार्य शुक्र से ही हमें विभागों का कुछ परिचय मिलता है। उनके मतानुसार मंत्रिपरिषद् में निम्नलिखित १० मन्त्री होने चाहिये[2]; १—पुरोहित, २—प्रतिनिधि, ३—प्रधान,

---

१. मन्त्रियों का सालाना वेतन ४८००० पण था, मगर अमात्यों का केवल १२००० ही पण था। अमात्यपद के लिए योग्य पुरुष मन्त्रिपद के लिए भी योग्य नहीं माना जाता था ; देखिये अर्थशास्त्र १. ८

विभज्यामात्य विभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मंत्रिणः॥

२. गोवर्धन जिल्हाधिकारी अमात्य विष्णुपालित का उल्लेख नासिक शिलालेख सं. ३–४ में आया है। ए. इं., ७. ; ए. इं. १. ५ में पल्लवों के अमात्यों का उल्लेख मिलता है।

३. मंत्री मंत्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्म कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणां आयत्तममात्येषु। अर्थशस्त्र, ८. ७; ९. ६.। जातक सं. २५७ से ज्ञात होता है कि अक्सर मंत्रिगण ही इस बात का निर्णय करते थे कि युवराज को राज्याधिकार कब दिया जाय।

४. २७०.७२

४—सचिव, ५—मन्त्री, ६—प्राड्विवाक, ७—पंडित, ८—सुमंत्र, ९—अमात्य और १०—दूत। वे यह भी कहते हैं कि कुछ लोगों के मत से पुरोहित और दूत की गणना मन्त्रियों में नहीं की जाती।

यद्यपि पूर्व आचार्यों ने विभागों का वर्णन नहीं किया है फिर भी हम मान सकते हैं कि विभागों का विभाजन शुक्राचार्य द्वारा वर्णित ढंग पर ही होता था, क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इन मन्त्रियों के उल्लेख इसी या इसके पर्यायवाचक नामों में मिलते हैं। अब हम इन मन्त्रियों के कार्यों पर विचार करेंगे।

पुरोहित का वैदिककाल के रत्नियों में भी प्रमुख स्थान था और कई शताब्दियों तक उसका स्थान मंत्रिपरिषद् में कायम रहा। वह राजा का गुरु था। उसका काम शत्रु के अनिष्टकारक अनुष्ठानों का प्रतीकार करना और अर्थशास्त्र में वर्णित पुरोहितकर्म द्वारा राष्ट्र का अभ्युदय करना था[१]। वह राजसेना के हाथी और घोड़ों को मंत्रपूत करता था[२] और वैदिककाल में राजा के साथ युद्धक्षेत्र में जाकर अपने मंत्रों और स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करके विजय श्री प्राप्त करने का प्रयत्न करता था[३]। वह शस्त्र, शास्त्र व विशेषतः नीतिशास्त्र में निष्णात होता था। जब राजा किसी दीर्घकालीन यज्ञ की दीक्षा ले लेता था तब पुरोहित ही उसकी ओर से शासन चलाता था[४]। रामायण में वर्णन है कि राजकुमारों की अनुपस्थिति से सिंहासन खाली रहने पर राजगुरु वशिष्ठ ही आवश्यक समय तक राज्य का संचालन करने लगे। मंत्रियों में केवल पुरोहित ही ऐसा था जिसके पद-ग्रहण के समय एक वैदिक विधि विहित था। उसका नाम बृहस्पतिसव था और वह वैदिककाल में रूढ़ था।

वैदिक कर्मों के पूर्ण प्रचार के युग में पुरोहित का प्रभाव बहुत रहा होगा। औपनिषदिक, बौद्ध और जैन दर्शन के विकास के फलस्वरूप यज्ञों का प्रचार

---

१. पुरोहितं षडंगे वेदे दैवे निमित्ते''अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणामथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिवानुवर्तेत। अर्थ., १. ९

२. सुसीमजातक।

३. दस राजाओं की लड़ाई में विश्वामित्र बराबर राजा सुदास के साथ थे। उनके मंत्रों से प्रसन्न होकर ही विपाश और शुतुद्रु नदियों का जल उतर गया और सुदास की सेना सुगमता से पार उतर सकी।

४. आप. श्रौ. सू., २०. २-१२, ३. १-३, बौ. श्रौ. सू., १८. ४

कम होने पर पुरोहित के प्रभाव को भी धक्का लगा होगा। फिर भी जातकों के समय में भी वह काफी परिणामकारक था, उसे जातककथाओं में सव्वाथक-मंत्री अर्थात् सर्वाधिकारप्राप्त मंत्री का नाम दिया गया है। परंतु बाद में उसका प्रभाव अवश्य ही कम हो गया। गुप्तकाल के बाद के लेखों में उसका उल्लेख मंत्रियों से अलग किया गया है[1] जिससे प्रकट होता है कि वह मंत्रिमंडल का सदस्य न रह गया था। अस्तु, शुक्रनीति में उसका मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित किया जाना संभवतः पुरानी परंपरा का द्योतक है, न कि तत्कालीन प्रथा का। साथ ही शुक्रनीति (२, ७२) यह भी स्वीकार करती है कि अन्य लोगों के मतानुसार मंत्रिमंडल में पुरोहित को स्थान नहीं है। अस्तु, लगभग २०० ई० से पुरोहित की गणना मंत्रियों में न होती थी; फिर भी राजा पर उसका नैतिक प्रभाव काफी था। आदर्श पुरोहित की घुड़की ही राजा को सत्पथ पर ला देने के लिए काफी समझी जाती थी[2]।

शुक्र की मंत्री-सूची में दूसरा स्थान प्रतिनिधि का है। इसका काम राजा की अनुपस्थिति में उसके नाम से कार्य करना था। वयस्क होने पर संभवतः युवराज को ही यह पद मिलता था। जातकों में उल्लिखित 'उपराजा' शुक्र द्वारा वर्णित प्रतिनिधि के ही समान था। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्रतिनिधि की गणना मंत्रिपरिषद् में न होती थी। क्योंकि उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख नहीं मिलता, और मनु भी प्रतिनिधि को नहीं प्रधानमंत्री को ही राजा का स्थान ग्रहण करने को कहते हैं[3]।

प्रधान या प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद का सबसे महत्वपूर्ण सदस्य था। शुक्र के मत में वह 'सर्वदर्शी[4]' पूरी शासन-व्यवस्था पर 'आँख रखनेवाला, होता था। उत्कीर्ण लेखों में भी अनेक प्रधानमंत्रियों के नाम मिलते हैं। छठवीं सदी के एक कदंबवंश के लेख में 'सर्वस्य अनुष्ठाता' उपाधि से संबोधित

---

१. राजराज्ञीयुवराजमंत्रिपुरोहितप्रतीहारसेनापति····। गहड़वालों के लेख। शिलाहारवंश के लेखों में भी वह मंत्री और अमात्यों से पृथक रखा जाता है। एपि. इंडिका, जिल्द ९, पृ० २४।

२. यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत्। शुक्र, २. ९९

३. ७. १४१।

४. सर्वदर्शी प्रधानस्तु।

जियंत[1], गुजरात की राष्ट्रकूट शाखा के राजा दंतिवर्मन् (८८० ई०) का महामात्य कृष्णभट्ट[2], ११वीं सदी के एक यादव लेख में वर्णित 'महाप्रधान' बभीयक[3], चंदेल राजा कृष्णवर्मन् (१०६० ई०) का 'मंत्रीन्द्र' वत्सराज,[4] चाहमान राजा विशालदेव (११६० ई०) का 'महामंत्री' सल्लक्षपाल[5], और अनेक परमार और प्रायः सभी चौलुक्य लेखों में वर्णित 'महामात्य'—ये सब अधिकारी प्रधानमत्री ही थे इसमें बिलकुल संदेह नहीं। इनका पद बड़ा ही ऊँचा था। उत्कीर्ण लेखों में सामंतों की मुकुट-मणियों की प्रभा से महामात्य के चरणों के नखों के प्रकाशित होने का वर्णन किया है। आधुनिककाल की भाँति प्राचीन भारत में भी प्रधानमत्री के जिम्मे शासन का एक विभाग 'रहता था; शिलाहार-राजा अनंतदेव (१०८१ ई०) का प्रधानमंत्री प्रधानकोषाध्यक्ष भी था[6]।

प्रधान के बाद युद्धमंत्री का स्थान है। शुक्र ने उसे सचिव का नाम दिया है। परंतु यह नाम साधारणतः उसके लिए प्रयुक्त न होता था। मौर्य-राज्य में उसे सेनापति कहा जाता था, गुप्त-राज्य में 'महाबलाधिकृत'[7], कश्मीर में 'कंपन'[8] और यादव-राज्य में 'महाप्रचंडदंडनायक'। नितिवाक्यामृत में सेनापति को मंत्रिपरिषद् में स्थान नहीं दिया गया है[9] पर साधारणतः उसकी गणना मंत्रियों में ही की जाती थी। युद्धमंत्री का युद्धकौशल, शस्त्रसंचालन और सैन्यसंगठन में निष्णात होना आवश्यक था। उसका कार्य राज्य के सब दुर्गों में यथोचित सेना रखना और सेना के सब विभागों की व्यवस्था करना था, ताकि उनकी युद्धशक्ति बराबर बनी रहे[10]।

---

१. इंड. ऐंटि. ६. २४।
२. एपि. इंडि. ६, २८७।
३. एपि. इंडि. २. २२५।
४. इंडि. ऐंटि. १८. २३६।
५. इंडि. ऐंटि. १९. २१८।
६. वही, १२. १२७।
७. एपि. इंडि, १०, ७१।
८. राजतरंगिणी, सर्ग ७. ३६५।
९ अध्याय १०, १०१–२।
१०. शुक्रनीति, २. ९५।

इसके बाद परराष्ट्रमंत्री का स्थान है। शुक्र ने इसे 'मंत्री' का नाम दिया है पर उत्कीर्ण लेखों में इसे अधिक सार्थक 'महासंधिविग्राहिक'[१] नाम से संबोधित किया गया है। प्राचीन भारत में छोटे-मोटे राज्यों का बाहुल्य था। इनमें से कुछ स्वतन्त्र थे और कुछ किसी बड़े राज्य के करद थे। पर सभी साम्राज्यपद के आकांक्षी होते थे। इसलिए परराष्ट्रमंत्री का कार्य कठिन और भारी होता था। प्रायः हर राज्य का अलग-अलग खाता होता था। शिलाहार जैसे छोटे राज्य में भी प्रधान परराष्ट्रमंत्री के अतिरिक्त कर्णाटक संबंधी समस्याओं के लिए एक मंत्री अलग था[२] जिसे कर्णाटक-संधिविग्राहिक कहते थे। मौर्य, गुप्त, राष्ट्रकूट और गुर्जर-प्रतिहार जैसे बड़े-बड़े साम्राज्यों में तो एक परराष्ट्र-मंत्री के नीचे अनेक सचिव रहे होंगे।

परराष्ट्रमंत्री के लिए साम, दाम, दंड और भेद की चतुर्मुखी नीति में पटुता अत्यावश्यक थी[३]। बहुत से लेखों से पता चलता है कि उसके जिम्मे ब्राह्मणों, मंदिरों और मठों के लिए भूदान की व्यवस्था करना और ताम्रपट्ट तैयार करने का भी काम था। परराष्ट्रमंत्री को यह काम सौंपना कुछ विलक्षण-सा जान पड़ता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि दानपत्रों में दान देनेवाले राजा की वंशावली और हरेक की वीरता और विजयों का बखान रहता था और यह काव्य परराष्ट्रमन्त्री ही अच्छी तरह कर सकता था। मिताक्षरा में किसी अज्ञात आचार्य के मत का हवाला दिया गया है कि 'संधिविग्रहकारी, ही दानपत्र का लेखक हो[४]।

'प्राड्विवाक' के जिम्मे न्याय-विभाग था 'और वह प्रधानन्यायाधीश होता था[५]। स्मृति और लोकाचार के पूरा ज्ञान के अतिरिक्त इसे दोनों पक्षों द्वारा पेश किये गये प्रमाणों और साक्ष्यों को ठीक-ठीक परख सकने की योग्यता भी होनी जरूरी थी। राजा की अनुपस्थिति में अंतिम निर्णय देने का अधिकार इसको होता था। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख बहुत ही कम मिलता है[६]।

---

१. इस पदवी का अर्थ लड़ाई और संधि कराने वाला बड़ा अधिकारी है।
२. इंडि. एँटि. ५. २७७।
३. शुक्र, २. ९५.।
४. संधिविग्रहकारी तु भवेद्यस्तस्य लेखकः। याज्ञ. १. ३१९–२०।
५. शिवाजी के अष्टप्रधानों में भी उसे न्यायाधीश कहते थे।
६. प्रथम अमोघवर्ष के संजन दानपत्र का लेखक 'प्राड्विवाक' था।
एपि. इंडि., १८, २३५।

'पंडित' के हाथ में धर्म और सदाचार संबंधी विषय रहते थे। इसका काम राज्य की धार्मिक-नीति निर्धारित करना था। धर्मशास्त्रों में पारंगत होने के साथ ही यह लोकाचार पर भी सूक्ष्म दृष्टि रखता था और देखता था कि कौन से धार्मिक विचार और आचार समाज में प्रचलित और मान्य हैं और कौन से लोककाल-विरुद्ध होकर अनुपयोगी हो गये हैं। इन सब बातों का उदारतापूर्वक यथासांग विचार करके यह राज्य की धार्मिक-नीति का स्वरूप निश्चित करता था[१]। हम बता चुके हैं राज्य धर्म का संरक्षक माना जाता था। पर इसका अर्थ यह भी न था कि एकदम पुराने पड़ गये ग्रंथों में भी जो कुछ भी लिखा हो उसे आँख मूँद कर कार्यान्वित किया जाता था। मंत्री पंडित का यह काम था कि जो धार्मिक निर्देश पुराने और अनुपयोगी हो गये हों उनका पता लगा कर, उन्हें प्रोत्साहन न दे और उनका पालन न करे। वह राज्य को यह भी सलाह देता था कि धर्म और संस्कृति के अनुकूल पुरानी व्यवस्था में क्या संशोधन किये जायँ[३]। 'अशोक' के 'धर्ममहामात्य', सातवाहनों के 'श्रमणमहामात्र',[२] गुप्त-राज्य के 'विनयस्थितिस्थापक,'[४] राष्ट्रकूटों के 'धर्मांकुश'[५] और चेदि-राज्य के 'धर्मप्रधान' सब इसी श्रेणी के अधिकारी थे। इसी विभाग के अंतर्गत मठ, मंदिर, पाठशाला और विद्यालयों को दान देने का कार्य भी रहा होगा।

शुक्र की सूची में अगला स्थान कोषाध्यक्ष का है जिसे 'सुमंत्र' का नाम दिया गया है। पर इससे अच्छा शब्द वैदिककाल का 'संग्रहीता' या कौटिल्य का 'समाहर्ता' है। उत्कीर्ण लेखों में इसे अधिकतर 'भांडागारिक' (कोष और भांडार का अधिकारी) कहा गया है[६]। इस शब्द से इस पद के कर्तव्य का

---

१. वर्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः।
   शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना॥
   लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान्विचिंत्य च।
   नृपं संबोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः॥ शुक्र २, ९९-१००

२. एपि. इंडि. ८. ९१।

३. अ. स. रि., १९०३-४, १०९; शुक्र २, १००

४ इंडि. एंटि. १८. २३०।

५ इंडि. एंटि. ९. ३३।

६ इयत्त्र संचितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिस्तृणादिकम्।

ठीक-ठीक ज्ञान होता है। साल भर में राजभांडार में कितना आया और गया और अंत में क्या बचा इसका पता रखना इसका काम था[1]। राज्य को शुल्क या कर अधिकतर अनाज और पदार्थों में मिलता था। अतः भांडागारिक का काम बड़े झंझट का था। पुराने अनाज को बेचना ताकि वह सड़ न जाय और नया अनाज खरीद कर भांडार में रखना भी इसका काम था।

कोषाध्यक्ष का पद बड़े महत्व का था। १०६४ ई० में शिलाहार राजा अनंत-देव के केवल ३ मंत्री थे, फिर भी कोषाध्यक्ष उनमें से एक था। महाभारत (१२. १३०. ३५.) कामंदक नीतिसार (३१, ३३) और नीतिवाक्यामृत (२१, ५) में कहा गया है कि कोष राज्य की जड़ है और इसकी देखरेख यत्नपूर्वक होनी चाहिये। गाहडवाल ताम्रपत्रों में 'कोषाध्यक्ष' का नाम बराबर मिलता है। अन्य लेखों में यदि इसका नाम न हो तो संयोगवश ही।

अब मालमंत्री का नंबर आता है। शुक्र की सूची में इसे 'अमात्य' का नाम दिया गया है। इसका काम राज्य भर के, नगरों ग्रामों और जंगलों तथा उनसे होने वाली आय का ठीक-ठीक ब्यौरा रखना था। इसके अतिरिक्त कृषियोग्य और परती भूमि तथा खानों की अनुमानित आय का भी ब्यौरा इसके पास रहता था[2]। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख बहुत कम हुआ है।[3]

यह खेद का विषय है कि राज्यशास्त्र के ग्रंथों या उत्कीर्ण लेखों से 'मंत्रिपरिषद्' की कार्यप्रणाली का पूरा-पूरा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। साधारणतः मंत्रिपरिषद् की बैठक राजा की अध्यक्षता में होती थी। कहा भी गया है कि मन्त्रियों की राय अपनी राय से भिन्न होने पर राजा क्रोध न करें[4]। मनु की सलाह है (८. ५७) कि राजा मन्त्रियों से सामूहिक और अलग-अलग दोनों प्रकार से मन्त्रणा करे। संम्भव है कि अन्य मन्त्रियों के सामने कोई मन्त्री अपनी स्पष्ट राय देने में संकोच

---

१ इयच्च संचितं द्रव्यं वत्सरैर्स्मिस्तृणादिकम्।
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजंगमम्॥
इयदस्तीति वै राज्ञो सुमंत्रो विनिवेदयेत्॥ शुक्र, २. १०१

२ शुक्र, २, १०३-५।

३ ग्यारहवीं शताब्दी के एक यादव लेख में इसका उल्लेख मिलता है; एपि. १. पृ० २२५। चालुक्य लेखों में उल्लिखित 'महामात्य' प्रधानमंत्री का बोधक है मालमंत्री का नहीं।

४ मंत्रकाले न कोपयेत्। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, २. ५३।

करे। इसलिए अलग-अलग मन्त्रणा करने की भी राय दी गयी है। शुक्र यह शंका करते हैं कि राजा की उपस्थिति से मन्त्री बहुधा सच्ची और राजा को बुरी लगने वाली राय प्रकट करने में हिचक सकते हैं इसलिए वे यह राय देते हैं कि मन्त्री अपना-अपना मत सप्रमाण लिखकर राजा के पास भेज दें[1]। कौटिल्य उपस्थित विषयों से सबद्ध ३-४ मन्त्रियों से एक साथ मन्त्रणा करने के पक्ष में हैं[2]। राजतरंगिणी से पता चलता है कि कश्मीर में ये सभी प्रथाएँ प्रचलित थीं[3]।

फिर भी हम मान सकते हैं कि साधारणतः मंत्रिपरिषद् एक होकर कार्य करती थी और संयुक्त रूप से राजा को मन्त्रणा देती थी। सम्यक् विचार के बाद मन्त्रिपरिषद् एकमत होकर जो शास्त्र-सम्मत राय देती थी वह 'उत्तम मन्त्र' समझा जाता था और उसका बहुत महत्व होता था[4]। कौटिल्य का कथन है कि गंभीर स्थितियों में भी राजा को साधारणतः मन्त्रिपरिषद् के बहुमत की राय माननी चाहिये, यद्यपि उचित समझने पर उसे इस राय से अलग जाने का भी पूरा अधिकार था[5]।

अशोक के स्तंभशासन के तीसरे और छठे लेखों से मंत्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली के विषय में और ज्ञान प्राप्त होता है। तीसरे लेख में कहा गया है कि 'मंत्रिपरिषद्' के निश्चय लेखबद्ध करके स्थानीय कर्मचारियों द्वारा प्रजा को समझाये जायँ। छठे लेख से पता चलता है कि सम्राट् के मौखिक आदेशों और आवश्यक विषयों पर शीघ्रता से किये गये विभागाध्यक्षों (अमात्यों) के निर्णयों पर 'मंत्रिपरिषद्' पुनर्विचार कर सकती थी। मंत्रिपरिषद् सम्राट् के आदेशों पर केवल सही नहीं कर देती थी वरन् अक्सर उसमें संशोधन करती थी और कभी-

---

१ रागाल्लोभाद्भयाद्राज्ञः स्युर्मूका इव मंत्रिणः।
नताननुमतान्विद्यान्नृपतिः स्वार्थसिद्धये।
पृथक्पृथक् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम्।
विमृशेत्स्वमतेनैव यत्कुर्याद्बहुसंमतम्॥ १. ३६३-४।

२ भाग १, अध्याय १५।

३ राजा हर्ष अपने सब मंत्रियों से एक साथ मंत्रणा करते वर्णित किये गये हैं (अध्याय ७, १०४३ और १४१५; राजा जयसिंह थोड़े से मंत्रियों से ही मंत्रणा करते थे (८, ३०८२-३)

४ ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा।
मंत्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मंत्रमुत्तमम्॥ रामायण ६-१२

५ तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्युः। अर्थशास्त्र, भाग १, अ. ६

कभी राजा को अपना विचार बदलने की सलाह भी देती थी। अशोक का आदेश था कि जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो या जब परिषद् में मतभेद हो, तब मुझे सूचना दी जाय। अवश्य ही अंतिम निर्णय सम्राट् का ही होता था फिर भी मंत्रिपरिषद् के अधिकारों की व्यापकता और वास्तविकता इसी से सिद्ध हो जाती है कि उसके कहने से राजा अपने आदेशों पर पुनर्विचार करने को बाध्य होते थे[1]।

शुंगों के समय में राजा के समान युवराज की भी मंत्रिपरिषद् होती थी। युवराज अग्निमित्र की भी प्रांतीय राजधानी में मंत्रिपरिषद् थी जो प्रांतीय शासन में उनकी सहायता करती थी। युवराज की अनुपस्थिति में भी मंत्रिपरिषद् की बैठक होती थी और उसके निर्णय स्वीकृति के लिए बाद में युवराज के पास भेज दिये जाते थे[2]।

पश्चिम-भारत के शक राजाओं के समय में भी मंत्रिपरिषद् कायम थी। रुद्रदामा के शिलालेख से पता चलता है कि गिरिनारबाँध-ऐसी बड़ी आर्थिक योजनाओं पर मंत्रिपरिषद् से पहले राय ली जाती थी। खेद है कि हमें उत्तर-भारत में गुप्तकाल या उसके बाद मंत्रिपरिषद् के कार्यों के विषय में कुछ जानकारी नहीं प्राप्त होती; यद्यपि हम देख चुके हैं कि वह इन राज्यों की अंगभूत संस्था थी। अस्तु यह मान लेना अनुचित न होगा कि मौर्य, शुंग, और शक राज्यों की भाँति गुप्तसाम्राज्य में भी 'मंत्रिपरिषद्' एक संस्था की भाँति काम करती रही। ११वीं शताब्दी के चोल-राज्य से जो कुछ ज्ञान होता है उससे इस धारणा की पुष्टि होती है। इस वंश के लेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण-भारत के चोल-राज्य में भी मंत्रिपरिषद् उसी भाँति काम कर रही थी जिस प्रकार वह १३०० वर्ष पूर्व अशोक के राज्य में करती थी। अशोक की ही भाँति चोल राजाओं के मौखिक आदेशों पर भी इसे पुनर्विचार करने का अधिकार था[3]। इसकी सहमति के बाद ही राजकीय आदेश सरकारी पुस्तकों में लिपिबद्ध किये जाते थे।

---

१ यं किंच मुखतो आभाणयामि अहं दपक् श्रवक व येन पन महामंत्रेण अचायिकं आरोपितं होति ताये अथाये विवदे निझति का संतं परिपयं अंतरियेण परिवेदितवो ये। शिलालेख ६।

२ मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक।

३. सौ. इं. इं. ३ सं., २१; ए.क., १०, कोलार सं. १११।

मंत्रिपरिषद् के दैनंदिन कार्य का विवरण शुक्रनीति से ही कुछ प्राप्त होता है[1]। यद्यपि इसका रचनाकाल बहुत बाद में है फिर भी हम मान सकते हैं कि इसका विवरण पहले के समय का भी परिचायक है। शुक्र एक मंत्री को दो 'दर्शक' या सहायक (सेक्रेटरी) देने की सिफारिश करते हैं, पर काम अधिक होने पर 'दर्शकों' की संख्या बढ़ाई भी जा सकती है, उधर यदि विभाग बहुत छोटा हो तो 'दर्शक' के बिना भी काम चलाया जा सकता है। अपनी योग्यता प्रदर्शित करने पर 'दर्शक' बहुधा मंत्रि-पद प्राप्त कर लेता था। शुक्र मंत्रियों को एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलने की भी सलाह देते हैं। इससे योग्य मंत्री को अधिक महत्व के विभागों में जाने का अवसर मिलता था। इस प्रकार के परिवर्तन का प्रमाण पृथ्वीषेण के बारे में मिलता है, जो गुप्तकाल में साधारण मंत्री के पद से उठकर अंत में सेनापति और युद्धमंत्री के पद पर पहुँच गये थे[2]।

योग्य और महत्त्वाकांक्षी मंत्री अक्सर एक से अधिक विभागों को सँभालते थे, यथा कश्मीर-नरेश जयापीड़ के राज्य में सुज्जी न्याय और युद्ध दोनों विभागों के मंत्री थे। थोड़े ही समय बाद अलंकार प्रधानन्यायाधीश और प्रधान सेनापति पद पर नियुक्त किये गये[3]। पर विरले ही व्यक्तियों को दो पद एक साथ दिये जाते थे; साधारणतः एक मंत्री को एक ही विभाग मिलता था। आजकल भी कभी-कभी एक मंत्री के जिम्मे एक से अधिक विभाग दिये जाते हैं।

जब किसी विषय में कोई निश्चय होता था तो उस विभाग का मंत्री उसे लिपिबद्ध करता था और अंत में यह लिखता था कि इस निश्चय पर उसकी पूर्ण स्वीकृति है। इसके बाद वह लिपि मुहरबंद करके राजा के पास मंजूरी के

---

१. एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ॥
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्तयेत्।
त्रिभिर्वा पंचभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा ॥
अधिकारबलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान्बहून्।
अधिकारिणमेकं वा योजयेद्दर्शकैर्विना ॥ शुक्र, अध्याय २, १०९–११५

२. एपि. इंडि., १०, ७१

३. राजतरंगिणी, ८, १९८२-४; २९२५।

लिए भेजी जाती थी। राजा स्वीकृति के लिए उस पर स्वयं हस्ताक्षर करता था या युवराज को अपनी ओर से हस्ताक्षर करने के लिए कह देता था[1]। इसके बाद वह आदेश प्रकाशित किया जाता था या संबंधित विभाग या अधिकारियों के पास कार्यान्वित करने के लिए भेज दिया जाता था।

अब हमें यह देखना है कि मंत्रिपरिषद् के लिए क्या योग्यता अपेक्षित थी। अर्थशास्त्र तथा अन्य ग्रंथों से पता चलता है कि इस विषय में एकमत नहीं था। कुछ शास्त्रज्ञ योग्यता को महत्व देते थे कुछ राजभक्ति को। कुछ की राय थी कि मंत्रियों की नियुक्ति राजा के सहपाठियों से होनी चाहिये। औरों का मत था कि विशिष्ट स्वामिभक्त और जाँचे हुए परिवारों से ही मंत्री लिये जाने चाहिये। कौटिल्य इन सब मतों को उपयोगी मानते थे और ऐसे व्यक्ति को चुनने की सलाह देते हैं जिनमें उपर्युक्त अधिकांश गुणों का योग हो। उनके अनुसार आदर्श मंत्री देश का ही निवासी, ऊँचे कुल का, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्राज्ञ, मेधावी, निर्भीक, वाग्मी, चतुर, तीव्रमति, उत्साही, मनस्वी, धीर, शुद्ध-चरित्र, मृदु, स्नेही, अटल स्वामिभक्त, बल, पराक्रम और स्वास्थ्य से युक्त, अस्थिर-चित्तता और दीर्घ-सूत्रता से मुक्त और द्वेष तथा शत्रुता उत्पादक दुर्गुणों से रहित होता है[2]। अन्य ग्रंथकारों का भी यही आदर्श है[3]। अवश्य ही इन सब गुणों का एक व्यक्ति में उपस्थित होना असंभवप्राय ही है। अस्तु, इनकी गिनती कराने का तात्पर्य यही था कि मंत्री का चुनाव करते समय उपर्युक्त आदर्श ध्यान में रखा जाय।

अब हमें देखना है कि वास्तव में मंत्रीगण इस आदर्श के कितने निकट तक पहुँच पाते थे। यदि राजा अयोग्य, दुष्ट-प्रकृति और अस्थिर चित्त होता था

---

१. मंत्री च प्राड्विवाकश्च पंडितो दूतसंज्ञकः।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे॥
स्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यांते कुर्युरेव हि।
अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः॥
शुक्र, २, ३६३, ६७

२. अर्थ., भाग १, अध्याय ५।

३. म. भा. द्वादश पर्व, अध्याय ८२-५। कामं. नीतिसार ४. २५-३१ और शुक्रनीति २. ५२-६४।

तो उसके चुने हुए मंत्री भी निकम्मे खुशामदी ही होते थे। यथा कश्मीर के राजा उन्मत्तावंति ने गानेवालों को और चक्रवर्धन ने अपनी नयी प्रेमिका के रिश्तेदार डोमों को अपना मंत्री बनाया था। मौर्यवंश के राजा बृहस्पतिमित्र, शुंगवंश के देवभूमि, राष्ट्रकूट चतुर्थ गोविंद तथा इसी प्रकार के अन्य दुर्वृत्त और निकम्मे शासकों का भी यही हाल रहा होगा। पर इतिहास को कलंकित करनेवाले ऐसे राजा अधिक न थे। पुरातत्व और साहित्य की सामग्री का अध्ययन करने से यही प्रकट होता है कि योग्य और शास्त्रज्ञ मंत्रियों की प्राप्ति के लिए बड़ी चेष्टा की जाती थी। द्वितीय चंद्रगुप्त का मंत्री शाब नीतिज्ञ और कवि बखाना गया है[1]। राष्ट्रकूट तृतीय कृष्ण का मंत्री नारायण राजविद्या का पारंगत कहा गया है[2]। यादव राजा कृष्ण के मंत्री नागरस के विषय में कहा गया है कि राजनीति-शास्त्रों के गहन अध्ययन से उसका बुद्धिकौशल बहुत बढ़ा-चढ़ा था[3]। अतः यह मानना गलत न होगा कि प्रायः अच्छी शासन-व्यवस्था में वे ही व्यक्ति मंत्रि पद पर नियुक्त किये जाते थे जो राजनीतिशास्त्र के पांडित्य और शासन के व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रख्यात होते थे।

स्मृतिकारों के मतानुसार यथासंभव मंत्रियों के पुत्र या वंश के अन्य लोगों को मंत्रियों की नियुक्ति के समय प्रधानता दी जाती थी। गुप्त राज्य के मंत्री शाब और पृथ्वीषेण के वंश में मंत्रि पद कई पीढ़ियों से चला आता था[4]। परिव्राजक राज्य में ४८२ ई॰ में सूर्यदत्त नामक व्यक्ति मंत्रिपद पर था, २८ वर्ष बाद उसका पुत्र विभुदत्त भी उस पद पर वर्तमान था[5]। उच्छकल्प वंश के शासन में सन् ४९९ ई॰ में गल्लु परराष्ट्रमंत्री था, और सन ५१२ ई. में उसका भाई मनोरथ उसी पद पर प्रतिष्ठित हुआ[6]।

चंदेल राज्य में एक ही वंश की ५ पीढ़ियों ने, जिसमें प्रभास, उसके पुत्र शिवनाग, उसके पुत्र महीपाल, उसके पुत्र अनंत और उसके पुत्र गदाधर थे,

---

१. शब्दार्थन्यायनीतिज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः। कॉ. इं. इं. ३. ३५
२. पारगो राजविद्यानां कविमुख्यः प्रियंवदः॥ एपि. इंडि., ४. ६०
३. अनेकराजनीतिशास्त्रोक्तविवेकवर्धितबुद्धिकौशलः। इं. एं., १२. १२६
४. शाब का विशेषण है 'अन्वयप्राप्तसाचिव्यः'। पृथ्वीषेण, प्रथम कुमार-गुप्त का मंत्री था और उसका पिता शिखरस्वामी द्वितीय चंद्रगुप्त का मन्त्री था। ए. इंडिका, १०, पृ॰ ७१।
५. कॉ. इं. इं. ३. पृ॰ १०४, १०८.
६. वही, पृ १२८।

चंदेल वंश की सात पीढ़ियों की सेवा की, जिसमें धंग, उसके पुत्र गंड, उसके पुत्र विद्याधर, उसके पुत्र विजयपाल, उसके पुत्र देववर्मन्, उसके भाई कीर्तिवर्मन्, उसके दो पुत्र सल्लक्षणवर्मन और पृथ्वीवर्मन् और सल्लक्षणवर्मन् का पुत्र जयवर्मन् ये ७ राजा थे[१]। इसी वंश में राजा मदनवर्मन् का मंत्री लाहड़ था, और मदनवर्मन् के पौत्र परमर्दिदेव के मंत्री क्रमशः लाहड़ के पुत्र और पौत्र सल्लक्षण और पुरुषोत्तम हुए[२]। इससे पता चलता है कि मंत्री की नियुक्ति में वंशपरंपरा का ध्यान रखने का स्मृतियों का आदेश यथासंभव व्यवहार में लाया जाता था।

कभी-कभी राजवंश के सदस्य भी मन्त्री बनाये जाते थे। यथा कश्मीर के राजा हर्ष ने एक पूर्ववर्ती राजा के दो पुत्रों को अपने मन्त्रियों के पद पर नियुक्त किया[३], और चाहमान राजा बीसलदेव ने अपने पुत्र सल्लक्षणपाल को ही अपना प्रधान मंत्री बनाया[४]। पर राजवंश के दूरवर्ती सदस्यों को भी मन्त्री बनाने में यह खतरा भी था कि वे सिंहासन पर ही कब्जा करने का षड्यंत्र न करने लगें; अतः यह प्रथा बहुत प्रचलित न थी।

स्मृति और नीतिकार मन्त्री में सैनिक योग्यता होना आवश्यक नहीं मानते[५]। पर पुरातत्त्व के लेखों से पता चलता है कि साधारणतः मंत्री सैनिक नेता भी हुआ करते थे। समुद्रगुप्त का संधिविग्रहिक हरिषेण 'महाबलाधिकृत' या महासेनापति भी था। इक्ष्वाकु और वाकाटक राजाओं के प्रांताधिपति सेनापति भी होते थे, और यही बात संभवतः मन्त्रियों के संबंध में भी थी। गंगवंशी राजा मारसिंह के मन्त्री चामुण्डराय ने गोनूर की लड़ाई जीती थी[६]। सन् १०२४ ई० में उत्तर चालुक्य वंशी राजा का मन्त्री, महाप्रचंड-दंडनायक अर्थात् उच्च सैनिक अधिकारी भी था। कलचुरिवंशी राजा बिज्जलदेव के सर्व मन्त्री दंडनायक या सेनापति भी थे[७]। आश्चर्य की बात तो यह है कि हेमाद्रि जैसा व्यक्ति भी, जिसने व्रत और धार्मिक अनुष्ठानों पर इतना अधिक लिखा है, न

---

१. एपि. इंडिका, भाग १ पृ. १९७। २. वही, पृ० २०८-२११।

३. राजतरं. ८.८७४। ४. इंडि. एंटि. भाग १९ पृ. २१८।

५. कौटिल्य, कामंदक और सोमदेव केवल योंही कह देते हैं कि मंत्री वीर भी होना चाहिये पर सैनिक योग्यता पर कोई विशेष जोर नहीं देते।

६. एपि. इंडिका, भाग ५ पृ. १७३।

७. इंडि. एंटि, भाग १४ पृ. २६।

केवल युद्धगजों की शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार का ही ज्ञाता था वरन उसने स्वयं झन्डी (छिंदवाड़ा) जिले के एक विद्रोही सरदार का दमन भी किया था[१]। यादव राजा कृष्ण का प्रधानमन्त्री नागरस जितना बड़ा विद्वान् था उतना ही प्रसिद्ध योद्धा भी था[२]।

स्मृतियाँ मन्त्रियों के चुनाव में ब्राह्मण को प्रधानता देती हैं। व्यवहार में इस पर कहाँ तक अमल किया जाता था यह ज्ञात नहीं। उत्कीर्ण लेखों में उल्लिखित मन्त्रियों की जाति प्रायः नहीं दी गयी है। पर अधिक संभावना है कि मन्त्रियों में सभी जातियों और वर्गों के सदस्य होते थे। महाभारत के अनुसार राजकीय परिषद् में ब्राह्मण केवल ४ होते थे जब कि क्षत्रियों की संख्या ८, वैश्यों की २१ और शूद्रों की ३ होती थी[३]। शुक्र का कथन है कि जाति और कुल विवाह के समय ही पूछना चाहिये, मन्त्रियों का चुनाव करते समय नहीं[४]। सोमदेव का मत है कि तीनों द्विज वर्गों से मंत्रियों को लेना चाहिये[५]। शुक्र को तो सेनाधिप का पद शूद्र को भी देने में आपत्ति नहीं है यदि वह उसके योग्य और विश्वासपात्र हो[६]। प्राचीन भारत के अधिकांश राजा अब्राह्मण थे और संभवतः उनके मन्त्री भी अधिकांश अब्राह्मण होते थे, खास कर इसलिए कि उनमें सैनिक योग्यता भी अपेक्षित थी।

---

१. जर्नल. रा. ए. सो. भाग ५ पृ. १८३।

२. इंडि. एँटि, भाग १४ पृ., ७०।

३. चतुरो ब्राह्मणान्वैश्यान्प्रगल्भान्स्नातकाञ् शुचीन्।
क्षत्रियान् दश चाष्टौ च बलिनः शस्त्रपाणिनः॥
वैश्यान्वित्तेन संपन्नानेकविंशतिसंख्यया।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन्कर्मणि पूर्वके॥ १२. ८५. ७-९

४. नैव जातिं न च कुलं केवलं लक्षयेदपि।
कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेन च॥
न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते।
विवाहे भोजने नित्यं कुलजातिविवेचनम्॥ शुक्र, ३. ५४-५

५. पृ. ५५।

६. स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः।
शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः संकरसंभवाः।
सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्या राज्ञा जयार्थिना॥ शुक्र २. १३९।

मन्त्रियों की नियुक्ति राजा करते थे। प्राचीन भारत में ऐसी कोई केंद्रिय प्रतिनिधि सभा न थी जिसके प्रति मन्त्री जिम्मेदार होते। अतः प्रत्यक्षरूप से भी मन्त्री राजा के प्रति जिम्मेदार थे और अप्रत्यक्ष रूप से ही जनमत के प्रति। अतः मन्त्रियों का प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर ही निर्भर था, उन्हें किसी लोक प्रतिनिधि संस्था के समर्थन के वैधानिक बल का सहारा न था। बिम्बिसार-ऐसे शक्तिशाली और स्वेच्छाधीन राजा ठीक सलाह न देने पर मन्त्रियों को निकाल सकते थे, अयोग्यता के कारण नीचे पद पर उतार सकते थे और अच्छी राय देने पर पदवृद्धि भी कर सकते थे[1]। ऐसे राजाओं के मंत्रियों की स्थिति बड़ी कठिन होती थी। रावण की भाँति वह अपने मन्त्रियों से सदा अपनी हाँ में हाँ मिलाने की आशा करते थे और उनके प्रतिकूल हित की बात कहने पर भी मन्त्री को अपने पद से हाथ धोने के लिए तैयार रहना पड़ता था[2]। कभी-कभी तो अप्रिय राय देने के कारण उन्हें निर्वासन और संपत्ति-हरण का भी दंड भोगना पड़ता था[3]। परन्तु इस चित्र का दूसरा पहलू यह भी है जब राजा के दुर्बल होने पर मन्त्री सिंहासन पर कब्जा करने की ताक में रहते थे। राजा और मन्त्री में बराबर तनातनी और परस्पर अविश्वास रहता था और मन्त्री राजा के सर्वनाश का षड्यंत्र रचा करते थे[4]। सावित्री के पति सत्यवान् के पिता का राज्य मन्त्रियों के षड्यंत्र से ही गया था और ऐतिहासिक युग में मौर्य और शुंग वंश के अंतिम राजाओं का भी यही हाल हुआ।

परन्तु उपरिनिर्दिष्ट दोनों प्रकार की भी स्थिति असाधारण थी। साधारणतः राजा अपने मन्त्रियों का बहुत सम्मान करते थे और मन्त्री भी स्वामिभक्त होते थे

---

१. चुल्लवग्ग ५. १.

२. संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता।
वाक्यमप्रतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम्॥
सावमर्दं तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते।
नाभिनंदति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम्॥
एतत् कर्ममवश्यं मे बलादपि करिष्यसि॥ रामायण, कांड ३.
अध्याय ४०, ९-१०; २५

३. राजतरंगिणी २. ६८; ६.३४२।

४. सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मंत्रिणाम्,
अत एव हि वाञ्छन्ति मंत्रिणः सापदं नृपम्। पंचतंत्र पृ. ५९

तथा अपने को प्रजा के हितों का संरक्षक समझते थे। मन्त्री राज्य के स्तंभ माने जाते थे[1] और राजा साधारणतः उनकी राय पर ही चलते थे, यद्यपि सब बात की पूरी जिम्मेदारी राजा पर ही होती थी[2]। मन्त्री का सबसे बड़ा और पहला कर्तव्य यही था कि राजा को कुमार्ग पर जाने से रोके और उस पर नियंत्रण रखे[3]। कामंदक का कथन है कि वे ही मन्त्री राजा के सुहृद हैं जो उसे उत्पथ पर जाने से रोकते हैं[4]। मन्त्री वही है जो एकमात्र राज्य-कार्य-भार की ही चिंता करे, राजा के मन की ही करने के फेर में न रहे और राजा भी जिसका अदब करे[5]। राज्यव्यवस्था में मंत्रियों का स्थान इतने महत्त्व का था कि कुछ आचार्यों के मतानुसार किसी भी राज्य के लिए इससे बड़ा संकट कोई न हो सकता था कि उसके मन्त्री नादान निकलें या शत्रु से मिल जायें[6]।

मन्त्रियों की शक्ति और प्रतिष्ठा बहुत कुछ उनके व्यक्तित्व पर ही निर्भर थी। हमारे विधानशास्त्रियों ने कहा है कि जब राजा शक्तिशाली होते थे तब अधिकार उन्हीं में केंद्रित रहता था और शासन 'राजायत्त-तंत्र' कहा जाता था और जब राजा दुर्बल और मन्त्री शक्तिशाली होते थे तब अधिकार मन्त्रियों में केंद्रित रहते थे और शासन 'सचिवायत्त-तंत्र' कहा जाता था। साधारण स्थिति में अधिकार दोनों में विभाजित रहते थे और शासन 'उभयायत्त'[7]—दोनों पर समान रूप से टिका हुआ समझा जाता था।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि साधारणतः राजा मन्त्रियों का बहुत मान करते थे और उनकी राय पर चलते थे। राष्ट्रकूट राजा तृतीय कृष्ण (९५६)

---

१. अंतः सारैरकुटिलैरच्छिद्रैः सुपरीक्षितैः।
मंत्रिभिर्धार्यते राज्यं सुस्तंभैरिव मंदिरम्॥ पंचतंत्र पृ. ६६

२. तद्यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुः तत्कुर्यात्।
अर्थशास्त्र, भाग १, अध्याय १५

३. ये एनमपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। वही, भाग १, अध्याय ३।

४. नृपस्य त एव सुहृदस्त एव गुरवो मताः।
य एनमुत्पथगतं वारयंत्यनिवारितम्॥ ४. ४१

५. सा मंत्रिता च यद्राज्यकार्यभारकचिंतनम्।
चित्तानुवर्तनं यत्तदुपजीवकलक्षणम्॥ कथासरित्सागर, १८. ४६।

६. भारद्वाज भी इसी मत के थे। अर्थ. भाग ८, अध्याय १।

७. मुद्राराक्षस, तृतीय अंक। कथासरित्सागर १, ५८ ९।

का संधिविग्रहिक मन्त्री नारायण उसका 'दक्षिण हस्त' कहा गया है[1] । पथरी के नृपति परबल (८१९ ई०) अपने मंत्री को 'शिरसा वंदनीय' मानता था[2] । यादवनरेश कृष्ण के लेख में उसके प्रधानमंत्री की उपमा उसकी जिह्वा और दक्षिण कर से की गयी है[3] । इसी वंश के एक अन्य लेख में राष्ट्र का पुष्टि, प्रजाजन की तुष्टि, धर्म की वृद्धि और सकल अर्थों की सिद्धि सब कुछ मन्त्रियों की कार्यकुशलता और कर्तव्य-भावना पर निर्भर बतायी गयी है[4] ।

हम देख चुके हैं कि राजायत्त शासन में मन्त्री बिलकुल राजा के हाथ में रहते थे पर जब मन्त्री प्रभावशाली होते थे और मिलकर काम करते थे तो राजा का कुछ न चलता था । परंपरा से यह बात सुनी जाती है कि चंद्रगुप्त मौर्य अपने मन्त्री कौटिल्य के वश में थे । अशोक के मन्त्रियों ने सफलतापूर्वक उसके अंधाधुंध दान-प्रवृत्ति का विरोध किया था और उस कारण एक अवसर पर अशोक केवल आधा आँवला मात्र ही संघ को दे सके थे[5] । इस ऐतिहासिक दान की स्मृति सुरक्षित करने के लिए उस पर एक स्तूप बनाया गया जिसे युआन च्वांग ने ७वीं सदी में देखा था । युआन च्वांग यह भी बताते हैं कि श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य प्रतिदिन ५ लाख मुद्राएँ दान देना चाहते थे पर मन्त्रियों ने यह कहकर इसका विरोध किया कि इससे शीघ्र ही खजाना खाली हो जायगा और नये कर लगाने पड़ेंगे । राजा के दान की प्रशंसा होगी मगर मन्त्रियों को प्रजा की गाली सुननी पड़ेगी[6] ।

पादंजलि जातक (सं० २४७) में कथा है कि मन्त्रियों ने पादंजलि को इसलिए युवराज न बनने दिया कि वह बुद्धिहीन था । यह तो केवल कथा है

---

१. तस्य यः प्रतिहस्तोऽभूत् प्रियो दाक्षिणहस्तवत् ।
एपि. इंडिका, भाग ४, पृ.६०

२. परबलनृपतेर्मूर्ध्नि वंद्यः । वही, भाग ९, पृ. २५४.

३. यो जिह्वा पृथिवीशस्य यो राज्ञो दक्षिणः करः । इं. ऐं.; ४, ७०

४. राष्ट्रस्य पुष्टिः स्वजनस्य तुष्टिः धर्मस्य वृद्धिः सकलार्थसिद्धिः ।
नंदंति संतः प्रसरंति लक्ष्म्यः श्रीचंगदेवे सति सत्प्रधाने ॥
इं. एं., ८, ४.

५. भृत्यैः स भूमिपतिरेष हृताधिकारः
दानं प्रयच्छति किलामलकार्धमेतत् ॥ दिव्यावदान पृ० ४३२

६. वॉटर्स, भाग १, पृ० २११

पर राजतरंगिणी मन्त्रियों के महान् प्रभाव के ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत करती है। राजा अजयपीड़ मम्म और अन्य मन्त्रियों के निर्णय से ही राज्यच्युत किया गया (४, ७०७) । मन्त्रियों ने ही राजपद के सब उम्मेदवारों में शूर को सबसे योग्य निश्चय करके उसे राजगद्दी दी (४, ७१५) । राजा कलश अपनी मृत्युशय्या से अपने पुत्र हर्ष को युवराज बनाना चाहता था पर मन्त्रियों के दृढ़ विरोध के कारण उसकी अंतिम इच्छा सफल न हो सकी (७, ७०२) । अनेक प्रमाणों से ज्ञात होता है कि राजा के निस्संतान मर जाने पर मन्त्री ही उत्तराधिकारी का निर्णय करते थे । सिंहल के राजा विजय की मृत्यु पर उसके मन्त्रियों ने एक वर्ष तक राज्य सँभाला, और उसके भतीजे के भारत से लौटने पर उसे शासनसूत्र सौंपा[1] । हर्ष को कन्नौज का राज्य मौखरि-राज्य के मन्त्रियों ने ही प्रदान किया ।

फिर भी साधारण स्थिति में मन्त्रियों की मन्त्रणा पर अंतिम निर्णय करने का काम राजा का ही था[2] । पर वह साधारणतः मन्त्रियों की सलाह का सहारा लेता था। राजा और मन्त्रियों में सौहार्द्र रहता था । राजा अपने मन्त्रियों को बहुत मानते थे और अपने हृदय के समान समझ कर उनपर विश्वास करते थे[3] । वे उन्हें अपने दाहिने हाथ के समान मानते थे और उनकी आज्ञा को अपनी आज्ञा समझते थे[4] । कल्हण ने वर्णन किया है कि राजा जयसिंह अपने रुग्ण मन्त्री के अंतिम क्षण तक उसकी शय्या के पास बैठे रहे (८, ३३२९) । यह उदाहरण अपवादात्मक मानने का कोई कारण नहीं है ।

बहुधा ललितादित्य ऐसे शक्तिशाली राजा भी अपने मन्त्रियों को इस बात की स्वतंत्रता देते थे कि यदि उनकी कोई आज्ञा अनुचित जान पड़े या ऐसे समय की गयी हो जब वे पूरी तरह होश में न हों तो मन्त्री उसका पालन न करें, और ऐसा करने पर अपने मन्त्रियों को धन्यवाद देने से भी वे न चूकते थे[5] ।

---

१. महावंश अध्याय ९ ।

२. धृतेऽपि मंत्रे मंत्रज्ञैः स्वयं भूयो विचारयेत् ।
तथा वर्तेत तत्वज्ञो यथा स्वार्थं न पीडयेत् ॥ कामंदक ११-६० ।

३; विश्वासे हृदयोपमम् । ज. बॉ. ब्रँ. रॉ. ए. सो., १५. ५

४. यो जिह्वा पृथिवीशस्य यो राज्ञो दक्षिणः करः । इं. एं. १४. ७०

५. कार्यं न जातु तद्वाक्यं यत्क्षीबेण मयोच्यते ।
तान्युक्तकारिणोऽमात्यान्प्रशंसन्निति सोऽब्रवीत् ॥ राजतरंगिणी; ४, ३२०।

मन्त्री भी बराबर राजा और प्रजा दोनों के हित का ध्यान रखते थे। राजा जयापीड़ के बन्दी हो जाने पर उसके मन्त्री ने अपने प्राण दे दिये ताकि उसके फूले हुए शव के सहारे राजा नदी पार कर शत्रुओं के पंजे से मुक्त पा सकें[1]। दक्षिण के इतिहास में इसके बहुत से उदाहरण मिलते हैं जब मन्त्रियों ने राजा की मृत्यु के समय प्राण दे देने की प्रतिज्ञा की और अवसर आने पर उसका पालन भी किया। होयसल राजा द्वितीय बल्लाल के मन्त्री ने यह प्रतिज्ञा की थी और राजा की मृत्यु के बाद उसकी रानी के साथ मन्त्री ने भी एक ऊँचे स्तंभ पर से कूदकर अपने प्राण दे दिये[2]। कर्नाटक के इतिहास में ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं[3]।

इसमें तो संदेह नहीं कि गुणग्राही और कर्तृत्वशाली राजा और भक्तिमान् और कुशल मन्त्री इनका संयोग बारंबार नहीं होता था[4]। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नृप-मन्त्रियों का स्पृहणीय सहकार्य इतना अपवादात्मक भी नहीं था जितना आजकल के लोग मानते हैं। अनेक प्रकार के प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि मन्त्रिमंडल का राज्यकार्यभार पर प्रायः अच्छा असर पड़ता था और वैधानिक तौर से जनता के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी मन्त्रिमंलड अपनी शक्तिभर प्रजा के हितसाधन का प्रयत्न करता था।

---

१. राजतरंगिणी ४, ५७५ ३—ए. क., ५, बलूर नं० १२।

२. ए. क., ५, बेलूर नं० १२।

३. ए. क., ५ अर्कलगड, सं. ५, २७; ६, काडुर सं. १४६; १०, कोलार सं. १८९ मुलबागल सं. ७७—७८

४. कृतज्ञः क्षांतिमान्क्ष्माभृ मंत्री भक्तः स्मयोज्झितः
अभंगुरोयं संयोगः सुकृतैर्जातु दृश्यते ॥
परस्परमनुत्पन्नमन्युकालुष्यदूषणौ।
न दृष्टौ न श्रुतौ वान्यौ तादृशौ राजमंत्रिणौ ॥ राजत., ५. ४६३-४

अध्याय ६

केंद्रीय शासन-कार्यालय और शासन-विभाग

पिछले अध्यायों में हमने शासनव्यवस्था के ज्ञान-केंद्र राजा और मंत्रि-परिषद् के अधिकारों और कार्यों की विवेचना की है। पर जिस प्रकार ज्ञान-केंद्र को मस्तिष्क के आदेशों को पूरा करने के लिए शरीर के विविध अंगों और इन्द्रियों की आवश्यकता पड़ती है उसी प्रकार सपरिषद् राजा के लिए भी केंद्रीय शासनकार्यालय तथा अनेक कार्याध्यक्षों की आवश्यकता है। इस अध्याय में हम केंद्रीय सरकार के शासनालय तथा विभिन्न विभागों की व्यवस्था की समीक्षा करेंगे। यहाँ भी हमें याद रखना चाहिए कि हमारे पास सामग्री बहुत थोड़ी है और हमें विभिन्न प्रांतों और कालों के विविध राजवंशों के शासन से बिखरे तथ्यों को जोड़-जाड़कर एक रूपरेखा बनानी है।

वैदिककाल में लेखनकला का या तो आविष्कार न हुआ था, या उसका अधिक उपयोग न किया जाता था। इसलिए इस युग में शासनकार्यालय के विकास की आशा नहीं की जा सकती। शासनआदेश राजा या समिति द्वारा मौखिक रूप से दिये जाते थे और गाँवों में संदेश-वाहकों द्वारा घोषित किये जाते थे। राज्य छोटे होते थे इसलिए इस प्रणाली में कोई असुविधा भी न होती थी और दूसरा उपाय भी न था।

उत्तर वैदिककाल में शासनकार्यालय का क्रमशः जिस प्रकार विकास हुआ इसका इतिहास जानने का कोई साधन नहीं है। लेखनकला का प्रचार बढ़ता जा रहा था, साम्राज्यों का विकास हो रहा था, शासनकार्य का भी विस्तार हो रहा था, अतः युधिष्ठिर और जरासंध जैसे पौराणिक और अजातशत्रु और महापद्म नंद जैसे ऐतिहासिक सम्राटों के शासन में भी किसी प्रकार का केंद्रीय शासन-

कार्यालय अवश्य विद्यमान रहा होगा। पर इसका स्वरूप जानने के कोई साधन नहीं हैं[1]।

अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में शासनकार्यालय का पूरा विकास और संघटन हो चुका था। विविध विभागों के बड़े अधिकारी लेखक कहे जाते थे। ये 'लेखक' साधारण 'क्लर्क' न थे। क्योंकि कौटिल्य का कथन है कि 'लेखक' का पद 'अमात्य' के बराबर होना चाहिये[2], जिसका पद और वेतन केवल मन्त्री से ही नीचा होता था। सातवाहनों के शासनकाल में भी 'लेखकों' का यही पद बना था। उनके संपत्ति का अनुमान इसी से हो सकता है कि उनके द्वारा बौद्ध भिक्षुओं के लिए बहुमूल्य गुफाएँ निर्माण कराने के उल्लेख बहुत मिलते हैं[3]।

शासन की उत्तमता बहुत कुछ सचिवालय के कर्मचारियों की कार्यपटुता और केन्द्रीयशासन के आदेशों के ठीक-ठीक लेखबद्ध करने की योग्यता पर निर्भर करती थी। कौटिल्य कहते हैं कि 'शासन (सरकारी आदेश) ही सरकार है'[4]। शुक्र का कथन है कि 'राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं, उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है।" यह दिखाया जा चुका है कि आजकल की भाँति प्राचीनकाल में भी बहुधा मंत्रिपद अनुभवी और ऊँचे पदाधिकारी या अमात्यों को ही प्रदान किया जाता था। इसलिए अमात्यों के चुनाव में बड़ी सावधानी बर्ती जाती थी। मंत्रियों की भाँति उनमें भी ऊँचे दर्जे की शिक्षा, कार्यपटुता और स्वामिभक्ति की अपेक्षा की जाती थी। सबसे बड़ी आवश्यकता लेखनपटुता की थी, क्योंकि उनका मुख्य कार्य राजा या मंत्री के मौखिक आदेशों को शीघ्रातिशीघ्र ठीक-ठीक लेखबद्ध करना था। वे पहले के लेखों को भी देख लेते थे ताकि पहले के आदेशों या सिद्धांतों का नये आदेश से

1. स्मरण रखना चाहिये कि शासनकार्यालय का विकास प्राचीन रोम में भी हेड्रियन के समय (२री सदी ईसवी) में ही हो पाया था; जब कि भारत में यह कम से कम १री सदी ईसवी पूर्व तक तो अवश्य हो गया था।
2. अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय १०।
3. एपि. इं डि., ७ नासिक गुफालेख सं. १६, २७
4. शासने शासनमित्याचक्षते। भाग २, अ. १०

विरोध न हो। इसके पश्चात् वे नये आदेश की शब्दयोजना करते थे जो संगति, पूर्णता, चारुता, गंभीरता और स्पष्टता आदि गुणों से युक्त होती थी। शब्दाडंबर बचाते हुए, प्रभावशाली शैली में सरकारी आदेश की आवश्यकता समझाते हुए, समयक्रम से या महत्व के क्रम से तथ्यों को रखते हुए लेख लिखा जाता था[1]। लेख तैयार होने पर विभाग के अध्यक्ष या मंत्री को दिखाया जाता था और तत्पश्चात् राजा की स्वीकृति और हस्ताक्षर के लिए पेश किया जाता था। हस्ताक्षर के बाद, मुहर लगाकर आदेश संबंधित कर्मचारियों के पास उपयुक्त कारवाई के लिए भेज दिया जाता था।

यूनानी इतिहासकारों ने सार्वजनिक कर्मचारियों (कौंसिलर और असेसर) की जिस सातवी जाति का वर्णन किया है संभवतः उसका तात्पर्य सचिवालय के उक्त कर्मचारियों से ही था। इस जाति के ही लोग उक्त सरकारी पदों पर थे और सार्वजनिक शासनकार्य में प्रमुख भाग लेते थे। यह जाति संख्या में अधिक न थी पर अपने बुद्धिबल और न्यायप्रियता के लिए प्रख्यात थी। यूनानी लेखकों ने यह भी लिखा है कि प्रांतीय शासकों और उच्चाधिकारियों, कोष और कृषि विभाग के अध्यक्षों के नायकों को भी इसी जाति में से चुना जाता था। इससे स्पष्ट है कि केंद्रीय शासनालय के उक्त अधिकारी ही इन पदों पर नियुक्त किये जाते थे।

दुर्भाग्यवश शुंग, सातवाहन और गुप्त काल में केन्द्रीय शासनालय की कार्यप्रणाली के विषय में हमें कुछ जानकारी नहीं है। परन्तु यह अनुमान किया जा सकता है कि इस समय पूर्ववत् कार्य होता रहा होगा, क्योंकि मध्ययुग तक कश्मीर में भी, जहाँ शासनकार्य में अंधाधुंधी बीच-बीच बहुत हुआ करती थी, केन्द्रीय शासनालय शासनव्यवस्था का नियमित अंग था। राजतरंगिणी में केन्द्रीय शासनालय के कर्मचारियों द्वारा राजाज्ञाओं के लेखबद्ध किये जाने के उल्लेख हैं। १२वीं सदी में चाहमान[2] और चौलुक्य[3] शासन में सचिवालय 'श्री-करण' कहा जाता था।

अन्य विषयों की भाँति इस विषय में भी सबसे अधिक जानकारी चोल राज्य के लेखों से प्राप्त होती है। जब राजा किसी विषय पर आज्ञा देते थे तो

१. अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय १०।
२. एपि. इंडि. ३. पृ० २०६।
३. एपि. इंडि. ९. पृ. ६४

उससे संबंधित सब अधिकारी उस समय उपस्थित रहते थे। एक लेखक उसे मूल लेख के अनुसार लिखता था और अन्य दो-तीन व्यक्ति उसे मूल से मिलाकर उस पर सही करते थे। तत्पश्चात् विभागों की प्रमाण-पुस्तकों में दर्ज करने के बाद आज्ञा जिलों में कर्मचारियों को भेज दी जाती थी[१]।

केंद्रीय शासनालय में लेखों को सुरक्षित रखने की भी व्यवस्था थी। साधारण आदेश अधिक दिन न रखे जाते थे परन्तु भूमिदान और अग्रहार आदि के ताम्रपट्ट भविष्य में छानबीन के लिए सुरक्षित रखे जाते थे। कभी-कभी दान पानेवाले व्यक्ति अपने गाँवों को परस्पर बदलना चाहते थे ऐसे अवसर पर पट्टों में भी परिवर्तन करना पड़ता था[२]। भूमिदान की लिखापढ़ी केन्द्रीय शासनालय में यथासंभव शीघ्रता से की जाती थी और विलंब होने पर अधिकारियों से जवाब तलब होता था[३]। केन्द्रीय शासनालय के लेखों में संपत्ति के क्रय-विक्रय या हस्तांतर दर्ज कराने के लिए शुल्क देना पड़ता था। कश्मीर के राजा यशस्कर ने शासनालय में दिये गये बहुत अधिक शुल्क से शंकित होकर एक मामले में जालसाजी पकड़ी थी[४]।

गहड़वाल[५] और चालुक्य[६] राज्य में सरकारी लेखों के प्रधान निरीक्षक को अक्षपटलिक या महाक्षपटलिक कहा जाता था। कभी-कभी वह ताम्रपत्र भी लिखता था[७]।

अपने दौरे में कभी-कभी राजा स्वयं अपने मुख से आज्ञाएँ देते थे। उनके वैयक्तिक सेक्रेटरी उनको उस समय लिपिबद्ध कर के राजधानी को भेजते थे।

---

१. सौ. इं. ए. रि.; १९१५ सं० १८५

२. परमार राज्य में एक ऐसी घटना का पता एपि०. इंडिका, २, पृ. १८२ से लगता है।

३. देखो राजतरंगिणी, ५. ३९७-८. सौ. इं. इं., भाग ३ पृ. १४२ में एक उदाहरण मिलता है जहाँ मूल आज्ञा के पश्चात् बारा साल के बाद ताम्रपट्ट बनाया गया था। मगर तत्कालीन अशांति से यह विलंब हुआ था इसलिए यह उदाहरण अपवादात्मक समझना चाहिये।

४. राजतरंगिणी ६. ३८.

५. एपि. इंडि., १४. पृ. १९३

६. इं. ऐं., ६ पृ. १९४

७. इं. ऐं., ११. पृ. ७

तमिल भाषा में इस सेक्रेटरी का नाम तिरुवायक्केल्वी (सा. इं. इं. २. पृ. १२५, २७३) था। इस शब्द का अर्थ था 'राजा के आदरणीय मुख से निकलने वाले शब्दों का सुननेवाला'। मंत्रिमंडल की सलाह से संमत हुई आज्ञाओं को लिखने वाले अधिकारी को तमिल में 'तिरुमंदिर ओलइ' कहते थे। इस पदवी का अर्थ अज्ञात है।

केन्द्रीय सरकार और शासनालय का एक प्रमुख कार्य प्रान्तीय, प्रादेशिक और स्थानीय शासन का निरीक्षण और नियंत्रण होता है। अब हमें यह देखना चाहिये कि प्राचीन भारत में इसकी क्या व्यवस्था थी।

कई ग्रंथकारों ने राजा और अन्य अधिकारियों को निरीक्षण के लिए दौरा करने की सलाह दी है। मनु का कथन है कि राजकर्मचारी स्वभावतः अत्याचारी और घूसखोर होते हैं अतः राजा का कर्तव्य है कि राज्य में भ्रमण करके प्रजा के दुःख-दर्द का ज्ञान प्राप्त करे[1]। शुक्र का कथन है कि प्रजा के दुःखों और राजा के प्रति उनकी भावनाओं का परिचय प्राप्त करने के लिए स्वयं राजा या अन्य उच्चाधिकारी वार्षिक दौरे का कार्यक्रम बनावें[2]। इन सलाहों पर राजा चलते भी थे क्योंकि दौरे के समय राजा के द्वारा की गयी अनेक घोषणाएँ या दिये गये दानपत्र प्राप्त हुए हैं।

प्रांतों की स्थिति से अवगत कराने के लिए केन्द्रीय सरकार के अपने चर या वृत्त-लेखक रहते थे[3]। ये लोग स्थानीय अधिकारियों से स्वतन्त्र अपना कार्य करते थे। इनके द्वारा प्रांतीय कर्मचारियों के विरुद्ध विवरण मिलने पर कर्मचारियों को राजधानी बुलाकर उनसे जवाब तलब किया जाता था। और सब सरकारों के समान प्राचीन भारतीय सरकारें भी अपने गुप्तचर दल (spies) रखतीं थीं, जिनका वर्णन अर्थशास्त्र (१. ११-१२) में आया है। कुछ चर विद्यार्थियों के वेश में कुछ व्यापारियों के वेश में व कुछ तपस्वियों के वेष में रहकर अपना-अपना काम गुप्त रूप से करते थे। स्त्रियों में काम करने के लिए भिक्षुणियाँ व नर्तकियाँ नियुक्त की जाती थीं। गुप्तचर जैसे अधिकारियों के बारे में रिपोर्ट भेजते थे, वैसे ही सामान्य जनता के बारे में भी। यदि रिपोर्ट गलत सिद्ध हो जाती, तो गुप्तचरों को दण्ड दिया जाता था। एक गुप्तचर को दूसरे

---

१. मनु ७, १२२-४; देखिये अर्थशास्त्र २; अध्याय ९।

२. १, ३७४-५

३. याज्ञ., १, ३३८-९। अर्थशास्त्र १; अध्याय ११-१२।

गुप्तचर प्रायः मालूम नहीं रहते थे । प्रायः जब एक गुप्तचर की रिपोर्ट दूसरे की रिपोर्ट से पुष्ट हो जाती थी, तब सरकार द्वारा कारवाई की जाती थी ।

बहुत से राज्यों में विशेष निरीक्षक नियुक्त करने की प्रथा थी । कर्णाटक में कलचुरि शासन में इस प्रकार के ५ अधिकारी नियुक्त किये जाते थे । इन्हें 'करणम्' कहते थे । इन्हे केन्द्रीय शासन की ५ ज्ञानेंद्रियाँ कहा गया है । उनका काम यह देखना था कि सार्वजनिक धन का दुरुपयोग न हो, न्याय की व्यवस्था ठीक हो और राजद्रोहियों और उपद्रवियों को तुरन्त दण्ड मिले[1] ।

चोल-राज्य में स्थानीय संस्थाओं और देवालयों का हिसाब-किताब जाँचने के लिए प्रतिवर्ष केन्द्रीय शासनालय से विशेष कर्मचारी भेजे जाते थे । प्रतिहार-राज्य के एक लेख से ज्ञात होता है कि राजा के आदेश पर कुछ विषयों की जाँच के लिए ऐसा एक अधिकारी उज्जयिनी गया था[2] । अन्य राज्यों में भी कलचुरि, प्रतिहार और चोल शासन के अनुसार ही प्रथा रही होगी।

स्थानीय कर्मचारियों को केन्द्रीय शासन की आज्ञाओं की सूचना देने के लिए केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा विशेष संवाददाता भेजे जाते थे । यह काम जिम्मेदारी का था और उच्चपदस्थ अधिकारियों को ही सौंपा जाता था । दक्षिण के वाकाटक लेखों में राजसंदेश-वाहकों को 'कुलपुत्र' (ऊँचे घराने के) कहा गया है[3] । पल्लव लेखों में इन्हें 'महाप्रधान (मंत्री) के संदेशवाहक' बताया गया है[4] । आसाम से प्राप्त एक लेख में इस श्रेणी का अधिकारी बड़े गर्व से कहता है कि मैं सैकड़ों राजाज्ञाओं का वहन कर चुका हूँ[5] ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्रीय सरकार और कार्यालय किस प्रकार प्रांतीय और स्थानीय शासन के निरीक्षण और नियंत्रण की व्यवस्था करते थे ।

अब हमें विभिन्न विभागों, उनके अधिकारियों और कार्य्यों पर विचार करना है । विभागों के प्रधान अधिकारियों को मौर्य्यकाल में अध्यक्ष और शक शासन में कर्मसचिव कहते थे । आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में इनका

१. ए. क. भाग ७, शिकारपुर सं. १०२ और १२३
२. एपि. इ्ंडि., १४ पृ. १८२-८
३. एपि. इ्ंडि, २२ पृ. १६७.
४. इ्ं ऐं., ५ पृ. १५५
५. एपि. इ्ंडि., ११ पृ. १०७

उल्लेख बड़े ही अस्पष्ट रूप में किया गया है[1] । हाँ अर्थशास्त्र में इस विषय का विस्तृत विवरण है और इसकी पुष्टि उत्कीर्ण लेखों से भी होती है ।

आधुनिक शासन-व्यवस्था में विभागाध्यक्ष और विभाग-मंत्री पृथक् होते हैं । इसका कारण यह है कि आधुनिक मंत्री प्रायः जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिष्ठित नेता होते हैं । पर प्राचीनकाल में यह स्थिति न थी, और अधिकांश देशों में विभागका अध्यक्ष ही मंत्री होता था । प्राचीन भारत में अक्सर मंत्री सेनापति का भी पद प्राप्त कर लेते थे । प्रथम कुमारगुप्त के राज्य में पृथ्वीषेण साधारण मंत्री के पद से उन्नति करके सेनापति के पद पर पहुँचे थे[2] । साधारणतः न्यायमंत्री और प्रधानन्यायाधीश, तथा युद्धमंत्री और प्रधानसेनापति एक ही व्यक्ति हुआ करता था ।

प्रारंभिककाल में और छोटे राज्यों में विभागों की संख्या बहुत अधिक न थी । विष्णुस्मृति में, खान, चुंगी, नौका (ferry) और हाथी, केवल इन्हीं चार विभागों का उल्लेख है[3] । प्रागैतिहासिक कश्मीर राज्य में केवल ७ विभाग थे, अशोक के पुत्र जलौक ने इनकी संख्या बढ़ाकर १८ कर दी थी । लगभग नवम शताब्दी बाद ललितादित्य ने इनकी संख्या २३ कर दी[4] । रामायण और महाभारत में १८ विभागों या 'तीर्थों' का ही उल्लेख बराबर किया गया है,[5] पर इनके नाम नहीं दिये गये हैं । टीकाकारों ने ये नाम दिये हैं मगर उनकी टीकाएँ ग्रंथ-रचना के सैकड़ों वर्ष बाद लिखे जाने के कारण उनके विधान संपूर्णतया विश्वसनीय न होंगे । अर्थशास्त्र में भी विभागों की इस परंपरागत संख्या का उल्लेख है[6], पर इसमें ५-६ अधिक विभाग भी जोड़े गये हैं । शुक्र के अनुसार विभागों की संख्या २० जान पड़ती है[7] ।

उत्कीर्ण लेखों से कुछ और विभागों का पता चलता है जिनका उल्लेख स्मृति या नीतिकारों ने नहीं किया है । अब इन विभागों को आधुनिक वर्गीकरण के क्रम से नीचे दिया जायगा ।

---

१. मनु, ७-८१, याज्ञ. १-३२२ ।
२. एपि. इंडिका, १० पृ. ७१ ।
३. ३, १६ ।
४. राज. १—११८-२०, ४-१४१ और आगे ।
५. रामायण २, १००, ३६ । महा. भा. ४, ५, ३८
६. १. अध्याय ८ ।
७. २, ११७ ।

भारतवर्ष में अधिकतर नृपतंत्र ही प्रचलित था इसलिए राजमहल-विभाग का उल्लेख सबसे पहले करना अनुचित न होगा। महल और उसका अहाता एक विश्वासपात्र अधिकारी के जिम्मे रहता था जिसे बंगाल में 'आवसथिक' कहा जाता था[१]। शुक्रनीति में उसके पद का नाम 'सौधगेहाधिप' कहा गया था[२]। राजमहल और शिविर में आवागमन का नियंत्रण 'द्वारपाल' नामक अधिकारी बड़ी सतर्कता से करता था। इस काम के लिए 'मुद्राधिप' नामक अधिकारी से अनुमति-पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी। राजा के सम्मुख दूतों और मिलने वालों को पेश करने का काम 'प्रतीहार' या 'महाप्रतिहार' का था। राजा का एक अंगरक्षक-दल[३] होता था जिसे-कहीं-कहीं 'शिरोरक्षक'[४] भी कहा गया है। इस दल का नायक चालुक्य-काल में 'अंगनिगूहक' कहा जाता था[५]। महल का संपूर्ण अंतर्गत प्रबन्ध 'संभारप' के जिम्मे होता था। राजा के खजाने, पाकशाला, संग्रहालय और चिड़िया और जानवरखाना[६] (menagerie) के प्रबंधक इसी के अधीन होते थे। पाकशाला का प्रबन्ध बड़ी जिम्मेदारी का काम था, पाकाधिप को बराबर सतर्क रहना पड़ता था कि कहीं कोई विषप्रयोग द्वारा राजा के प्राणहरण की कुचेष्टा न करे।

आजकल की भाँति उस समय भी राजा के लिए राजवैद्य होता था। गहडवाल लेखों में इसका उल्लेख है[७]। शुक्रनीति में इसे संभवतः 'आरामाधिप' कहा गया है[८]। सन् ६०० ई० के बाद जब फल-ज्योतिष का प्रचार बढ़ा तब राज-सभा में राज-ज्योतिषी भी रखे जाने लगे, और युद्ध-यात्रा के पूर्व इनसे सलाह ली जाती थी। गहड़वाल, यादव, चाहमान और चालुक्य[९] लेखों में इनका उल्लेख मिलता है। बहुत प्राचीन काल से ही सभा में 'राज कवि'

१. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल (बंगाल का इतिहास) भाग १, पृ० २८४।
२. अध्याय २, ११९।
३. मजूमदार, हिस्ट्री ऑफ बंगाल, भा. १, पृ० २८५।
४. वही पृ० २८२।
५. भावनगर लेख, पृ० १५८।
६. शुक्र २-११७. पृ २०।
७. इं. एं., १८, पृ. १७।
८. २-११९।
९. इंडि. एंटि. १८ पृ. १७ और १९, पृ. २१८। एपि. इंडिका, १-पृ. २४३।

होते आते थे। संस्कृत के अधिकांश प्रख्यात कवि किसी न किसी राजसभा से संबद्ध थे। इसके अतिरिक्त राजा या सरकार द्वारा बहुत से पंडितों को कुछ न कुछ सहायता मिलती थी।

अंतःपुर का प्रबंध 'कंचुकिन्' के जिम्मे रहता था। यह अवस्था में वृद्ध और राजा का परम विश्वासपात्र होता था।

सेना-विभाग निःसंदेह सबसे महत्वपूर्ण विभाग था। अक्सर राज्य की आय का ५० प्रतिशत सेना पर खर्च कर दिया जाता था[१]। इस विभाग के अध्यक्ष के 'सेनापति', 'महासेनापति', महाबलाधिकृत[२] या महाप्रचंडदंड-नायक[३] आदि विभिन्न नाम विभिन्न राज्यों और काल में थे। इसके अधीन 'महाव्यूहपति' नामक अधिकारी काम करता था जो आजकल के (चीफ ऑफ दि जेनरल स्टाफ) के सदर फौजी दफ्तर के प्रधान की भाँति का अधिकारी था[४]। सेना की पदातिदल, अश्वदल, गजदल और रथदल ऐसी चार शाखाएँ होती थीं। इनके प्रधान अधिकारी क्रमशः पत्यध्यक्ष, अश्वपति (भटाश्वपति और महाश्वपति भी), हस्त्यध्यक्ष (गुप्तकाल में 'महापीलुपति') और रथाधि-पति[५] कहे जाते थे। 'अश्वपति' और 'रथाधिपति' के मातहत अश्वशालाधिकारी भी होते थे जिन्हें चाहमान-काल में राजस्थान में 'साहणीय' कहा जाता था[६]। गुप्तकालीन लेखों में अनेक बार उल्लिखित 'दंडनायक' आजकल के 'कर्नल' की कोटि के होते थे और विभिन्न प्रदेशों में तैनात सेना की टुकड़ियों के नायक होते थे[७]। आजकल जिस भाँति 'कामिसरियट' का प्रबंध करनेवाला 'क्वार्टर मास्टर जेनरल' होते हैं उसी भाँति प्राचीन भारत में भी सेना के लिए सामग्री

---

१. शुक्र १, ३१६-७. देखिये, आगे, अध्याय १२।
२. मध्य हिंदुस्थान के परिव्राजक राज्य में ५वीं सदी में देखिये, कॉ. इं. इं. ३, पृ. १०८
३. दक्षिण में यादव-राज्य में; इंडि. एंटि. १२ पृ. १२०।
४. हिस्टरी ऑफ बंगाल, भा. १ पृ. २८८
५. अर्थशास्त्र, भाग २; शुक्रनीति, १. ११७-२०; आ. स. रि., १९०३-४, पृ. १०७ और आगे. बारहवीं सदी के गाहड़वालों के राज्य में भी करीब करीब ये सब सेनाधिकारी होते थे।
६. ए. इंडि., ११ पृ. २९
७. आ. स. रि., १९११-२ पृ. १५२

जुटाने के लिए एक अधिकारी होता था और गुप्तकाल में इस विभाग को 'रणभाण्डागाराधिकरण' यह अन्वर्थक नाम दिया गया था[1]। इसके मातहत कई अफसर होते थे, जिनमें 'आयुधगाराध्यक्ष' भी था जो सेना के अस्त्रास्त्रों की देख-भाल करता था। सेना के लिए हाथी एकत्र करनेवाला अधिकारी भी इसी के अधीन काम करता था। राष्ट्रीय रक्षा-व्यवस्था में दुर्गों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। प्रत्येक दुर्ग 'कोटपाल' या 'दुर्गाध्यक्ष' नामक अधिकारी के जिम्मे रहता था। दुर्गों की व्यवस्था के निरीक्षण के लिए संभवतः राज्य की ओर से एक विशेष अधिकारी भी रहता था। सीमांत और उस ओर के मार्ग और दुर्गों की रक्षा 'द्वारपाल' करता था, जो अपने क्षेत्र के 'दुर्गपाल' से निकट संपर्क रखता था। बहुधा दोनों पद एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे, यथा प्रतिहार साम्राज्य में ग्वालियर दुर्ग का कोटपाल ही सीमांत का रक्षक 'मर्यादाधुर्य' भी था[2]।

१९वीं सदी में भारत की सेना प्रदेश के अनुसार संघटित की जाती और रखी जाती थी जैसे बंबई की सेना, मद्रास की सेना और उत्तर की सेना। रेल लाइन चालू होने के पहले इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक थी। प्राचीन भारत के बड़े-बड़े राज्यों में भी ऐसी ही व्यवस्था थी। प्रतिहार-साम्राज्य में राष्ट्रकूटोंपर ध्यान रखने के लिए एक दक्षिणी सेना थी, पालों को रोकने के लिए पूर्वी सेना और मुसलमानों का प्रतिरोध करने के लिए पश्चिमी सेना थी। राष्ट्रकूट राज्य में भी यही व्यवस्था थी[3]। मौर्य और गुप्त साम्राज्य में भी इसी प्रकार की व्यवस्था रही होगी यद्यपि इस संबंध में हमें कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं।

एक राष्ट्रकूट लेख में एक सैनिक अधिकारी के घोड़ों की शिक्षा के अद्भुत कौशल का बखान किया गया है[4]। यह स्पष्ट है कि सेना की विभिन्न शाखाओं को सामरिक शिक्षा देने के लिए विशेष विभाग था। 'मौल' अर्थात् आनुवंशिक सेना को शिक्षा देने की विशेष आवश्यकता न थी और यही सेना की सर्वोत्तम शाखा भी होती थी। युद्ध करना ही इनका वंशगत कार्य था और इन्हें गांव या जागीर के रूप में वृत्ति मिलती थी।

---

१. अ. स. रि., १९०३-४ पृ०. १. १०७ और आगे।
२. एपि. इंडि., १ पृ. १५४-६०
३. राष्ट्रकूटों का इतिहास (राष्ट्रकूटाज् एंड देअर टाइम्स) (पृ. २४७-८)
४. वही पृ. २५२

सैन्य के अपने खास गुप्तचर थे, जो प्रायः अश्वारूढ़ होकर शत्रु के देश में जाकर उसके सैन्य व उसकी संख्या व युद्ध की नीति के बारे में जो कुछ मालूम हो सके वह सब अपने सेनापति को विदित करते थे।

सेना में घायलों को उठानेवालों का भी दल रहता था। सेना के चिकित्सक और शुश्रूषक भी होते थे जो विविध औजारों, औषधों, मरहमों और पट्टियों से भलीभाँति लैस रहते थे। चिकित्सक-दल का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में बहुत ही कम मिलता है पर अर्थशास्त्र में[1] इसका वर्णन है और कश्मीर की सेना में भी यह विद्यमान था[2]। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में सेना के पशुचिकित्सकों का भी उल्लेख है।

चिकित्सक-दल की भाँति खनक और परिसारकों का (sappers and miners) दल भी आवश्यक था। कौटिल्य ने इसी प्रकार के एक विभाग का उल्लेख किया है (भा. १०—अध्याय ४) जिसका कार्य शिविरों, सड़कों, सेतुओं और कूपों का निर्माण और मरम्मत करना था। इसके भी अपने अध्यक्ष और अन्य अधिकारी रहे होंगे।

अब हम सैन्य के शस्त्रों के बारे में विचार करेंगे। धनुष्य-बाण, गदा, त्रिशूल, तलवार व भाला ऐसे शस्त्रों का उपयोग प्रायः किया जाता था। ग्यारहवीं सदी के सोमेश्वर ने यंत्रों से चलनेवाले शस्त्रों (यंत्रयुक्तायुध) का निर्देश किया है किन्तु उनका कैसा स्वरूप था, यह अभी तक मालूम नहीं हुआ है। आघात से जलनेवाले बाणों का उल्लेख बार-बार रामायण व महाभारत में आता है। शुक्रनीति के प्रक्षिप्त भाग में दारू, बंदूक व तोपों का उल्लेख आता है। बारूद के उपयोग का निस्संदेह उल्लेख विजयनगर के एक चौदहवीं सदी के शिला-लेख में आता है, वही सबसे प्राचीन है।

भारत के अधिकांश राज्य समुद्र से दूर थे और उन्हें केवल स्थलगामी शत्रु से ही काम पड़ता था, इसलिए नौसेना का उल्लेख स्मृतियों और उत्कीर्ण लेखो में बहुत ही कम मिलता है। पर मौर्य-राज्य में नौसेना थी जिसके प्रबंध के लिए एक अलग समिति थी। कालिदास ने[3] बंगाल के वंगो के नौशक्ति का उल्लेख किया है। पाल राजाओं के पास भी प्रबल नौसेना थी[4]। तामिल-

---

१. अर्थ.; १०. अध्याय ३; देखिये म. भा. १२-९५, १२।
२. राज. ८, ७४१।
३. रघुवंश ४-३६।
४. मजूमदार, बंगाल का इतिहास (हिस्ट्री ऑफ बंगाल)। भा १ पृ. २८६।

राज्य में बहुत प्राचीनकाल से ही नौसेना रहती थी जो पूर्व-पश्चिम के देशों के साथ होने वाले समुद्री व्यापार की रक्षा के लिए पर्याप्त थी। ११वीं सदी में चोल राजाओं ने अपने प्रबल नौसेना की सहायता से कई द्वीपों पर कब्जा किया था। पश्चिमी-भारत के शिलाहार-राज्य की भी नौसेना थी। पर नौसेना के संघटन और व्यवस्था के संबंध में हमें कुछ भी जानकारी नहीं मिलती।

परराष्ट्र विषय एक अलग मंत्री के जिम्मे था जिसे लेखो में 'महासंधि-विग्राहिक' और स्मृतियों में 'दूत' कहा गया है। साधारणतः इसे बहुत से सामंत और स्वतंत्र राज्यों से संबंध रखना पड़ता था अतः इसके मातहत कई अधिकारी होते थे। परराष्ट्र-विभाग में गुप्तचरों की भी टुकड़ी होती थी जो छद्म वेश में घूम-घूम कर भेद लगाया करते थे और अपने अध्यक्ष को सब हाल बताया करते थे। इसी विभाग के अंतर्गत 'महामुद्राध्यक्ष' का भी विभाग था जो राज्य में प्रवेश के लिए विदेशियों को अनुमति-पत्र देता था और इसके अधिकारी पाटलिपुत्र आदि प्रमुख नगरों में रहने वाले विदेशियों की गतिविधि पर नजर रखते थे।

माल-विभाग भी एक मंत्री के जिम्मे था और इसके मातहत भी बहुत से अध्यक्ष थे। सरकारी खेतों की व्यवस्था 'सीताध्यक्ष' के जिम्मे थी, जिसका काम इसमें मजदूरों और पट्टेदारों और इजारेदारो द्वारा खेती कराना था[१]। राज्य के जंगल भी एक अधिकारी के सिपुर्द थे, इसे पल्लव लेखों में 'आरण्याधिकृत'[२] और स्मृतियों में 'आरण्याध्यक्ष' कहा गया है, इसका काम जंगलों से होने वाली आय को बढ़ाना था। गोध्यक्ष[३], जिसके जिम्मे राजकीय गौओं-भैंसों और हाथियों के झुंड रहते थे, आरण्याध्यक्ष से मिलकर कार्य करते थे, क्योंकि इन पशुओं के चरने के लिए जंगल में ही भूमि सुरक्षित की जाती थी। प्रागैतिहासिक-काल में तो पशुधन ही राज्य का प्रमुख धन था, ऐतिहासिककाल में भी इसकी एकदम उपेक्षा न की जाती थी। १२वीं सदी तक परमार और गहड़वाल लेखों में 'गोकुलिक' का उल्लेख मिलता है[४]। परती या ऊसर भूमि के लिए भी एक अधिकारी 'विवीताध्यक्ष'[५] रहता था। इसका काम इस प्रकार की भूमि को

---

१. अर्थशास्त्र २. अध्याय २४।
२. एपि. इंडिका, १ पृ. ७।
३. वही ,, पृ. २९।
४. एपि. इंडिका, १९ पृ. ७१; १४ पृ. १९३।
५. अर्थशास्त्र २, अध्याय ३४।

सुधारना और बेचना तथा अवांछनीय लोगों का उस पर रहने से और अपने षड्यंत्र वहाँ चलाने से रोकना था। भूमि संबंधी कागज-पत्रों को रखने का काम 'महाक्षपटलिक' का था, जो खेतों और उनकी सीमाओं का ठीक-ठीक विवरण रखता था, और राज्यकर-विभाग के मातहत काम करता था। इस अधिकारी के नीचे काम करनेवाले कई अधिकार थे, ये बिहार में 'सीमाकर्मकर'[१] बंगाल में 'प्रमातृ'[२] और आसाम में 'सीमाप्रदाता'[३] कहे जाते थे। भूमिकर ही राज्य[४] की आय का मुख्य साधन था, इसे वसूल करने वाले कर्मचारी कहीं 'षष्ठाधिकृत' और कहीं 'औद्रंगिक'[५] कहे जाते थे। यह कर वास्तविक उपज के अंश रूप में अर्थात् अन्न या सामग्री रूप में लिया जाता था इसलिए इसकी वसूली की देख-रेख के लिए कर्मचारियों की एक पूरी सेना की आवश्यकता पड़ती थी। गुजरात में इन्हें 'ध्रुव'[६] कहा जाता था। कुछ कर नकद मुद्राओं में लिया जाता था, इसे एकत्र करने वाले कर्मचारी बंगाल में हिरण्यसामुदायिक' कहे जाते थे।

जहाँ माल-विभाग का कार्य समाप्त होता था वहीं कोष-विभाग का कार्य आरंभ होता था। प्राचीन भारत में इस विभाग का कार्य बड़े झंझट का था। इनका काम केवल हिसाब-किताब करना और चाँदी-सोने को सुरक्षित रखना नहीं था। राज्य को कर के रूप में अन्न, ईंधन, तेल आदि सामग्रियाँ मिलती थीं। इन्हें ठीक से रखना पड़ता था और पुरानी सामग्री बेचकर नयी रखनी पड़ती थी। इस विभाग का प्रधान 'कोषाध्यक्ष'[७] कहा जाता था और इसके मातहत अनेक अधिकारी काम करते थे। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी अन्न की खत्तियों का निरीक्षक कोष्ठागाराध्यक्ष[८] था।

१. कॉ इं. इं. भाग. ३ पृ. २१६
२. बंगाल का इतिहास पृ. २८६।
३. एपि. इंडि ९ पृ. १०७।
४. बंगाल का इतिहास पृ. २७८।
५. बंगाल का इतिहास पृ. २८४।
६. कॉ. इं. इं., भाग ३, पृ. १६८।
७. शुक्रनीति में इसे वित्ताधिप कहा गया है (२-११८)।
८. अर्थशास्त्र २, अध्याय ३४। शुक्रनीति में (२-११७, १२०) इसे धान्याध्यक्ष और लेखों में 'भांडागाराधिकृत' कहा गया है (एपि. इंडिका, १९. पृ. १०७)।

प्राचीन भारत में सभी राज्य अपना कोष भरा-पूरा रखने में विश्वास रखते थे, इसीलिए प्रतिवर्ष आय का एक बड़ा अंश स्थायी कोष या सुरक्षित मद में डाल दिया जाता था। फलतः राज्य-कोष में सोना, चाँदी और रत्नों की बड़ी राशि संचित रहती थी।

आयव्यय-विभाग (फायनान्स) के अधिकारियों का उल्लेख स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों में बहुत कम मिलता है। महाभारत के टीकाकार ने इन्हें 'व्ययाधिकारी' या 'कृत्याकृत्येषु अर्थनियोजक'[1] कह कर निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आय-व्यय विभाग का कार्य राजा, प्रधान-मंत्री और दानाधिपति मिलकर करते थे। परन्तु चालुक्य-राज्य में इसके लिए अलग अधिकारी 'व्ययकरण-महामात्य' होता था[2]।

प्राचीन भारत के राज्य उद्योग और व्यवस्था के क्षेत्र में भी बड़े सक्रिय रहते थे; इस विषय की देखरेख करने वाले विभाग में बहुत से कर्मचारी रहते थे। देश का सबसे बड़ा उद्योग वस्त्र-उत्पादन था और राज्य के अपने वस्त्र बुनने के कारखाने थे जिनका उद्देश्य गरीबों की मदद और राज्य की आय बढ़ाना दोनों था। इस विभाग द्वारा दीन-दुर्बल लोगों के घर रुई भेजी जाती थी और उनसे निश्चित पारिश्रमिक देकर सूत कतवाया जाता था[3]। इनके अतिरिक्त और भी मजदूर कारखानों में अवश्य काम करते थे। इस विभाग के अधिकारी अर्थशास्त्र में सूत्राध्यक्ष और शुक्रनीति में (२. ११६) वस्त्राध्यक्ष कहे गये हैं। सुराध्यक्ष के निरीक्षण में सरकार के मदिरा बनाने के भी कारखाने थे[4]। निश्चित शुल्क देने पर नागरिकों को भी सुरा बनाने की अनुमति थी। इस विभाग के अधिकारी सुरापान या विक्रय का समय निर्धारित करते थे और इसकी देखरेख रखते थे कि सुरालयों में बेईमानी या टंटा न होने पावे। गणिकाध्यक्षों द्वारा सरकार वेश्यावृत्ति का भी नियंत्रण करने की चेष्टा करती थी[5]। वेश्याओं को अपने यहाँ आने-जाने वाले लोगों के बारे में पूरा ब्योरा देना पड़ता था, जिससे पुलिस-विभाग को अपराधों की जाँच में भी सहायता मिलती थी। वेश्याओं से गुप्तचरों का

---

१. २, ५, ३८
२. ज. बॉ. ब्रॅ. रॉ. ए. सो. २५-३२२
३. अर्थशास्त्र २, अध्याय २३
४. वही २—अध्याय २५
५. एपि. इंडिका, ६ पृ. १०२।

कार्य भी लिया जाता था और उन्हें इस कार्य के लिए अन्य राज्यों में भी भेजा जाता था। बहुधा सामंतगण प्रभुराज्य की गणिकाओं को अपनी सभाओं में स्थान देने पर बाध्य होते थे। बड़े नगरों में सरकार के कसाईखाने भी होते थे जहाँ शुल्क देकर जानवर कटाये जा सकते थे। गाय, बैल और बछड़ों के वध का पूर्ण निषेध था। इस संबंध की व्यवस्था सूनाध्यक्ष के हाथ में रहती थी। उनका काम राजकीय वनों में अन्य लोगों को आखेट से रोकना भी था[1]।

राज्य की सब खानों पर सरकार का ही स्वामित्व होता था। इसके लिए भी एक विभाग था जिसमें भूस्तरशास्त्रज्ञ (geologists) रखे जाते थे जो खान आदि का पता लगाया करते थे। सरकार कुछ खानों को स्वयं खुदवाती थी और कुछ का अधिकार व्यवसायियों को दे देती थी, जिन्हें खान से निकलनेवाले पदार्थ का एक निश्चित अंश सरकार को देना पड़ता था[2]। बारहवीं सदी में गहड़वाल राज्य में भी यह विभाग विद्यमान था[3]।

मोती, जेवर इत्यादि जिन वस्तुओं के व्यापार से विशेष धनलाभ होता था वे सरकार के अधीन रहनी चाहिए, ऐसा कौटिल्य का मत था। नमक, मद्य, कपड़ा इत्यादि के व्यापार पर सरकारी नियंत्रण था। जो उद्योगधंधे व्यापारियों द्वारा चलाये जाते थे, उन पर भी सरकार काफी नियंत्रण रखती थी, जिसमें कि जनता को योग्य कीमत पर माल मिले।

कभी-कभी सोने-चाँदी का सामान बनाने के लिए स्वर्णकारों को सरकार से अनुमति-पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी। सरकारी मुद्रा बनाने का ठेका भी स्वर्णकारों को दिया जाता था। इस विभाग का प्रधान 'सुवर्णाध्यक्ष' कहा जाता था[4]।

वाणिज्य-विभाग में भी बहुत से कर्मचारी रहते थे। प्रथमतः बाजार राजकर्मचारियों के निरीक्षण में रहते थे जिन्हें अर्थशास्त्र में पण्याध्यक्ष[5], बंगाल में हट्टपति, और काठियावाड़ में द्रांगिक कहा जाता था। इनका काम राज्य की

---

१. अर्थशास्त्र २ अध्याय २६

२. अर्थशास्त्र २, अध्याय १२।

३. एपि. इंडिका, १४ पृ. १९३

४. अर्थशास्त्र २—अध्याय १३। बंगाल का इतिहास, पृ. २८२। एपि. इंडि. १३ पृ. २३९।

५. अर्थ. २—अध्याय १६।

सामग्री को लाभ पर बेचने की व्यवस्था करना और स्थानीय जनता के उपभोग की सामग्री बाहर से आयात और उचित दाम पर विक्रय का प्रबंध करना और स्थानीय उत्पादित सामग्री को मुनाफे पर बाहर निर्यात करने की व्यवस्था करना था। ये लोग वस्तुओं का मूल्य भी निर्धारित करते थे और अनुचित संचय और मुनाफाखोरी को रोकते थे।

इस विभाग द्वारा चुंगी वसूल करने के लिए शुल्काध्यक्ष भी नियुक्त किये जाते थे[1]। इनका दफ्तर नगर के फाटकों पर रहता था, जहाँ नगर में विक्रयार्थ जानेवाली सब वस्तुओं पर चुंगी निर्धारित की जाती थी। कभी-कभी इसी स्थान पर विक्रय भी होता था। शुल्काध्यक्ष को चुंगी का चरका देनेवाले व्यापारियों को दण्ड देने का पूरा अधिकार दिया जाता था। माप और तौल की देख-रेख के लिए भी अधिकारी नियुक्त थे। ये तौल में काम आने वाले बटखरों की परीक्षा करके उन पर मुहर या छाप लगा देते थे[2]। संभवतः छोटे नगरों में बाजार, चुंगी और मापतौल आदि का निरीक्षण एक ही व्यक्ति करता रहा हा। ग्रामों में ये कार्य संभवतः मुखिया करता था।

अब हमें न्याय विभाग की व्यवस्था पर विचार करना है। राजा ही सर्वोच्च न्यायाधिकारी था और अपने सामने उपस्थित किये गये अभियोग या अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सब प्रकार के मुकदमों का विचार करने की उससे आशा की जाती थी। राजा यथासंभव स्वयं न्यायदान करता था पर कार्याधिक्य होने पर 'प्राड्विवाक' या प्रधानन्यायाधीश उसका कार्य सँभालते थे। सरकार की नीति न्याय-व्यवस्था के विकेंद्रीकरण की थी और ग्राम तथा नगर पंचायत को सब स्थानीय व्यवहार (दीवानी मुकदमे) का विचार और निर्णय करने का भार सौंपा जाता था। कोई भी अर्थी प्रारंभ में सीधे सरकारी न्यायालय में अभियोग उपस्थित न करने पाता था। इससे सरकारी न्यायालयों का काम बहुत हलका हो जाता था। इसीलिए उत्कीर्ण लेखों में सरकारी न्यायालय का उल्लेख यदा-कदा ही मिलता है। पर बड़े-बड़े नगरों और पुरों में सरकारी न्यायालय रहते थे और नारद[3] तथा बृहस्पति दोनों इनका उल्लेख करते हैं।

---

१. वही २—अध्याय २१। पाल और परमार लेखों में इन्हें 'शौल्किक' कहा गया है। एपि. इंडि. १३ पृ. ७१।

२. वही २—अध्याय ९।

३. २६–३१।

गुप्तकाल में इन्हें 'धर्मासनाधिकरण'[1] कहा जाता था और ये केवल बड़े-बड़े नगरों में ही स्थित होते थे। न्यायाधीश 'धर्माध्यक्ष' या 'न्यायकरणिक' कहे जाते थे। चंदेल लेखों में 'धर्म-लेखी' का उल्लेख हुआ है पर यह ठीक पता नहीं कि ये न्यायाधीश थे या अभियोग लिखने वाले वकील।

प्रधानन्यायाधीश को स्मृतियों का पूरा ज्ञान होना आवश्यक था अतः कभी-कभी धर्मशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण पुरोहित ही इस पद पर प्रतिष्ठित कर दिये जाते थे। सन् १००३ में चंदेल राजा धँग के शासन में ऐसा ही किया गया था[2]। छोटे-मोटे फौजदारी के मामले स्थानीय पंचायतों में ही निपटाये जाते थे पर बड़े मुकदमे सरकारी न्यायालय में ही निर्णीत होते थे। फौजदारी अदालत के न्यायाधीश संभवतः 'दंडाध्यक्ष' कहे जाते थे। एक बात आश्चर्य की है कि स्मृतियों और लेखों में कारागृह के अधिकारियों का उल्लेख अत्यन्त दुर्लभ है। इसका कारण संभवतः यह था कि कारावास की सजा बहुत ही कम दी जाती थी। साधारणतः जुर्माने ही किये जाते थे। जुर्माना वसूल करने वाले कर्मचारियों को राजाओं के लेखों में 'दशापराधिक' नाम दिया गया है[3]।

पुलिस-विभाग के कर्मचारियों का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में 'चोरोद्धरणिक' (चोर पकड़नेवाले) और 'दंडपाशिक' (चोरों को पकड़ने का फंदा धारण करनेवाले) नामों से किया गया है। पाल, परमार और प्रतीहार लेखों में यही नाम मिलता है[4]। इस विभाग के उच्च अधिकारियों का उल्लेख उत्कीर्ण लेखों में नहीं मिलता, संभवतः इनका काम राज्य के विभिन्न भागों में तैनात सैनिक अधिकारी करते थे। हमें यह न भूलना चाहिये कि उस समय चोरियाँ बहुत कम होती थीं। केवल साहसिक व्यक्ति ही डकैती या पशु और संपत्ति अपहरण करने का दुःसाहस करते थे और इनका दमन सेना की सहायता से ही हो सकता था। ग्राम का मुखिया ही गाँव का प्रधान पुलिस-अधिकारी होता था

---

१. अ. स. रि., १९१३-४, पृ. १०७ और आगे।

२. एपि. इंडि., १ प. १४० और आगे।

३. हिस्टरी ऑफ बंगाल, (बंगाल का इतिहास), भा. १ पृ. २८५।

४. वही पृ. २८५। एपि इंडिका १९. पृ. ७३; वही, ९. पृ. ६। कहीं-कहीं ये दंडोद्धारणिक भी कहे जाते थे।

और ग्रामीण स्वयंसेवक सैनिक दल उसी के अधीन रहता था। स्थानीय अधिकारियों के डकैतों के दमन में असमर्थ होने पर राजकीय दंडपाशिक और सैनिक अधिकारी भेजे जाते थे। ग्राम और नगरवासियों को इनके भोजन और निवास की व्यवस्था करनी पड़ती थी। 'अग्रहार' भोगने वाले इस भार से मुक्त होते थे। अंततोगत्वा चोर द्वारा अपहृत धन की हानि सरकार को ही भरनी पड़ती थी। मगर वह इस जिम्मेदारी को दूसरे पर लादने की कोशिश करती थी—यदि ग्रामवासी यह न सिद्ध कर पाते थे कि चोर ग्राम से निकल गये तो सरकार उन्हें हरजाना देने को बाध्य करती थी। यदि यह सिद्ध हो जाता था कि चोर किसी दूसरे ग्राम में छिपे हैं तो उस ग्राम को हरजाना देना पड़ता था। यदि चोर उजाड़ या वन्य प्रांत में शरण लेते थे तो विवीताध्यक्ष और अरण्याध्यक्ष को उन्हें पकड़ना या हरजाना देना पड़ता था।

धर्म-विभाग या धार्मिक विषय पुरोहित और 'पंडितों'[1] के अधीन थे। प्राचीन भारत में राज्य धर्म और नीति का संरक्षक था और इस विषय की सारी कारवाई पुरोहित और पंडितों के निर्देशानुसार ही की जाती थीं। यदि कोई सामाजिक-धार्मिक प्रथा या रीति पुरानी पड़ जाती थी तो उसके पालन पर जोर नहीं दिया जाता था। यदि नये सुधार जरूरी समझे जाते थे तो विद्वान् ब्राह्मणों से नयी स्मृतियाँ, भाष्य या प्रबंध तैयार कराये जाते थे जिनमें नये-नये सुधारों का प्रतिपादन किया जाता था और इस प्रकार धीरे-धीरे नयी रीतियाँ जारी की जाती थीं।

इस विभाग के अधिकारी मौर्यकाल में 'धर्म-महामात्र' सातवाहनकाल में 'श्रवण-महामात्र', गुप्त शासन में 'विनयस्थितिस्थापक' और राष्ट्रकूटकाल में 'धर्मांकुश' कहे जाते थे। इनका काम सब धर्मों को समान रूप से प्रोत्साहन देना था; सरकार की ओरसे सहायता देते समय हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि का भेद-भाव प्रायः न रखा जाता था। धार्मिक कार्य के लिए राजकीय सहायता देने का कार्य जिस अधिकारी के जिम्मे था शुक्रनीति में उसे 'दानपति' का नाम दिया गया है। दान विद्वान् ब्राह्मणों बौद्ध विहारों और मठों तथा मन्दिरों को दिया जाता था जिसका उपयोग वे शिक्षालय, चिकित्सालय और अनाथालय आदि चलाने में भी करते थे। अतः धार्मिक कार्य के लिए जो दान दिया जाता था उसका बहुत बड़ा भाग वास्तव में शिक्षा, चिकित्सा और गरीबों की सहायतार्थ ही होता

1. यह एक मन्त्री का नाम है।

था। सन् ६०० ई० से मठ, मन्दिर और विद्वान् ब्राह्मणों को दान किये गये गाँवों की संख्या काफी बढ़ गयी थी। क्योंकि इनकी व्यवस्था के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त होने लगे थे, जिन्हें गुप्त और पाल कालीन लेखों में 'अग्रहारिक' कहा गया है[१]। इनका काम यह देखना था कि दान पानेवालों को दान भोगने में कोई बाधा नहीं होती। यदि राजनीतिक उथल-पुथल के कारण दान पाने वाले अपने अधिकार से वंचित हो गये हों तो उन्हें पुनः कब्जा दिलाया जाता था[२]। दान के समय अक्सर कुछ शर्तें भी लगायी जाती थी। कहीं-कहीं यह शर्त लगायी जाती थी कि दानका उपयोग तभी तक हो जब तक पानेवाले के उत्तराधिकारी विद्वान् और सदाचारी हों। अग्रहारिक अधिकारी इन शर्तों को कार्यान्वित करने की ओर ध्यान रखता था। कभी-कभी ब्राह्मण जाली दानपत्र भी बना लेते थे; अग्रहारिक का काम इनका पता लगाना और दंड देना था[३]। दक्षिण भारत के चोल-राज्य में यह देखने के लिए विशेष अधिकारी भेजे जाते थे कि देवोत्तर संपत्ति का उचित उपयोग हो रहा है या नहीं।

अस्तु; हमने विभिन्न विभागों और उनके कार्यों की समीक्षा कर ली। यह कहना ठीक न होगा कि ये सब विभाग छोटे-छोटे सामंत राज्यों में भी थे। पर प्राप्त प्रमाणों से प्रकट होता है कि औसत दर्जे के राज्यों में उपर्युक्त अधिकांश विभाग थे। अर्थशास्त्र के विवरणों की पुष्टि बहुत हद तक उत्कीर्ण लेखों से होती है।

विभिन्न उच्च अधिकारियों की तनखाह के बारे में अर्थशास्त्र से काफी ज्ञान मिलता है। युवराज, रानियाँ व सेनापति ऐसे महत्त्व के अधिकारी सालाना ४८,००० पण पाते थे, कोषाध्यक्ष, मालमन्त्री व प्रतीहारी २४,००० पण शेष

---

१. कॉ. इं इं, भाग ३ पृ. ४९, बंगाल का इतिहास पृ. २२४। अग्रहारिक का अर्थ दान लेनेवाला नहीं है क्योंकि विहार शिलालेख में (कॉ. इं. इं ३-४९) यह शब्द अधिकारियों की सूची में आया है।

२. प्रतीहार राज्य में ऐसी एक घटना हुई थी। एपि. इंडि. १५ प १५-१७। चाहमान के काल के लिए देखिये, एपि. इंडि. ११ पृ. ३०८।

३. गहड़वालकाल के इस प्रकार के जाली दानपत्र के लिए देखिये ज. ए. सो. बं., ६ पृ. ५४७-८।

मन्त्री १२,००० पण, अश्वाध्यक्ष, रक्षाध्यक्ष व हस्तिदलाध्यक्ष ८,००० पण तथा सैन्य के वैद्य व अश्वशिक्षक २,००० । किन्तु ये पण चाँदी के थे या पीतल के इसका ठीक पता नहीं है । इसलिए इन तनखाहों का यथार्थ मूल्य विदित नहीं होता । राज्य की आमदनी के अनुसार भी तनखाहों में जरूर फर्क रहता होगा । शुक्र के अनुसार एक लाख आमदनी के राज्य के सारे मंत्री मिलकर महीने में केवल ३०० पण पाते थे । ये पण चाँदी के थे, व एक पण ६ आने के बराबर था । सारे मंत्री मिलकर महीने में १२ रुपये भी न पाते थे । किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि राज्य की मासिक आमदनी भी ८,००० पण ही थी ।

अंत में हम इन विभागों के अधिकारियों की भर्ती के तरीके पर दृष्टिपात करेंगे । वाणिज्य, खान आदि बहुत से विभागों के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती थी और स्मृतियों में इस बात पर जोर दिया है कि उपयुक्त योग्यतावाले ही व्यक्ति पूरी जाँच के बाद इन पदों पर नियुक्त किये जायँ[1] । शुक्र ने तो यहाँ तक कहा है कि होनहार नवयुवकों को वृत्ति देकर इन पदों के उपयुक्त विशेष शिक्षा दी जाय[2] । साधारण पदों के लिए ऊँचे कुल और प्रभावशाली रिश्तेदारी की आजकल की भाँति उस समय भी पूछ रही होगी, पर बाद में उन्नति कर्मचारी की योग्यता और परिश्रम पर ही निर्भर थी ।

यह नहीं कहा जा सकता कि आजकल के अखिल भारतीय, प्रांतीय और मातहत आदि भेदों की भाँति उस समय के सरकारीकर्मचारियों में भी ऊँची-नीची श्रेणियाँ होती थीं या नहीं । संभव है कि आजकल के आय० ए० एस० की भाँति मौर्यकाल के 'महामात्र' और गुप्तकाल के 'कुमारामात्य' रहे हों; इस श्रेणी के कर्मचारी ही उस समय जिले या प्रादेशिक अधिकारी होते थे और कभी-कभी केंद्रीय शासनालय में उच्च पदों तथा कभी मन्त्रिपद पर भी पहुँच जाते थे । इस श्रेणी के सदस्य साधारणतः उच्च कुल के और कभी-कभी पुराने राजवंशों के सदस्य होते थे । मन्त्रिपद की भाँति ये पद भी बहुधा वंशानुगत या आनुवंशिक हो जाया करते थे ।

---

१. यो यद्वस्तु विजानाति तं तत्र विनियोजयेत् । कामंदक ५, ७६ ।

२. सर्वविद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद्भृतिपोषितान् ।
समाप्तविद्यं तं दृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ॥ १-३१७ ।

प्रांतीय (Provincial) और मातहत अधिकारी संभवतः स्थानीय व्यक्ति बनाये जाते थे। यातायात की सुविधा न होने के कारण संभवतः इनका तबादला भी बार-बार न होता था। इन अधिकारियों को नकद वेतन के बजाय प्रायः सरकारी जमीन और स्थानीय चुंगी की आय का कुछ भाग दिया जाता था, जिससे उनका पद स्वाभाविक ही वंशानुगत बन जाता था।

अध्याय १०

प्रांतीय, प्रादेशिक, जिला और नगर शासन-व्यवस्था

●

प्रांतीय, प्रादेशिक और जिला शासन-व्यवस्था का अध्ययन करने के पूर्व प्राचीनकाल के राज्यों के प्रादेशिक विभाजन की व्यवस्था समझ लेना आवश्यक है। इस विषय में सबसे पहली बात यह स्मरण रखनी चाहिये कि सर्वत्र एक सी व्यवस्था न थी। आजकल की भाँति प्राचीन भारत में भी कुछ जिले छोटे थे और कुछ बड़े। इसका कारण जनसंख्या और उत्पादनशक्ति की विभिन्नता और राजनीतिक परिस्थितियाँ दोनों थीं। यदि कोई छोटा सामंत-राज्य साम्राज्य में मिलाया जाता था तो एक छोटा जिला बन जाता था। दूसरी ओर नये-नये प्रदेश हस्तगत करते-करते सीमांत के जिले विस्तृत भी होते जाते थे। कभी-कभी किसी प्रदेश का महत्त्व बढ़ने पर आसपास के अनेक गाँव उसमें शामिल हो जाते थे, यथा महाराष्ट्र के कर्हाटक विषय (जिल) में सन् ७६८ ई० में चार हजार गाँव थे, पर १०५४ ई० में इनकी संख्या बढ़ कर दस हजार हो गयी थी।

पल्लव, वाकाटक, गहड़वाल आदि छोटे राज्यों में प्रादेशिक विभागों की बहुलता न होती थी। ये राज्य केवल जिलों में विभाजित रहते थे, जिसे राष्ट्र या विषय कहा जाता था[१]। पर मौर्यसाम्राज्य-जैसे बड़े राज्य का प्रादेशिक विभाजन प्रायः आधुनिक काल के भारत के समान ही था। मौर्यसाम्राज्य भी अनेक प्रांतों में विभाजित था जो विस्तार में आधुनिक भारतीय प्रांतों के बराबर थे। प्रांत प्रदेश में विभाजित थे, जिनके शासक आजकल के डिवीजनल कमिश्नर की भाँति लाखों व्यक्तियों पर शासन करते थे। प्रदेश जिलों या विषयों में, और विषय भुक्तियों पेठों या पाठकों में विभाजित थे। ये भी १० से लेकर ४० ग्रामों तक के समूहों में बाँटे जाते थे।

प्राचीन भारत का इतिहास कई सदियों तक चला जाता है अतः प्रादेशिक विभागों के नामों में विभिन्नता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यथा मध्य

---

१. यथा एपि. इंडिका २४ पृ. २६०; १५ पृ. २५७; और ९ पृ. ३०४।

प्रांत और दक्षिण में भुक्तियाँ आधुनिक तालुका या तहसीलों से भी छोटी होती थीं, पर उत्तरभारत में गुप्त और प्रतीहार शासन में यही भुक्तियाँ आधुनिक कमिश्नरियों के बराबर होती थीं। यथा राष्ट्रकूट राज्य में[1] महाराष्ट्र में प्रतिष्ठानक भुक्ति में केवल १२ और कोप्पारक-भुक्ति में ५० ग्राम थे, जब कि गुप्तसाम्राज्य के बंगाल की पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में आधुनिक दीनाजपुर, बोगरा और राजशाही के जिले और बिहार की मगध भुक्ति में गया और पाटलिपुत्र जिले सम्मिलित थे[2]। प्रतीहार राज्य की श्रावस्ती भुक्ति में वर्तमान युक्तप्रांत के कई जिले शामिल थे। राष्ट्र का अर्थ साहित्य में प्रायः राज्य होता है पर राष्ट्रकूट शासन[3] में यह एक कमिश्नरी का बोधक था। पर दक्षिण में पल्लव, कदंब और सालंक्यायन राज्यों में राष्ट्र का अर्थ तहसील या अधिक से अधिक जिला था[4]। इन नामों का प्रयोग भी निश्चित अर्थ में न होता था। जैसे एक राष्ट्रकूट लेख में नासिक को एक बार विषय का नाम दिया गया और केवल २६ वर्ष बाद के दूसरे लेख में इसी को देश[5] कहा गया। अतः केवल नाम से ही विस्तार का निश्चित अनुमान करना ठीक नहीं।

प्रांतीय शासन

आजकल के अर्थ में प्रांतीय शासन-व्यवस्था केवल बड़े राज्यों में ही पायी जाती थी। मौर्य साम्राज्य कई प्रांतों में विभाजित था। उनमें से पाँच उत्तरापथ, अवंतिराष्ट्र, दक्षिणापथ, कलिंग और प्राच्य तथा उनकी राजधानी तक्षशिला, उज्जयिनी सुवर्णगिरि, तोसली और पाटलिपुत्र के नाम हमें विदित हैं। संभव है कि उत्तरापथ और दक्षिणापथ स्वयं कई प्रांतों में विभाजित रहे हों। शुंग राज्य के प्रारम्भ में मालवा का पद एक प्रांत के बराबर था। कण्व राज्य संभवतः इतना बड़ा न था कि उसे प्रांतों में विभाजन की आवश्यकता पड़े। सातवाहन साम्राज्य पूरे दक्षिण में फैला हुआ था पर इसके प्रांतीय शासन-व्यवस्था के बारे में हमें कुछ ज्ञात नहीं। कनिष्क साम्राज्य में बनारस, मथुरा, और उज्जयिनी के महाक्षत्रप अवश्य ही प्रांतीय शासक का पद रखते

---

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. १३७, तथा एपि. इंडिका २५, पृ. २६५

२ एपि. इंडि., १५ पृ. १२९ से आगे।

३ राष्ट्रकूटों का इति. पृ. १३६।

४ एपि. इंडि. १५ पृ. २५७ ; १६ पृ. २७१ ; इंडि, एंटि. ५ पृ. १७५।

५ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १३७।

थे। गुप्त साम्राज्य में काठियावाड़, मालवा और गुजरात के प्रदेश प्रांतों का पद रखते थे। राष्ट्रकूटराज्य के मूल प्रदेश तो प्रांतों में नहीं विभाजित थे, पर बाद में जीते हुए गुजरात, बनवासी और गंगवाड़ी प्रदेशों में प्रांतीय शासक नियुक्त किये गये थे। प्रतीहारराज्य की भुक्तियाँ प्रांत नहीं कमिश्नरियाँ थीं। पाल, परमार, चालुक्य, चंदेल, गहड़वाल और चोल राज्य अपेक्षाकृत छोटे थे। इनमें से कुछ बड़े जैसे, चोलराज्य में दो प्रकार के विभाग थे; मंडल जो आजकल के दो-तीन जिलों के बराबर थे और दूसरे नाडू, जो प्रायः आधुनिक दो तहसीलों के बराबर थे। छोटे राज्य जिले और तहसीलों में ही विभाजित थे।

प्रांतीय शासक बड़े ऊँचे पद के अधिकारी होते थे। बहुधा राजवंश के कुमार ही इन पदों पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। यथा, मौर्यसाम्राज्य में विंदुसार, अशोक और कुणाल सब प्रांतीय शासकों के पद पर कार्य कर चुके थे। शुंग शासन में युवराज अग्निमित्र मालवा प्रांत के प्रांताधिकारी थे। गुप्तकाल में सन् ४३५ ई० में इसी मालवा प्रांत में गुप्त राजकुमार घटोत्कच-गुप्त प्रांतीय शासक पद पर स्थित था। चालुक्य और राष्ट्रकूट शासन में गुजरात प्रांत में राजवंश के कुमार ही शासक बनाकर भेजे गये और बाद में इन्होंने इस प्रांत में प्रायः स्वतंत्र राज्य स्थापित किये। सन् ७६० ई० में राष्ट्रकूटराज्य के गंगवाडी प्रांत में सम्राट का ज्येष्ठ पुत्र शासक पद पर नियुक्त था। राजकुमारों के न रहने पर प्रांतीय शासक का पद राज्य के सबसे ऊँचे और अनुभवी अधिकारियों को दिया जाता था जो बहुधा प्रख्यात सेनानायक भी होते थे। यथा कुषाणराज्य में 'दक्षिण' प्रांत के शासक नहपाण और चष्टन कुशल सेनापति थे; इसी प्रकार राष्ट्रकूट सम्राट् प्रथम अमोघवर्ष का बनवासी प्रांत का शासक बंकेय भी था। सैनिक योग्यता मंत्रिपद के ही लिए नहीं वरन् प्रांतीय शासक पद के लिए भी महत्वपूर्ण समझी जाती थी। प्रांतीय शासकों के अधिकार विस्तृत और उच्च थे। उनका काम अपने प्रांत में पूर्ण शांति बनाये रखना तथा साम्राज्य को सीमावर्ती राज्यों के आक्रमणों से सुरक्षित रखना था। इसलिए सैन्यसंचालन की योग्यता उनके लिए अनिवार्य थी।

बहुधा राजकुमार होने के नाते प्रांतीय शासकों के भी अपने मंत्री और राजसभा रहती थी। तक्षशिला की जनता ने प्रांतीय मंत्रियों के अत्याचारों से ही पीड़ित होकर विद्रोह किया था[१]। मालवा के शुंग शासक अग्निमित्र का अपना

१. दिव्यावदान पृ. ३७१।

मंत्रिमंडल था[१]। इसी प्रकार राष्ट्रकूट और यादव राज्य के प्रांतीय शासकों के भी थे। इन शासकों को महासामंत का पद प्रदान किया गया था, जो करद राजा के समकक्ष था[२]। ये शासक साम्राज्य की साधारण नीति का ही अवलंबन करते थे जिसका निर्देश समय-समय पर विशेष संवाद-वाहकों अथवा राजा द्वारा किया जाता था। फिर भी यातायात की कठिनाई के कारण इन्हें पर्याप्त शासन-स्वतंत्रता रहती थी। कभी-कभी ये अपने ही मत से संधि-विग्रह भी किया करते थे जैसा अग्निमित्र ने विदर्भराज्य से किया था[३]। कुछ अंश तक यह स्वाभाविक था और केन्द्रीय सरकार को इसमें आपत्ति भी न होती थी, कारण इनका उद्देश्य साम्राज्य का विस्तार ही था। प्रांतों की अलग सेना भी रहती थी और बहुधा अन्य प्रांतों में विद्रोहादि होने पर केन्द्रीय सरकार इन्हें उक्त स्थानों पर जाने की आज्ञा देती थी। यथा, उत्तरी राजस्थान में यौधेयों के विद्रोह का दमन करने के लिए कुषाण सम्राट् ने अपने दक्षिण प्रांत के महाक्षत्रप रुद्रदामन् को भेजा था, और गुजरात के विद्रोह का अकेले दमन करने में असमर्थ होकर राष्ट्रकूट सम्राट् प्रथम अमोघवर्ष ने बनवासी के शासक बंकेय को बुलाया था।

प्रांत की अंतर्व्यवस्था में प्रांतीय शासक का कितना हाथ था, इसका हमें ठीक ज्ञान नहीं। अवश्य ही केन्द्रीय शासन के निर्देशानुसार वे इसका निरीक्षण और नियंत्रण करते रहे होंगे। प्रादेशिक शासक (डिविजनल कमिश्नर) इन्हीं के अधीन काम करते रहे होंगे। परन्तु गुप्त शासन में प्रादेशिक अधिकारी सीधे सम्राट् से संबंध रखते थे। यथा, पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के शासक की नियुक्ति स्वयं प्रथम कुमारगुप्त ने की थी और वह सीधे उनके आदेशानुसार कार्य करता था[४]। परन्तु यह निश्चित नहीं है कि सम्राट् और उसके बीच में कोई प्रांतीय शासक था या नहीं, अर्थात् पुण्ड्रवर्धन भुक्ति किसी प्रांत का अंग थी या सीधे केन्द्रीय शासन से संबद्ध थी।

शांतिरक्षा और मालव्यवस्था के साथ-साथ प्रांतीय शासक का प्रमुख कार्य सिंचाई के लिए बाँध और नहर तथा अन्य सार्वजनिक हित के काम (Public works) के कर प्रांत की समृद्धि बढ़ाना और सुशासन द्वारा जनता में राजनिष्ठा

१ मालविकाग्निमित्र, पंचम अंक।
२ सौ. इं. इं., ९ सं. ३६७ और ३८७।
३ मालविकाग्निमित्र, प्रथम अंक।
४ एपि. इंडिका, १५ पृ. १३०, १३३।

उत्पन्न करके साम्राज्य का आधार सुदृढ़ करना भी था। पिछले अध्याय में केंद्रीय शासन या सरकार के जिन विविध विभागों का उल्लेख किया गया वे सब प्रांतीय सरकार या शासन में भी अवश्य विद्यमान रहे होंगे।

भूमिकर तथा अन्य राज्यकर पहले प्रांतीय राजधानी में एकत्र किये जाते होंगे और प्रांतीय शासन का खर्च बाद करने के पश्चात् शेष केंद्रीय सरकार को भेज दिया जाता था।

प्रादेशिक सरकार

प्रांत के बाद का प्रादेशिक विभाग आजकल की कमिश्नरी के बराबर होता था जिसमें दो-तीन जिले शामिल रहते थे। गुप्त शासन में इसे भुक्ति, प्रतीहारकाल में राष्ट्र और चोल तथा चालुक्य शासन में मंडल कहा जाता था। कभी-कभी इसके लिए देश शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। लाखों आदमियों पर शासन करनेवाले मौर्य्य शासन के रज्जुक अवश्य ही आधुनिक कमिश्नरों के समकक्ष थे, पर उनके द्वारा शासित प्रदेश का नाम विदित नहीं है।

अशोक की नीति विकेंद्रीकरण की थी और उनके शासन में रज्जुकों को व्यापक अधिकार दिये गये थे। साम्राज्य की साधारणनीति के अनुसार उन्हें दीवानी, फौजदारी और माल आदि विषयों में पूरे अधिकार प्राप्त थे। वे आवश्यकतानुसार पुरस्कार और दंड दे सकते थे[१]। पर राष्ट्रकूट राज्य में प्रादेशिक शासक के अधिकार सीमित हो गये थे, प्रथम अमोघवर्ष के कृपापात्र बंकेय को भी एक जैन देवालय को एक गाँव प्रदान करने के लिए सम्राट् की अनुमति की आवश्यकता पड़ी थी[२]। प्रतीहारकाल में भुक्ति के अधिकारियों के अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करने के साधन हमारे पास नहीं।

प्रादेशिक शासक का अपने मातहत कर्मचारियों पर पूरा नियंत्रण था। राजद्रोह या असावधानी करने पर इन्हें वह तुरंत कैद करता था और योग्य दंड दिलाने के लिए राजधानी को भेजता था। जिले के कर्मचारियों के पास छोटी सैनिक टुकड़ियाँ भी रहती थीं अतः इनके विरुद्ध कार्रवाई करने का अर्थ छोटा-मोटा सैनिक अभियान करना ही था। इसीलिए मातहत कर्मचारियों तथा उक्त प्रदेश के सामंतों के नियंत्रण के लिए प्रादेशिक शासक को पर्याप्त

---

१ स्तंभ लेख सं. ४।

२ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १७५।

सैन्य बल भी रखना पड़ता था[१]। युद्ध या बड़े अभियान के समय इसका अधिकांश भाग केंद्रीय सरकार की सहायता के लिए भेज दिया जाता था।

प्रादेशिक शासक या रज्जुक ही माल-विभाग के भी अध्यक्ष होते थे। दानपत्रों में जिन अधिकारियों से दान की रक्षा का अनुरोध किया जाता था उनमें इसका भी नाम रहता था। मौर्य्य शासन में इन्हें जो रज्जुक नाम दिया गया था, इससे भी इनका भूमि की पैमाइश या नाप-जोख से संबंध प्रकट होता है। गाँवों की पैमाइश और भूमिकर का निर्धारण नहर आदि के सूख जाने पर या अन्य कारणों से उसके संशोधन का कार्य इन्हीं के पर्य्यवेक्षण में होता था।

साम्राट् अशोक ने अपने रज्जुकों को दंड-समता के लिए जो आदेश दिया था[२] उससे विदित होता है कि इन्हें न्यायदान का भी अधिकार था। संभवतः अपने प्रदेश के ये सर्वोच्च न्यायाधिकारी होते थे।

विभिन्न काल और शासन में विषयपति के मातहत कर्मचारियों की नियुक्ति के अधिकार भी कम या अधिक होते थे। मौर्य्यकाल में अधिकार अधिक थे। गुप्त शासन में इन्हें कभी-कभी जिले के कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार रहता था[३] पर कभी-कभी यह कार्य स्वयं सम्राट् भी करते पाये जाते हैं। राष्ट्रकूटराज्य में तो जिले के कर्मचारी ही नहीं तहसीलदार तक की नियुक्ति भी सम्राट् ही करते थे[४]।

हम देख चुके हैं कि ऐतिहासिक युग में केंद्रीय सरकार की राजधानी में कोई केंद्रीय-समिति या लोकसभा न होती थी। आगे १२वें अध्याय में दिखाया जायगा कि प्राचीन युग में ग्राम-पंचायतें बराबर कार्य करती रहीं और इन्हें काफी अधिकार भी प्राप्त थे। यह कहना बड़ा कठिन है कि भुक्तियों या कमिश्नरियों के केन्द्र में भी इस प्रकार की पंचायतें थीं या नहीं। ग्रामपंचायत के सदस्यों की पदवी 'महत्तर' थी। दानपत्रों में उल्लिखित अधिकारियों में 'राष्ट्रमहत्तर' का भी नाम है[५], कभी-कभी इनके अधिकारियों का भी उल्लेख किया गया है[६]।

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १७४—५।

२ स्तंभ लेख सं. ४। ३ एपि, इंडि. १५ पृ. १३०।

४ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. १७६।

५ एपि. इंडि. २७ पृ. ११६ (खानदेश में राष्ट्रकूटों के शासन में)

६ ,, ,, १२ पृ. १३० (मालवा में कलचुरि शासन में)

फिर भी निश्चय नहीं कि भुक्तिपति या राष्ट्रपति को परामर्श या सहायता देने के लिए राष्ट्रमहत्तरों की कोई नियमित परिषद होती थी या नहीं। इनका उल्लेख केवल दो दानपत्रों में मिलता है अतः इनके बल पर कोई धारणा नहीं कायम की जा सकती। संभव है कि राष्ट्रमहत्तर किसी लोकसभा के सदस्य न होकर प्रदेश के प्रमुख नागरिक ही रहे हों पर बिना अधिक प्रमाण मिले इस संबंध में कोई निश्चय नहीं किया जा सकता।

जिले का शासन

प्राचीनकाल के विषय साधारणतः आजकल के जिलों के बराबर होते थे, इनमें एक हजार से दो हजार ग्राम तक रहते थे। ईसवी सन् की प्रारम्भिक सदियों में काठियावाड़ में इसे आहरणी[1] तथा मध्यप्रांत, आंध्र और तामिल देश में राष्ट्र कहते थे। 'विषय का शासक मौर्य्यकाल में विषयपति या विषयाध्यक्ष कहा जाता था, इसका उल्लेख अशोक के लेखों में रज्जुक के बाद ही हुआ है और उसकी भाँति इसे भी दौरे पर जाने को कहा गया है। स्मृतियों में उल्लिखित सहस्राधिप[2] अर्थात् सहस्र ग्रामों का शासक भी संभवतः यही अधिकारी है। तामिल देश का नाडू जिले से कुछ छोटा होता था पर इसके शासक का पद और अधिकार संभवतः विषयपति के ही बराबर थे।

आधुनिक कलेक्टर की भाँति विषयपति का काम जिले में शांति, सुव्यवस्था रखना और मालगुजारी तथा अन्य करों की वसूली कराना था। इनके मातहत बहुत से कर्मचारी रहते थे। बहुसंख्यक दानपत्रों में जिन युक्त आयुक्त, नियुक्त और व्यापृत[3] नामधारी कर्मचारियों से दान में बाधा न डालने का अनुरोध किया गया है, वे सब संभवतः मालविभाग के ही मातहत कर्मचारीथे। मौर्यकाल में इनमें से कुछ गोप[4] और गुप्त युग के बाद के गुजरात में ध्रुव नाम से संबोधित किये जाते थे[5]।

शांति और सुव्यवस्था स्थापनार्थ विषय-पति के अधीन छोटा सैन्यदल भी रहता था। दंडनायक, जिनका नाम लेखों और मुद्राओं में बहुत आया है,

१ एपि. इंडि. १६ पृ. १८ ; २६ पृ. २६१ ; इंडि. एँटि. ५ पृ. १५५।

२ मनु ७. ११५ ; विष्णु ३, ७–१० ।

३ कॉ. इं. ई. ३ पृ. १६५; इंडि. एँटि. १३ पृ. १५।

४ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ३६ ।

५ कॉ. इं. इं., ३ पृ. १०५।

संभवतः जिलों में स्थित इन टुकड़ियों के नायक होते थे। दंडपाशिक और चोरोद्धरणिक आदि पुलिस अधिकारी भी संभवतः विषयपतियों के अधीन काम करते थे। वाणिज्य, उद्योग, जंगल आदि अन्य विभागों के जिले के कर्मचारी विषयपति के अनुशासन में थे या नहीं इसका पता नहीं। विषयपतियों को न्याय का अधिकार था या नहीं यह भी विदित नहीं। सम्भव है कि ये जिले की अदालतों के अध्यक्ष रहे हों।

कम से कम गुप्तकाल में तो अवश्य ही जिलों के शासन में जनता का काफी हाथ रहता था। प्रथम (मुख्य) महाजन, प्रथम व्यवसायी, प्रथम शिल्पकार और प्रथम कायस्थ या लेखक उस परिषद् के प्रमुख सदस्य थे जो ५वीं सदी ई० में बंगाल के 'कोटिवर्ष' के विषयपति को शासनकार्य में सहायता देती थी। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि जिले के शासन में धनपतियों की ही प्रधानता रहती थी। ये तो केवल परिषद् के प्रमुख सदस्य थे, इनके अतिरिक्त और भी बहुत से सदस्य इसमें थे। फरीदपुर ताम्रपत्र[1] से विदित होता है कि परिषद् में २० सदस्य थे इनमें से कुछ कुलस्वामी और शुभदेव जैसे ब्राह्मण थे और कुछ घोषचंद्र और गुणचन्द्र आदि क्षत्रिय वैश्य आदि अन्य जातियों के थे। यह परिषद् केवल जिले के केन्द्र के ही शासन में योग देती थी अथवा जिले के अन्तर्गत सभी इलाकों के शासन में, इसका ठीक पता नहीं। संभवतः पूरा जिला इसके कार्य-क्षेत्र में था।

दुर्भाग्यवश हमें यह विदित नहीं कि जिले की परिषद् के सदस्यों का चुनाव या नियुक्ति किस प्रकार होती थी। व्यापारी, महाजन या लेखक वर्ग के सदस्य तो जैसा उनके नाम प्रथम श्रेष्ठिन्, प्रथम कायस्थ आदि से विदित है उनके व्यवसाय-संघ या निगम के अध्यक्ष ही होते थे। शेष सदस्य भी अवश्य ही अपने-अपने वर्ग या पेशे के प्रमुख वयोवृद्ध, उदात्तचरित और लोकप्रिय व्यक्ति होते रहे होंगे, जिनका जिलासभा में अन्तर्भाव करना उचित समझती थी। संभवतः इस परिषद् में नगरवालों का ही प्राधान्य रहता था यद्यपि दो-चार सदस्य देहाती क्षेत्रों के भी रहते होंगे।

गुप्तकाल के पूर्व या बाद के लेखों से जिला-पंचायत का विशेष विवरण नहीं मिलता। पर आंध्रदेश के ६ठीं शताब्दी के विष्णुकुण्डी लेख[2] और ६वीं

१ इंडि. एंटि. १९१२ पृ. १९५ सं.।

२ ज आ. हि. रि. सो, भाग ६, पृ. १७।

सदी के एक गुजरात के राष्ट्रकूट लेख में[१] विषयमहत्तर या जिला-पंचायत के सदस्यों का उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि गुप्तकालीन कोटिवर्ष विषय परिषद् की भाँति बाद में भी जिला-पंचायतें कार्य कर रहीं थीं।

गुप्त-काल में जिले का शासन बड़ा सुसंघटित था। पुस्तपाल की अध्यक्षता में इसके लेख-पत्र कार्यालय में सुरक्षित रहते थे, इनमें जिले की सब भूमि-खेत परती और ऊसर तथा मकान की जमीन का पूरा और ठीक विवरण दर्ज रहता था। ऊसर-भूमि के, जिसका स्वामी राज्य होता था, क्रय-विक्रय में भी जिला-पंचायत की सहमति जरूरी थी। कुछ भूमिदानपत्रों पर जिले के शासन की मुद्राएँ भी अंकित पायी गयी हैं[२]। नालंदा में प्राप्त राजगृह और गया विषयों की मुद्राओं से ज्ञात होता है कि जिले से बाहर के व्यक्तियों से जो पत्र-व्यवहार होता था, उस पर जिले की सरकारी मुहर लगती थी[३]। सब काम नियमित ढंग पर किया जाता था। यहाँ तक कि धार्मिक कार्य में दान देने के लिए भूमि खरीदने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं विषयपति को भी जिला-पंचायत के सामने उपस्थित होकर उसकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी[४]।

तहसील-शासन

जिला या विषय और ग्राम के बीच में भी कुछ शासन-विभाग रहते थे जिनका स्वरूप और आकार समय के अनुसार बदलता रहता था। मनु[५] का मत है कि शासनसुविधा के लिए १० गाँवों का एक वृन्द या गुट (छोटा शासन-विभाग) होना चाहिये और ऐसे १० वृन्दों या १०० ग्रामों का एक मंडल, जो आजकल के तहसील या तालुके के बराबर होता है। जिले में १ हजार गाँव अर्थात् १० तहसीलें होनी चाहिये। महाभारत ग्रामों के समूहीकरण की इस दाशमिक प्रणाली को बदलकर २० और ३० ग्रामों का समूह बनाता है[६]। उत्कीर्ण लेखों से भी ज्ञात होता है कि कुछ प्रांतों में इसी प्रकार की प्रणाली का अनुकरण किया जाता था। आठवीं और नवीं सदी में हैदराबाद रियासत में पैठाण जिले में अब्बुआल और रुद्द १० ग्रामों के, गुजरात में कार्पटवाणिज्य

१ एपि. इंडि., १ पृ. ५५।
२ इंडि. एंटि. १९१० पृ १९५ ; पृ. २७४।
३ अ. स. रि., १९१३–१४।
४ एपि. इंडि. २३ पृ. ५४।
५ ७, ११५ ; विष्णु ३। ६ १२–८७, ३ से।

और वटपद्रक विषयों में सिहरि और सारकच्छ १२ ग्रामों के, और कर्नाटक में पुरिगेरि विषय में सेवली ३० ग्रामों के समूह-शासन-केन्द्र थे[1]। ५वीं शताब्दी में वाकाटकराज्य में प्रवरेश्वर मंडल २६ ग्रामों का समूह था[2]। ११वीं और १२वीं शताब्दी में राजपूताना, गुजरात और बुंदेलखंड में क्रमशः तनुकूप, धडहडिका और खत्तएड १२ ग्रामों के समूह थे[3]। इसी काल में मालवा में न्यायपद्रक समूह में १७, मरकाला समूह में ४२ और बरखेटक समूह में ६३[4] ग्राम थे। ८४ और १२६ ग्रामों के समूहों के भी उल्लेख प्राप्त हैं[5]। इनका नामकरण प्रायः उसी क्षेत्र में स्थित किसी प्रमुख कस्बे के नाम पर होता था। इनको जिला-विभाग कहना उचित होगा।

उपरि-निर्दिष्ट प्रकार के कई ग्राम-समूहों को मिलाकर आधुनिक तहसील या तालुका के बराबर का शासनघटक बनता था जिसे विभिन्न प्रान्तों में पाठक, पेट, स्थली, भुक्ति आदि विविध नामों से सम्बोधित किया जाता था। २०० ग्रामों के खर्वाटक और ४०० ग्रामों के द्रोणमुख[6] भी विषय के ही उपविभाग थे, जो आधुनिक तहसीलों के करीब-करीब बराबर होते थे। केंद्रीय सरकार की ओर से इनके शासन के लिए आधुनिक तहसीलदार या मामलतदार जैसा कोई अधिकारी नियुक्त किया जाता था। अपनी हद में उसके अधिकार भी विषय-पति के ही समान होते थे।

केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये तहसीलदार आनुवंशिक करग्राहकों (मालगुजारों) की सहायता से कार्य करते थे। कम से कम दक्षिण में तो ऐसी ही स्थिति थी। ये कर्णाटक में नाडगावुंड[7] और महाराष्ट्र में देशग्रामकूट कहे जाते थे। मराठा युग के देशपांडे, सरदेशपांडे और देशमुख इन्हीं की परम्परा में थे। उत्तरभारत में इस प्रकार के आनुवंशिक कर्मचारी होते थे या नहीं, यह ज्ञात नहीं।

---

१ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १३८।
२ एपि. इंडि. २४ पृ. २६४।
३ वही २ पृ. १०९। इंडि. एँटि. ६ पृ. १९३-४; एपि. ४ पृ. १५७।
४ एपि. इंडि. २८ पृ. ३२२, वही, ३ पृ. ४८।
५ वही १ पृ. ३१७, इंडि. एँटि. १९ पृ. ३५०।
६ अर्थशास्त्र, २, अध्याय १।
७ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. १७८-८०।

इन ग्रामसमूहों के अधिकारियों के साथ लोकप्रिय संस्थाएँ या पंचायतें रहती थीं या नहीं इसका अभी विचार करना है। यह दिखाया जा चुका है कि जिले में इस प्रकार की संस्थाएँ होती थीं, और अगले अध्याय में यह भी दिखाया जायगा कि ऐसी संस्थाएँ ग्राम शासन-व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण अंग थीं। इसलिए यह असंभव नहीं कि तालुकों आदि छोटे शासन-विभागों में भी इस प्रकार की संस्थाएँ रही हों। किन्तु चोलकाल में केवल तामिल देश में इस संस्था के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके संघटन की प्रणाली पूरी तरह विदित नहीं है, फिर भी (Leyden) 'लेडेन' के दानपत्र से ऐसा अनुमान होता है कि नाडू के अंतर्गत रहने वाले ग्रामों के प्रतिनिधि इस संस्था में उपस्थित रहते थे। नाडू-पंचायतें मालगुजारी के बंदोबस्त और भूमि के वर्गीकरण में सक्रिय भाग लेती थीं। दानपत्रों में शासक-गण इन संस्थाओं से अनुरोध करते थे कि वे भविष्य में उनके भूमि या ग्रामदान में हस्तक्षेप न करें[१]। अकालादि के अवसरों पर नाडू-पंचायतें लगान में छूट प्राप्त करने की भी व्यवस्था करती थीं[२]।

ग्राम-पंचायतों की भाँति नाडू-पंचायतें अपनी ओर से दान भी देती थीं और जनता द्वारा प्रदत्त संपत्ति अथवा निधि की व्यवस्था भी करती थीं। ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिले हैं जब संयोगवश किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने पर नाडू-पंचायतों ने निर्णय किया है कि उक्त घटना हत्या नहीं दुर्घटना है, और अभियुक्त को प्रायश्चित्त-स्वरूप स्थानीय देवालय में नन्दादीप जलाने की व्यवस्था करने का आदेश दिया[३]।

शासन का अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान ग्राम था। इस विषय पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। पुर या नगर की शासन-व्यवस्था पर विचार करके प्रस्तुत अध्याय पूरा किया जायगा।

पुर-शासन

आधुनिककाल के बम्बई-ऐसे महानगरों की शासन-व्यवस्था और प्रांतों के छोटे-छोटे नगरों की व्यवस्था में महान् अंतर रहता है। यद्यपि बंबई-कारपोरेशन और किसी छोटे शहर के म्युनिसिपल संघटन में कुछ समान सिद्धांत भी अवश्य

१　सौ. इ. ए. रि., संख्या १५६।

२　,, सन १९१९ सं. ५५६।

३　,, सन् १९२६ सं. २१७ और सन् १९१२, सं. ४११।

हैं फिर भी पहिली संस्था का कार्यक्षेत्र दूसरी से कहीं अधिक विस्तृत है और उसके लिए अधिक उपसमितियों की भी आवश्यकता पड़ती है। प्राचीन भारत में भी ऐसी ही स्थिति थी।

वैदिककाल के नगरों और उनकी व्यवस्था के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। वैदिक सभ्यता मुख्यतः ग्रामीण थी और पुर या नगर का उसमें कोई अधिक महत्व नहीं था। परवर्ती संहिता और ब्राह्मण-ग्रंथों के काल के भी नगरों के बारे में बहुत ही कम ज्ञात है।

पर ऐतिहासिककाल में आने पर सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब नगरों और पुरों से परिपूर्ण दिखायी देता है। इनमें से अधिकांश शासन में स्वायत्त थे और अपनी नगर-परिषदों द्वारा अपना शासन-प्रबन्ध करते थे। इन परिषदों के संघटन का वर्णन नहीं प्राप्त होता है, संभवतः नगरों के वयोवृद्ध और प्रतिष्ठित नेताओं का एक प्रकार के सर्वसम्मति से उसमें अन्तर्भाव हो जाता था।

गुप्तकाल से साधारण नगर और पुरों की शासन-व्यवस्था का विस्तृत विवरण उपलब्ध होने लगता है। केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त पुरपाल पुर-शासन का प्रधान होता था। यदि पुर जिले का केंद्र हुआ तो यही जिले के शासक का भी कार्य करता था। यदि पुर दुर्ग हुआ तो इसमें कोटपाल नामक केंदीय सरकार का एक और अधिकारी रहता था, जिसके मातहत कई नायक रहते थे[१]। प्रायः पुरपाल स्वयं ही सेनानायक होते थे, जैसे मन्त्री और जिले के शासक हुआ करते थे। यथा, कर्नाटक के सर्वद्दुर नामक कस्बे का पुरपाल रुद्रैया राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय कृष्ण के अंगरक्षकों में से था[२]। जगदेकमल्ल के शासनकाल में बादामी के संयुक्त पुरपाल महादेव और पातालदेव दोनों ही दण्डनायक थे। कभी-कभी ऐसे विद्वानों की श्रेणी में से भी जो षड्दर्शन-ऐसे कठिन विषयों में भी दिलचस्पी रखते थे पुरपाल चुने जाते थे[३]। संभव है कि वे उन दुर्लभ व्यक्तियों की कोटि के रहे हों जिनमें शस्त्र और शास्त्र दोनों का संगम होता है।

पुरपाल को शासन-कार्य में मदद देने के लिए गोष्ठी पंचकुल या चौकड़ि[४]

१ सन् ८७५ ई. में ग्वालियर में यही स्थिति थी, ऐपि. ई. १. पृ. १५४।

२ इंडि. ऐंटि. १२ पृ. २५८।

३ वही, १५ पृ. १५।

४ एपि. इं. ९ पृ. ३६

आदि विभिन्न नामों से निर्दिष्ट एक गैरसरकारी समिति भी रहती थी। इसमें सभी श्रेणी और वृत्तियों के प्रतिनिधि रहते थे। कभी-कभी पुर विभिन्न हलकों में बाँट दिया जाता था और हलके या वार्ड से इसमें प्रतिनिधि भेजे जाते थे। यथा, राजपूताने के घलोप नगर में आठ 'वाड़ा' (आधुनिक वार्ड) थे, और प्रत्येक से दो प्रतिनिधि लिये जाते थे[1]। प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रणाली विदित नहीं। संभवतः लोक-प्रतिष्ठित व्यक्ति इनमें लिये जाते थे।

पंचकुल में पाँच ही नहीं अधिक सदस्य भी रहते थे जो नगर के विभिन्न 'वाड़ों' का प्रतिनिधित्व करते थे। इस संस्था की कार्य-कारिणी समिति भी होती थी, जिसके सदस्य प्रतीहारकालीन राजपूताना और मध्यभारत में 'वार' नाम से संबोधित किये जाते थे[2]। यों तो यह नाम विचित्र-सा जान पड़ता है, पर यह इस बात का सूचक है कि कार्यकारिणी-समिति के सदस्य बारी-बारी से बदला करते थे। गुजरात में भीनमाल से प्राप्त ११वीं सदी के एक लेख में वर्तमान वर्ष के 'वारिक' का उल्लेख है[3]। इससे प्रतीत होता है कि उक्त पुर में प्रतिवर्ष कार्यकारिणी-समिति का चुनाव होता था। राजपूताना के सियदोनि पुरी में जो व्यक्ति सन् ९६७ ई० में 'वारिक' थे वही सन् ९६९ में भी थे[4]। इससे प्रतीत होता है कि कार्यकारिणी की कार्य-अवधि यहाँ अधिक थी।

वारिकों की संख्या प्रत्येक नगर में भिन्न-भिन्न रहा करती थी। सियदोनि में दो वारिक थे और ग्वालियर में तीन। इनका काम करों की वसूली, सार्वजनिक धन का लेन-देन, धर्मार्थ निधियों और सार्वजनिक कार्यों की व्यवस्था आदि नगर-जीवन सम्बन्धी सभी विषयों का प्रबंध करना था।

'वारिकों' का कार्यालय रहता था; और उनको मदद देने के लिये स्थायी वेतनधारी कर्मचारी रहते थे। कार्यालय राजपूताना में 'स्थान' कहा जाता था और यहाँ महत्व के सब लेख-पत्र सुरक्षित रहते थे[5]। यथा जब पेहोआ नगरी के अश्वव्यवसायियों ने एक धर्म-कार्य के लिए स्वेच्छा से चंदा देने का निश्चय किया, तो इस निश्चय की एक प्रति नगर के 'स्थान' में रख दी गयी; ताकि

---

१ वही।

२ एपि. इंडि. १ पृ. १५४; १७३-१७९

३ वर्तमानवर्षवारिकजोग चंद्र बॉ. गॅ. १ पृ. ४३।

४ एपि. इं. १ पृ. १७३–७९।

५ लिखितस्थानानुमतेन करणिकसर्वेहारिणा। एपि. इं. १–१७३–७९।

भविष्य में इसी के अनुसार चंदा एकत्र किया जाय। नगर-समिति के लेख-पत्रों की देखरेख और पत्रव्यवहार के लिए 'करणिक' नामक एक स्थायी कर्मचारी होता था। समिति के निर्देशानुसार यही महत्व के पत्रादि लिखता था। इसके मातहत अनेक कारकुन रहे होंगे। 'कौप्तिक' नामक कर्मचारी बाजार से कर उगाहता था, जो पुर-समिति की आय का मुख्य भाग होता था। कभी-कभी केन्द्रीय सरकार का कर भी उसकी ओर से समिति उगाह देती थी; यथा गुजरात में 'बाहुलोदा' पुरी का यात्रा-कर जिसकी रकम लाखों तक पहुँचती थी, केन्द्रीय सरकार की ओर से नगर-समिति ही उगाहा करती थी[1]।

अभी तक जो उदाहरण दिये गये हैं वे सब गुजरात और राजपूताना के ही पुरों के हैं, इससे यह न समझ लेना चाहिये कि अन्यत्र इस प्रकार की व्यवस्था थी ही नहीं। २री शताब्दी ई॰ में महाराष्ट्र में नासिक की भी 'निगमसभा' (नगर सभा) थी, भूमि के क्रयविक्रय-संबंधी सब व्यवहार और लेखपत्र इसके कार्यालय में दर्ज किये जाते थे[2]। जिले के शासन संबंधी प्रकरण में बंगाल के कोटिवर्ष की समिति का उल्लेख किया जा चुका है। कोकण के गुणपुर में पुरपाल की सहायता के लिए एक समिति थी जिसमें १ ब्राह्मण, १ व्यापारी और २ महाजन सदस्य थे[3]। राष्ट्रकूट और चालुक्य शासनकाल में कर्नाटक की ऐहोल पुरी में बराबर एक समिति वर्तमान रही। इसी प्रांत में मुलुंद पुरी ५ वाड़ों में विभाजित थी, राजपूताने की श्वलोप पुरी की भाँति यह विभाजन भी संभवतः समिति के प्रतिनिधि चुनने के हेतु था, यद्यपि इस संबंध का उत्कीर्ण लेख अपूर्ण होने के कारण हम निश्चय-पूर्वक कुछ नहीं कह सकते। अस्तु, प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था में नगर-समितियों का भी निश्चित और महत्वपूर्ण स्थान था।

३री और ४थी शताब्दी ई॰ पू॰ के पाटलिपुत्र नगर की व्यवस्था का वर्णन करके यह अध्याय समाप्त किया जायगा। साम्राज्य की राजधानी होने और देश-विदेश के व्यक्तियों से परिपूर्ण रहने के कारण इसकी व्यवस्था साधारण से कुछ भिन्न थी, पर इसका सामान्य स्वरूप वही था जो साधारण नगर-समितियों का था। पाटलिपुत्र नगर-समिति में ३०सदस्य थे, और यह ६-६

---

१ प्रबन्ध चिन्तामणि पृ. ८४।

२ एपि. इं. ७ नासिक शिलालेख।

३ एपि. इंडि., ३. पृ. २६०

सदस्यों की ५ उपसमितियों में विभाजित थी। इनमें से एक उपसमिति जो विदेशियों की देखरेख और उनकी गतिविधि पर दृष्टि रखती थी, अन्य बड़े नगरों और पत्तनों (बंदरगाहों) में भी, जहाँ विदेशी अधिक संख्या में बसते थे, रही होगी। दूसरी समिति का उल्लेख, जो जन्म और मरण का ठीक-ठीक विवरण रखती थी, स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों में कहीं भी नहीं पाया जाता है। संभवतः यह मौर्य शासन की ही मौलिक योजना थी, जो बाद में लोकप्रिय न हो सकी। वस्तुओं के उत्पादन की देखरेख करनेवाली तीसरी उपसमिति केवल औद्योगिक नगरियों और पुरियों में ही रही होगी। चौथी और पांचवीं उपसमितियाँ उचित मजदूरी तय करती, बाजारों का निरीक्षण करती, शुद्ध और बिना मिलावट के वस्तुओं के ही विक्रय की व्यवस्था करती तथा व्यापारियों से कर आदि वसूल करती थीं। ये कार्य तो प्राचीन-काल की अधिकांश पुर और ग्राम समितियाँ करती रहीं। सार्वजनिक निर्माण समिति[१] का, जिसे तामिल देश में उद्यान या सरोवर समिति कहा जाता था, यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। इसका कारण संभवतः यह था कि साम्राज्य की राजधानी होने के कारण पाटलिपुत्र में इस विषय की व्यवस्था केंद्रीय राजकीय अधिकारी ही करते थे। उपर्युक्त उपसमितियों में से किसी के द्वारा धर्मार्थ निधियों की व्यवस्था का उल्लेख भी नहीं मिलता, जो कार्य बाद में सभी पुर और ग्राम समितियाँ करती थीं। जैसा कि अर्थशास्त्र में कहा गया है संभवतः इस कार्य के लिए अलग ही कोई गैर सरकारी संस्था थी। यूनानी लेखक यह भी नहीं बताते कि पाटलिपुत्र की नगर-समिति और उपसमितियों का संगठन कैसा था, वे सरकारी थीं या गैरसरकारी, निर्वाचित या नियोजित ! साम्राज्य की राजधानी होने के कारण संभव है कि पाटलिपुत्र नगरी की विभिन्न समितियों में अर्थशास्त्र में वर्णित, पण्य, शुल्क, नाप-तोल आदि करने के अध्यक्ष आदि अनेक राजकर्मचारी भी रहे हों। परंतु इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। प्रांतों और जिले के पुरों की समितियों में अधिकांश गैरसरकारी सदस्य रहते थे, यह पहले ही बताया जा चुका है।

---

[१] Public work committee.

अध्याय ११

ग्राम-शासन-पद्धति

अति प्राचीनकाल से ही भारत के ग्राम, शासन-व्यवस्था की धुरी रहे हैं। इनका महत्व ऐसे युग में और भी अधिक था जब यातायात के साधन मंदगामी थे और कारखानों या यंत्रों का नाम भी न था। प्राचीन भारत के जीवन में नगरों का स्थान नगण्य था। वैदिक मन्त्रों में ग्रामों की समृद्धि की प्रार्थना बहुत की गयी है, पर नगरों या पुरों का शायद ही कभी नाम लिया गया हो[१]। जातक कथाओं में भी किसी प्रदेश की समृद्धि के वर्णन के प्रसंग में उसके समृद्ध ग्रामों की संख्या का तो बड़े गर्व से उल्लेख किया जाता है पर नगरों या पुरों का नाम भी नहीं लिया जाता। वैदिककाल के राज्य छोटे होते थे, इससे ग्रामों का महत्व और भी बढ़ गया था। बाद में राज्यों का विस्तार बढ़ने पर भी स्थिति में परिवर्तन न हुआ। कारण बहुजन समाज प्रायः ग्राम निवासी होने के कारण ग्रामों का ही सर्वोपरि महत्व होना स्वाभाविक है। आधुनिककाल में गवर्नर शासन संबंधी प्रश्नों पर विचार करने के लिये कलक्टरों का सम्मेलन बुलाते हैं; प्राचीन काल में इसी कार्य के लिए बिंबिसार जैसे शासक ग्राम के मुखियों को बुलाते थे[२]। इसमें कोई संदेह नहीं कि ग्राम ही देश के महत्व पूर्ण अंग और सामाजिक जीवन के केंद्र थे। राष्ट्र की संस्कृति, समृद्धि और शासन उन्हीं पर निर्भर थे।

ग्राम का मुखिया

ग्राम का शासन ग्राम के मुखिया के ही निरीक्षण और निर्देश में चलता था। वेदों में इसे 'ग्रामणी' कहा गया है और जातक कथाओं में भी बराबर इसका उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्र शासन-व्यवस्था में इसके महत्वपूर्ण

---

१ ऋ. वे. १. ११४—१ । १—४४-१०

२ महावग्ग, पंचम १ ।

स्थान का साक्षी है और ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के प्रायः सभी उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख पाया जाता है। ईसवी सन् की प्रारंभिक सदियों में इसे उत्तर भारत में[1] 'ग्रामिक' या 'ग्रामेयक' और तैलंगदेश[2] में 'मुनुन्द' कहा जाता था और ६०० से १२०० ई० के बीच महाराष्ट्र में 'ग्रामकूट' या 'पट्टकील', कर्नाटक में[3] 'गावुन्द' और युक्तप्रांत में[4] 'महत्तक' या 'महंतक' कहा जाता था[5]।

साधारणतः एक ग्राम के लिए एक ही मुखिया रहता था[6]। उनका पद आनुवंशिक था, पर सरकार को अधिकार था कि यदि उत्तराधिकारी अयोग्य हो तो उसी वंश के किसी अन्य व्यक्ति को मुखिया बना दे। साधारणतः यह ब्राह्मणेतर जाति का ही होता था। वैदिककाल से ही वह ग्रामसेना का नायकत्व करता आया था अतः वह संभवतः क्षत्रिय ही होता था, पर कभी-कभी वैश्य भी इस पद का आकांक्षी होता था और इसे प्राप्त भी कर लेता था[7]।'

मुखिया ही ग्राम-शासन में सबसे महत्व का पद रखता था। उसके वर्ग के प्रतिनिधि को वैदिककाल के 'रत्नियों' में स्थान मिलता था और जातक

---

१ एपि इं., १ पृ. ३८७; इं. एँ. ५ पृ. १५५; कॉ. इं. इं., ३ पृ. २५६

२ एपि. इं. ९ पृ. ५८; इं. एँ. १८ पृ. १५; एपि. इं., २ पृ. ३५९

३ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. १८९

४ इं. एँ., १८ पृ. १५; १४ पृ. १०३-४

५ सरकार द्वारा जिन ब्राह्मणों या सेना के कप्तानों को ग्रामकर पाने का अधिकार मिलता था वे कभी-कभी 'ग्रामभोक्तृ' या 'ग्रामपति कहे जाते थे। मगर ग्राम का मुखिया उनसे अलग होता था।

६ कभी-कभी एक से अधिक मुखियों का भी उल्लेख मिलता है। कर्नाटक के कुछ ग्रामों में ६ और १२ मुखिया तक होते थे (राष्ट्रकूट इतिहास, पृ. १८९-९०)। संभवतः मुखिया-वंश की सभी शाखाओं को संतुष्ट करने के लिए ऐसा किया जाता था ; किंतु प्रायः हर शाखा को बारी-बारी से मुखिया होने का अवसर देकर सब शाखाओं के अधिकारों की रक्षा की जाती थी।

७ तैत्ति. सं. २, ५, ४४ से ज्ञात होता है कि महत्वाकांक्षी हर वैश्य का लक्ष्य 'ग्रामणी' पद ही होता था।

कथाओं में तो उसका वर्णन प्रायः ग्राम के राजा के अनुरूप ही हुआ है। ईसा की प्रथम सहस्त्राब्दी के उत्कीर्ण लेखों में वर्णित ग्राम अधिकारियों में उसका स्थान सर्व-प्रथम है। गहडवाल राजा किसी गाँव में भूमिदान करने के पहले उसके मुखिया से बहुधा राय लेते थे[१]।

मुखिया का सबसे मुख्य कर्त्तव्य ग्राम की रक्षा करना था, वह ग्राम के स्वयंसेवक दल और पहरेदारों का नायक था[२]। आजकल की अपेक्षा प्राचीन-काल में जीवन कहीं अधिक संकटपूर्ण था[३] और यातायात की कठिनाई के कारण डाकुओं के अचानक आक्रमण आदि से समय सरकार से शीघ्र सहायता भी न मिल सकती थी। अतः ग्रामवासियों को अपनी रक्षा 'स्वयं करनी पड़ती थी[४]। ग्राम की रक्षा में ग्राम के मुखिया और स्वयंसेवक दल के सदस्यों के प्राण तक दे देने के उदाहरण बहुत मिलते हैं[५]।

मुखिया का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य सरकारी करों को उगाहना था। जरूरी लेख-पत्र उसी के संरक्षण में रहते थे और ग्राम-पंचायत की मदद से वह वसूली का काम करता था। मुखिया ग्राम-पंचायत का पदसिद्ध अध्यक्ष भी होता था और ग्राम संबंधी प्रश्नों पर विचार और कार्यवाही उसी के निर्देश में होती थी। उसे अपने काम के पारिश्रमिक स्वरूप करमुक्त (माफी) जमीन और अनाज आदि के रूप में उगाहे जाने वाले कुछ छोटे-मोटे करों की आमदनी मिलती थी।

मुखिया गाँव का सबसे प्रभावशाली व्यक्ति होता था। शुक्रनीति का यह कथन बहुत यथार्थ है कि वह ग्रामवासियों के माता-पिता के समान था[६]।

---

१ एपि इं. २, पृ. ३५९–६१।

२ प्रारंभिककाल के लिए कुलावक और खरस्सज जातक देखिये; बाद के लिए देखिये—यथा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति।—सांख्यतत्त्वकौमुदी पृ. ५४ (झा संस्करण)

३ राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १९०-१।

४ अर्थशास्त्र २ अध्याय १

५ सप्तशती ७-३१; एपि. क., भाग ८ सोराब नं. ४४५; इं. ऐं, ७. पृ. १०४; सौ. इं. ए. रि., १९१६ नं. ४७९ और ७५३

६ २, ३४३।

सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी वह जनता का ही आदमी था और उनके हित की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहता था। जनता के लिए भी वह उतना ही आवश्यक था जितना राज्य के लिए था।

ग्राम के कार्यालय में राज्य-कर की वसूली और भूमि के क्रय-विक्रय या स्वामित्व संबंधी सब लेख-पत्र रखे जाते थे। सरकार और जिले के अधिकारियों से होनेवाले पत्र-व्यवहार और ग्राम-पंचायत के निश्चयों की भी प्रतिलिपि रखना जरूरी था। यह सब काम गाँव का मुनीम करता था। उसका पद भी आनुवंशिक था और पारिश्रमिक में उसे भी करमुक्त जमीन मिलती थी। तामिल देश में उसकी नियुक्ति ग्रामपंचायत द्वारा होती थी[1]।

ग्राम के प्रायः सभी सद्गृहस्थ ग्रामसभा की सदस्यता के अधिकारी थे। इस संबंध में उत्तर भारत और प्रारंभिककाल के लिए स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते। फिर भी ऐसा लक्षित होता है कि महाराष्ट्र में ग्रामसभा में गाँव के सब गृहस्थ रहते थे[2]। इसमें भी संदेह नहीं कि कर्नाटक में और ६०० ई० से तामिल देश में भी यही अवस्था थी। कर्नाटक के बहुत से लेखों से विदित होता है कि ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या,—जिनको वहाँ महाजन कहते थे—कभी २०० कभी ४२०, कभी ५०० और कभी १००२ तक होती थी[3]। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि इनमें गाँव के सब गृहस्थ शामिल थे[4]। तामिल देश में डुग्गी पीट कर सब ग्रामवासी सभा के लिए आमन्त्रित किये जाते थे।

अस्तु, ग्राम के सब जिम्मेदार गृहस्थ ग्रामसभा के प्रारंभिक सदस्य होने के अधिकारी थे। यह उल्लेखनीय है कि विभिन्न प्रांतों में ग्रामसभा के सभासदों के लिए प्रयुक्त सब शब्दों का एक ही अर्थ 'गाँव के बड़े आदमी' होता है—यथा, युक्त प्रांत में महत्तम महाराष्ट्र में महत्तर, कर्नाटक में महाजन और तामिल देश में पेरुमक्काल सब का एक ही अर्थ है।

---

१ कभी कभी पंचायत प्रतिवर्ष उसी मुनीम की पुनर्नियुक्ति कर देती थी, सौ. इं. ए. रि. १९३२, सं. ३२

२ एपि. इं., १४ पृ. १५० ।

३ इंडि. ऐंटि. ४ पृ. २७४, एपि. इं. ? पृ. २७४, १३ पृ ३३–४

४ अलतेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास पृ. १९९- २०१ ।

इतनी बड़ी संख्या में होने के कारण ग्राम-महाजन ग्राम के प्रबंध के लिए अवश्य ही किसी कार्यकारिणी-समिति या परिषद् से काम लेते रहे होंगे। अभी हमें इसके संघटन पर विचार करना है।

जातकों से ज्ञात होता है कि न तो मुखिया और न ग्राम का मुनीम ग्राम प्रबंध में मनमानी कर सकता था। उन दोनों को ग्रामवृद्धों की राय के अनुसार चलना पड़ता था। ये ग्रामवृद्ध प्रारम्भिककाल से ही एक प्रकार की गैर सरकारी समिति के रूप में कार्य करते थे। यह दिखाया जा चुका है कि वैदिक युग की सभा ग्राम-पंचायत या परिषद् के साथ-साथ सामाजिक गोष्ठी का भी कार्य करती थी। इसमें बैठकर सदस्यगण सामाजिक चर्चा भी करते, खेल आदि खेलते तथा साथ ही ग्राम-प्रबंध संबंधी कार्य भी निपटाते थे[१]। जातकों से ज्ञात होता है कि ग्राम-व्यवस्था ग्रामवाले स्वयं ही करते थे[२]। इनमें इस कार्य के लिए किसी स्थायी समिति या संस्था के होने का कोई उल्लेख नहीं है। काम करने का भार मुखिया पर ही था, पर यदि उसका कोई कार्य रीति-विरुद्ध होता था तो ग्राम-वृद्ध उसकी गलती बताकर भूल सुधार देते थे[३]। मौर्य्य युग में ग्राम-संस्था सार्वजनिक प्रमोदजनक और उपयोगी कार्यों की व्यवस्था करती थी, गाँववालों का आपस का झगड़ा तय किया करती थी और नाबालिगों की संपत्ति का संरक्षण करती थी[४]। परन्तु इस काल में किसी कार्यकारी परिषद् का विकास न हो पाया था क्योंकि अर्थशास्त्र विश्वस्त (trustee) रूप से कार्य करनेवालों में ग्राम-वृद्धों का उल्लेख करता है, किसी समिति[५] या उपसमिति का नहीं।

गुप्तकाल में कम से कम कुछ प्रांतों में तो ग्राम-समितियों का विकास हो चुका था। मध्य भारत में इन्हें 'पंचमण्डली' और बिहार में 'ग्राम-जानपद'

---

१ देखो पीछे अध्याय ७, पृ. ९७–४

२ कुणाल जातक

३ पानीय जातक। यहाँ मुखिया मदिरा बेचने और जानवरों के काटे जाने की निषेधाज्ञा वापस लेता है, जब गाँववाले यह समझाते हैं कि ये गाँव की पुरानी प्रथाएँ थीं।

४ अर्थशास्त्र ३, अध्याय १०।

५ प्रयोजकासंनिधाने ग्रामवृद्धेषु स्थापयित्वा, ३, अध्याय १२।

कहते थे। नालंदा में विभिन्न ग्राम-जानपदों की अनेक मुद्राएँ मिली हैं जिससे ज्ञात होता है कि ग्राम-जानपदों द्वारा नालंदा के अधिकारियों को जो पत्रादि भेजे जाते थे उन सब पर उनकी मुहर रहती थी[1]। यह निश्चितप्राय है कि बिहार में ग्राम-जानपद नियमित संस्थाओं का रूप धारण कर चुकी थीं जिनकी नियमित बैठकें हुआ करती थीं और जिनके निर्णय वा व्यवस्था मुहर लगाकर बाहरियों को प्रेषित किये जाते थे।

पल्लव[2] और वाकाटक[3] राज्य में (२५०-५५० ई०) 'महत्तर' नाम धारण करनेवाले ग्रामवृद्ध ग्राम का शासनकार्य कर रहे थे, पर यह ज्ञात नहीं कि किसी समिति का विकास हो चुका था या नहीं। परंतु गुजरात और दक्खन[4] के उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि ६०० ई० के लगभग 'ग्राम वृद्ध' अपनी एक कार्यकारिणी-समिति संघटित कर चुके थे जिसे 'महत्तराधिकारिणः' या 'अधिकारि-महत्तराः' कहा जाता था। राजपूताने में प्राप्त लेखों से भी ऐसी ही स्थिति का पता चलता है, यहाँ कार्यकारिणी-समिति 'पंचकुल'[5] नाम से प्रसिद्ध थी और 'महंत'[6] नाम से अभिहित एक मुखिया की अध्यक्षता में कार्य करती थी। निःसंदेह यह बड़ी महत्वपूर्ण संस्था थी क्योंकि राजकुल के दानों की सूचना भी इसकी बैठकों में दी जानी आवश्यक थी[7]। गहड़वाल लेखों में भी 'महत्तर' या 'महत्तम'[8] का उल्लेख मिलता है पर उनकी कोई नियमित समिति संघटित हो पायी थी या नहीं इसका पता नहीं चलता।

---

१ मे. आ. स. इं., ६६, पृ. ४७ से आगे।

२ एपि. ७, पृ. १४५।

३ एपि. इं. १९., पृ. १०२।

४ सर्वानेव राजसामन्त...ग्राममहत्तराधिकारिकान्...। इं. ऐं. १३, पृ. ७७ सर्वानेव राष्ट्रपति ..ग्रामकूटायुक्तकनियुक्तकाधिकारिकमहत्तरादीन्। इंडि. ऐंटि., १३ पृ. १५। देखिये, अलतेकर, 'विलेज कम्यूनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया' पृ. २०-२१

५ एपि. इं. ११ पृ. ५८। बॉ. गॅ. १. १. पृ. ४७४-५।

६ एपि. ११ पृ. ५६।

७ वही ११ पृ. ४९-५०।

८ इं. ऐं., १८, ३४-५; एपि. इं., ३. १६६-७।

चोल राजवंश के (९००-१३०० ई०) लेखों से तामिल देश में ग्रामसभा और उसकी 'समिति' के कार्यों का अधिक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है[१]। साधारण ग्रामों की ग्रामसभा 'उर' और अग्रहार ग्रामों की, जहाँ अधिकतर विद्वान ब्राह्मण रहते थे, 'सभा' कही जाती थी। कभी-कभी दोनों प्रकार की संस्थाएँ एक ही ग्राम में पायी जाती हैं। संभवतः ऐसा तब होता था जब नयी ब्राह्मण बस्ती छोटी होती थी[२]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ग्रामसभा के सदस्य सभी गृहस्थ होते थे। इसके अधिवेशन की सूचना डुग्गी पिटवाकर दी जाती थी[३]। इसका एक प्रधान कार्य कार्यकारिणी-समिति या पंचायत का चुनाव था। 'उर' में एकत्र सब ग्रामवासियों की राय से यह चुनाव होता था[४]। पर इसकी प्रणाली ज्ञात नहीं। स्वीकृति संभवतः मौखिक रूप में ही दी जाती थी, और प्रतिष्ठित व्यक्तियों का कहना माना जाता था। कार्यकारिणी का नाम 'आलुंगनम्' (शासक समिति) था, मगर इसके सदस्यों की संख्या विदित नहीं है।

ग्रामसभा और इसकी कार्यकारिणी का सबसे अच्छा और विस्तृत विवरण 'अग्रहार' ग्रामों के बारे में मिलता है। इनके निवासी अधिकतर विद्वान ब्राह्मण होते थे, जो समाज के सबसे सुसंस्कृत और शिक्षित वर्ग थे। इनमें से कुछ ने ग्रामसभा की कार्यकारिणी या पंचायत के विधान का विस्तृत विवरण दे कर इतिहास का बड़ा ही उपकार किया है। इससे अच्छा और पूर्ण विवरण उत्तर मेरूर ग्राम के प्रसिद्ध लेखों से मिलता है। यह ग्राम चिंगलीपत जिले में अत्यल्प परिवर्तित 'उत्तर मल्लूर' नाम से अभी तक विद्यमान है[५]।

---

१ देखिये—ए. नीलकंठ शास्त्री, दि चोल, अध्याय १८ और 'स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एंड एडमिनिस्ट्रेशन' पृ. ७३-१६३ तथा एस. के. आयंगर— 'ऐडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन इन साउथ इंडिया', अध्याय ५।

२ तिरुवेवूर में यही स्थिति थी (सौ. इं. ए. रि., १९१४ ई. सं. ११२ और १२३) और तिरमूर में भी (सौ. इं. ए. रि., १९१७ सं. २०१, २१६)

३ सौ. इं. ए रि., १९२१-सं. १५३, १८९६ सं. ८५, १९१४ सं. ७२, और १९१७ सं. १०३।

४ सौ. इं. ए. रि., १९३२ ई. सं. ८९।

५ इन लेखों के मूल के लिए देखिये, के. ए. एन. शास्त्री, स्टडीज इन चोल हिस्ट्री तथा अ. स. रि., १९०५।

इस ग्राम का शासनकार्य ग्रामसभा की पाँच उप-समीतियों द्वारा होता था। सब सदस्य अवैतनिक कार्य करते थे और उनका कार्य-काल एक साल था। अनुचित कार्य करने पर वे बीच में भी हटाये जा सकते थे। ग्राम के प्रत्येक योग्य निवासी को काम करने का अवसर देने के लिए यह नियम बनाया गया था कि एक बार किसी उप-समिति में रह चुकने पर पुनः तीन वर्ष तक उस व्यक्ति का उक्त उपसमितियों में अंतर्भाव न हो। दुश्चरित्र और सार्वजनिक धन का दुरुपयोग करनेवाला व्यक्ति या उसके निकटसंबंधी सदस्यता के अधिकार से वंचित कर दिये जाते थे। संबंधियों को भी दंडित करने का उद्देश्य इस कार्य की गर्हणीयता पर जोर देना था। सदस्य न तो बहुत कम वय के होने चाहिये न बहुत अधिक वय के, उनकी अवस्था ३५ के ऊपर पर ७० के नीचे होनी आवश्यक थी। सदस्यता के लिए इतने प्रतिबंधों के अतिरिक्त सदस्य के पास अपना मकान और कम से कम चौथाई 'वेलि' (लगभग २ एकड़) कर देने वाली भूमि होना जरूरी था इसका उद्देश्य यह था कि हैसियतदार व्यक्तियों को ही सार्वजनिक धन की व्यवस्था का भार सौंपा जाय। पर वेद, स्मृति और भाष्य (दर्शन) के विद्वान के लिए एक एकड़ जमीन का स्वामित्व भी पर्याप्त माना जाता था। यह स्वाभाविक ही था कि 'अग्रहार' ग्राम की उपसमितियों के सदस्य यथासंभव अच्छे हैसियतदार, विद्वान, सच्चरित्र और ईमानदार व्यक्ति हों। यह उल्लेखनीय है कि इन उपसमितियों में किसी सरकारी कर्मचारी को स्थान न था। दक्षिण के ग्रामों के 'महत्तराधिकारी' भी उत्कीर्ण लेखों में सरकारी कर्मचारियों से एकदम अलग रखे गये हैं।

पर यह न समझ लेना चाहिये कि ये नियम अग्रहार ग्रामों में भी सर्वत्र बिना अपवाद लागू किये जाते थे। ग्रामसभा का विकास गाँव के लोगों के एक स्थान पर एकत्र होकर सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्य विविध विषयों पर बातचीत करने की प्रथा से हुआ। इन चर्चाओं के फलस्वरूप कुछ नियम धीरे-धीरे बने और आपसी बैठक ने एक संस्था का रूप ग्रहण किया। उत्कीर्ण लेखों में इनका उल्लेख ८वीं सदी के अंतिम चरण से मिलने लगता है। प्रत्येक 'सभा' का अपना स्वतंत्र विधान रहता था यद्यपि इनका साधारणरूप लगभग एक सा ही था। यथा, कहीं सदस्य होने की कम से कम वय ३५ तो कहीं साल ४० थी। कहीं सदस्य ३ साल के अंतर के बाद पुनर्निर्वाचन के अधिकारी थे तो कहीं ५ और कहीं-कहीं १० साल के बाद भी। कुछ सभाओं

में यहाँ तक कड़ाई थी कि एक बार निर्वाचित सदस्य के निकटसंबंधियों को भी ५ वर्ष तक सदस्य होने की अनुमति न थी[1]। उपसमितियों की संख्या और कार्यों में भी परिस्थिति के अनुसार अंतर होता था।

प्रत्येक सभा अपना विधान स्वयं बनाती थी। सबसे पुराने विधान का उदाहरण माननिलैनल्लूर ग्राम की महासभा का है। इसका विधान एक विशेष अधिवेशन में निर्मित हुआ था, जिसकी सूचना डुग्गी पीट कर दी गयी थी[2]। विधान में संशोधन भी सभा द्वारा ही किये जाते थे। कभी-कभी तो दो महीने के अंदर ही विधान-संशोधन किये जाने के उदाहरण मिलते हैं[3]।

उत्तर मेरूर में ग्रामसभा की पंचायत या कार्यकारिणी-सभा के सदस्य चिट्ठी डाल कर चुने जाते थे। ग्राम के तीसों 'वार्डों' में से प्रत्येक द्वारा कई व्यक्तियों के नाम प्रस्तावित किये जाते थे, प्रत्येक उम्मेदवार का नाम अलग-अलग पुर्जियों पर लिख लिया जाता था। हरएक वार्ड की पुर्जियाँ एक बर्तन में रख दी जाती थीं और किसी अबोध बालक से एक चिट्ठी उठाने को कहा जाता था। जिसके नाम की चिट्ठी उठती थी वह उस वार्ड का प्रतिनिधि घोषित किया जाता था, इस प्रकार किसी पैरवी, प्रचार या दलबंदी की आवश्यकता ही न पड़ती थी।

इस प्रकार निर्वाचित ३० आदमी भिन्न-भिन्न उपसमितियों में रख दिये जाते थे। पहली उपसमिति गाँव के उद्यानों और फल की बगियों की देख-रेख करती थी, दूसरी गाँव के सरोवर और जलप्रणाली की, तीसरी आपसी झगड़ों के निपटारे का महत्वपूर्ण कार्य करती थी। चौथी 'स्वर्ण उपसमिति' थी, इसका काम निष्पक्षभाव से सबका सोना परख कर उसका मान निर्धारित करना था। इस समिति में विशेषज्ञ ही रखे जाते थे। उस समय कोई निश्चित मुद्रा प्रणाली न थी इसलिए कर के रूप में या क्रय-विक्रय के माध्यम रूप में जो सोना दिया जाता था उसकी ठीक परख और मूल्यनिर्धारण करना अत्यावश्यक था। इस उपसमिति के सदस्यों के चुनाव की विशेष विधि नियत थी। पाँचवीं उपसमिति 'पंचवार' समिति कही जाती थी, मगर इसका कार्य ठीक ज्ञात नहीं।

एक उपसमिति की सदस्यता का कार्य-काल पूरा हो जाने के बाद निश्चित

---

१ सौ. इं. ए. रि., १९२०, सं. २८। १९२५, सं. ५००।

२ शास्त्री—चोल स्टडीज, पृ. ८२।

३ सौ. इं. ए. रि., १९२२ ई. सं. २४० और २४१।

व्यवधान बीत जाने पर पुनर्निर्वाचित होने पर उक्त सदस्य किसी दूसरी उपसमित में रखे जाते थे। इससे उन्हें ग्राम-शासन के अनेक अंगों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

इन पाँच उपसमितियों के अतिरिक्त, सब पर देख-रेख के लिए एक समिति और थी जिसे 'सांवत्सरवारीयम्' (वार्षिक समिति) कहते थे। इसके सदस्य केवल अनुभवी व्यक्ति ही हो सकते थे, जो विविध उपसमितियों में काम का अनुभव रखते थे।

उपसमितियों की संख्या और कार्य-क्षेत्र प्रत्येक ग्राम की आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न रहती थी। एक लेख से[1] भूमि-माप-समिति का पता चलता है। इसका काम भूमि की नाप-जोख और वर्गीकरण करना और यह देखना था कि सरकारी नाप या भूमिकर भी उचित और न्यायसम्मत हो। एक अन्य लेख में[2] देवालय-समिति का भी उल्लेख है। अग्रहार ग्रामों में विद्यालय भी रहते थे अतः संभव है कि इनमें एक शिक्षा-समिति भी रहती हो।

यह देखा जा चुका है कि गुप्त और परवर्ती काल में बिहार, राजपूताना, महाराष्ट्र, और कर्नाटक में ग्रामसभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ भी कायम हो चुकी थीं। पर स्मृतियों या उत्कीर्ण लेखों से इनके संघटन के बारे में कुछ जानकारी नहीं प्राप्त होती। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है तामिल देश में प्रतिवर्ष इस समिति का पुनस्संघटन होता था। राजपूताना में भीनमाल के एक लेख (१२७७ ई०) में पंचकुल (कार्यकारिणी-समिति) के सदस्यों द्वारा एक दान का वर्णन है, जिसमें सदस्य यह लिख देते हैं कि दान हम करते हैं पर इसका श्रेय जो-जो भविष्य में इस पद पर आवें उन सबका रहेगा[3]। इससे जान पड़ता है कि उत्तर भारत में भी इस समिति का निश्चित अवधि पर पुनस्संघटन हुआ करता था। पर यह ज्ञात नहीं कि इनका कार्यकाल क्या था। उत्तरमेरूर में निर्वाचन चिट्ठी द्वारा होता था। आजकल के समान दलबंदी और तड़बंदी वाली चुनाव-प्रणाली संभवतः प्राचीन भारत में कहीं न थी। गाँव के सद्गृहस्थों

---

१ सौ. इं. ए. रि., १९१३ सं. २६२।

२ सौ. इं. ए. रि., १९१५-६ पृ.११५।

३ यस्मात्पंचकुलः सर्वो मंतव्य इति सर्वदा।
तस्य तस्य तदा श्रेयो यस्य यस्य यदा पदम्॥ बॉ. गॅ., १, १ पृ. ४८०

की सभा में साधारण जनमत के अनुसार प्रमुख व्यक्ति कार्यकारिणी के लिए चुन लिये जाते थे। इसमें जात-पाँत के भेदभाव का असर न पड़ता था। गुप्तकाल में इन समितियों में बहुत से ब्राह्मणेतर जातिवाले काम करते दिखाई देते हैं और मराठा शासन-काल में तो ग्राम-पंचायत के फैसलों पर अब्राह्मण ही नहीं अस्पृश्यों तक के हस्ताक्षर मिलते हैं[1]।

कर्नाटक में तामिल देश की भाँति ग्रामसभा को उपसमितियों में विभाजित करने की प्रथा न थी। बहुत से उत्कीर्ण लेखों से पता चलता है कि ग्राम के महाजन पाठशालाओं का प्रबंध, सरोवरों और धर्मशालाओं का निर्माण, सार्वजनिक कार्यों के लिए चंदा, तथा धर्मार्थ निधियों और थातियों (trusts) के संरक्षण और प्रबंध आदि कार्य किया करते थे। इन विविध कार्यों के लिए उपसमितियों का निर्माण होना स्वाभाविक बात होती पर लेखों में इनका कभी भी उल्लेख नहीं किया जाता[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम-महाजन इन कार्यों को अपनी कार्यकारिणी-समिति पर छोड़ देते थे, इसमें ३ या ५ सदस्य होते थे[3]। ये लोग आवश्यकतानुसार ग्राम के अन्य प्रमुख जनों की सहायता लेते थे।

उत्तर भारत में भी संभवतः चोल देश के समान उपसमितियाँ न थीं। यहाँ ग्राम-समिति में ५ सदस्यों की संख्या नियत थी, इसे स्पष्ट रूप से गुप्तकाल में 'पंच-मण्डली' कहा जाता था[4]। मध्यकालीन कई लेखों में भी इसे 'पंचकुली' कहा गया है[5]। अस्तु, ५ सदस्यों की छोटी सी संस्था की उपसमितियाँ क्या हो सकती थीं।

अब ग्राम पंचायत के कार्यों पर दृष्टिपात किया जायगा। दक्षिण भारत के कई उल्लेखों से प्रकट होता है कि भूमिकर वसूल करने की जिम्मेदारी इसी पर थी। अकाल तथा अन्य संकट पड़ने पर यही राज्य से लगान में छूट आदि कराने की व्यवस्था करती थी। पर एक बार इसका परिमाण तय हो जाने पर ग्राम-पंचायत उसकी वसूली के लिए भी जिम्मेदार हो जाती थी और इस कार्य

---

१ ऐतिहासिक लेख संग्रह, १६ पृ. ५५।

२ अल्तेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. २०३।

३ ,, ,, पृ. २०२।

४ को. इं. इं., ३, पृ. ३१;

५ ए. इं., ११, पृ. ४९; ५६; बॉ. गॅ., १.१ ४७४

के लिए उसे सब प्रकार की कारवाई, बकाया लगान वालों की भूमि का नीलाम भी करना पड़ता था। वार्षिक कर की रकम एकमुश्त भी ग्राम-पंचायत के पास जमा की जा सकती थी। इस दशा में पंचायत इसे राज्य-कर देने से मुक्त कर सकती थी। यह कर जमा की हुई रकम के व्याज से दिया जाता था।

इसमें संदेह है कि उत्तर भारत, महाराष्ट्र और कर्नाटक की ग्राम-पंचायतों को भूमिकरों के संबंध में चोल देश की पंचायतों के समान विस्तृत अधिकार थे। कम से कम उत्कीर्ण लेख तो इस विषय में मौन ही हैं।

ग्राम की ऊसर भूमि का स्वामित्व भी पंचायत को ही रहता था। गुप्तकाल में राज्य ग्राम की पंचायत की सम्मति से ही इन्हें बेच सकता था[१]। बहुत से चोल लेखों में पंचायतों द्वारा भूमि के विक्रय का वर्णन है, इनमें से संभवतः बहुत से ऐसे भी ऊसर रहे होंगे, जो खेती के योग्य बनाये जा चुके थे[२]।

गाँववालों के झगड़े निपटाना पंचायत के सबसे महत्वपूर्ण कार्यों में था[३]। पहले तो घर और बिरादरी के बड़े-बूढ़े ही झगड़ा निपटाने का प्रयत्न करते थे, उनके विफल होने पर मामला पंचायत में जाता था। गंभीर अपराध स्वभावतः पंचायत की अधिकार सीमा के बाहर थे, क्योंकि इसमें प्राणदंड आदि कड़े दंडों की आवश्यकता पड़ती थी और इसका अधिकार उच्च राजकीय न्यायालय को ही होना उचित था। पर संयोगवश किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने की घटनाएँ चोल काल में अक्सर पंचायत ही निर्णय किया करती थीं[४]।

पर दीवानी मामलों में पंचायत के अधिकारों की कोई सीमा न थी। हजारों रुपयों की संपत्ति के झगड़े भी वह तय कर सकती थी।

कुछ लेखकों का यह मत है कि पंचायतों को न्याय के अधिकार मिलने का कारण तत्कालीन अराजकता और राजकीय न्यायालयों का अभाव था। पर स्मृतियों, उत्कीर्ण लेखों और मराठा शासन के कागज-पत्रों से प्राप्त जानकारी

---

१ एपि. इं. १५, पृ. १३०।

२ सौ. इं. ए. रि., १९१० सं. ३१२, ३१९ और ३२८।

३ वैदिककाल में भी यह कार्य उनके द्वारा किया जाता था चूँकि सभाचर का संबंध धर्म या न्यायदान से दिखाई पड़ता है।

४ सौ. इं. ए. रि., १९०० सं. ६४ और ७७; १९०३ सं. २२३; १९०९ सं. २५७, ३५२

इस मत को पूर्ण भ्रामक और निराधार सिद्ध कर देती है। स्मृतियों का कथन है कि पंचायत का नियमानुकूल निर्णय राजा को भी मान्य होना चाहिये क्योंकि उसी के द्वारा पंचायत को न्याय का अधिकार दिया गया है[१]। मराठाकाल के अनेक कागजों से ज्ञात होता है कि शिवाजी, राजाराम और शाहू आदि, जो मामले उनके पास सीधे लाये जाते थे, उन्हें वे स्वयं न सुन कर ग्राम-पंचायत के पास भेज दिया करते थे[२]। बीजापुर के मुसलमान सुलतान भी ऐसा ही करते थे। मसूर ग्राम की पंचायत ने ग्राम के मुखिया-पद के अधिकार के झगड़े का निश्चय किसी बापा जी मुसलमान के विरुद्ध किया। तालुका पंचायत से भी यही निर्णय कायम रहा। इस पर बापा जी मुसलमान ने सीधे इब्राहीम आदिलशाह के पास फरियाद की कि सांप्रदायिक द्वेष के कारण उसके साथ अन्याय हुआ है। सुलतान ने स्वयं सुनने के बजाय प्रसिद्ध हिंदू तीर्थ-स्थान पैठन-ग्राम की पंचायत के पास मामला पुनर्विचार के लिए भेजा। इस पंचायत ने भी फरियादी बापा जी मुसलमान के विरुद्ध ही निर्णय दिया और इब्राहीम आदिल शाह ने भी इसमें हस्तक्षेप करने से इनकार किया[३]। इससे प्रकट होता है कि राज्य की सुविचारित नीति पंचायतों को व्यापक न्यायाधिकार देने की थी। और लोगों को पंचायत की शरण लेने के सिवा और कोई उपाय न था।

यद्यपि ये प्रबल प्रमाण बाद के हैं फिर भी इनके बल पर यह निष्कर्ष किया जा सकता है कि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में भी ग्राम-न्यायालय, जिन्हें याज्ञवल्क्य ने 'पूग' संज्ञा दी है, इसी प्रकार कार्य कर रहे थे। यह दुर्भाग्य का विषय है कि इनके कार्यकलाप के विषय में तत्कालीन ग्रंथों अथवा उत्कीर्ण लेखों से कोई विवरण नहीं प्राप्त होता। परन्तु बहुत से दानपत्रों में गाँव के अपराधियों के छोटे-मोटे जुर्माने दान पाने वाले व्यक्ति को दिये गये हैं, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त मामलों का फैसला ग्राम-पंचायतों द्वारा ही हुआ होगा[४]।

---

१ तैः कृतं यत्स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्।
तद्राज्ञाऽप्यनुमंतव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥ याज्ञवल्क्य २।३०।

२ अलतेकर, विलेज कम्यूनिटीज पृ. ४५-६।

३ पारसनीस, ऐति. ले. सं. १६ सं ८२। अलतेकर, वि. क. पृ० ४४-५

४ पंचायतों की न्यायदान प्रणाली के अधिक विवेचन के लिये अलतेकर—विलेज कम्यूनिटीज, पृ० ४२-५१ देखो।

कुछ गाँवों में देवालयों के प्रबंध के लिए उनकी अलग समिति होती थी। पर जहाँ ऐसा न था ग्राम-पंचायत या उसकी कोई उपसमिति इसकी देख-रेख करती थी कि मंदिर की मरम्मत, पूजा, अर्चा आदि ठीक से हो और धर्मार्थ संपत्ति का दुरुपयोग न हो[1]।

दक्षिण भारत के उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि ग्राम-पंचायतें साहूकार का भी काम किया करती थीं। वे स्थायी निधि का रुपया अपने यहाँ रखती थीं और दाता की इच्छानुसार उसकी आमदनी या सूद का उपयोग करने का जिम्मा लेती थीं[2]। वे एकमुश्त रकम लेकर किसी भूमिखंड को प्रति वर्ष राज्य-कर देने से मुक्त कर दिया करती थीं, और उसी के सूद से कर देने की व्यवस्था कर देती थीं। इस व्यवहार में धन की देनदार ग्रामसभा ही होती थी, उसके व्यक्तिगत सदस्य नहीं। सदस्यों के बदलने पर भी जिम्मेदारी कायम रहती थी। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण भी उत्तरमेरूर ग्राम से मिला है जहाँ सन् १२१५ ई० में सभा से तीन शताब्दी पहले ली हुई जिम्मेदारी पूरी करने को कहा गया। सभा ने बिना आनाकानी किये अपनी जिम्मेदारी स्वीकार की और उसे कुछ न्यून रूप में पूरा करने वादा किया[3]।

अकाल आदि पड़ने पर ग्रामसभा सार्वजनिक भूमि बंधक रखकर पीड़ितों के सहायतार्थ सार्वजनिक ऋण भी लेती थीं। कम से कम चोल काल में तो इसके उदाहरण मिलते हैं। एक गाँव की सभा ने ४$\frac{1}{3}$ 'वेलि' भूमि बंधक रख कर अकालपीड़ित जनों की सहायता हेतु १०११ कलंजु (करीब २५२ तोला) सोना और ४६४ पलम् (= १३३२ तोला) चाँदी ऋण ली[4]। इस प्रकार के व्यवहार में ऋणी ग्राम के देवालय होते थे, क्योंकि इनके साथ पुष्कल संपत्ति होती थी।

ग्रामसभाएँ या पंचायतें सार्वजनिक हित की योजनाएँ भी उठाती थीं। ग्राम का उत्पादन बढ़ाने के लिए जंगली और ऊसर प्रदेशों की कृषियोग्य

---

१ इं. ऐं., १२ पृ. २५८; एपि. इं. ३, पृ. २७५

२ इं. ऐं., १२ पृ. १२०; पृ. २५६; एपि. इं., ६. पृ. १०२, २५३

३ सौ. इं. ए. रि., १८९९-१९०० पृ. २० १८९८ का ६७

४ सौ. इं. ए. रि., १८९८ सं. ६७

बनाया जाता था[१]। चोल काल की और संभवतः सब काल और प्रांतों की ग्राम-सभाएँ सिंचाई की नहरों और सरोवरों का निर्माण और देख-रेख किया करती थीं। जातक कथाओं में ग्रामवासियों द्वारा सड़कों की मरम्मत का बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है[२]। दक्षिण भारत के एक लेख से ज्ञात होता है कि ग्राम-सभा केवल सड़कों की मरम्मत ही नहीं करती थी वरन् दोनों ओर की भूमि खरीद कर उसे प्रशस्त भी कर देती थी[३]। पानी पीने के लिए कुँए भी खोदे जाते थे और सुरक्षित रखे जाते थे। कभी-कभी सभा धर्मशाला भी बनवाती थी।

इससे यह न समझ लेना चाहिये कि ग्रामसभा ग्रामवासियों की भौतिक उन्नति मात्र की ही फिक्र करती थी। ग्रामसभाओं द्वारा सांस्कृतिक और साहित्यिक विकास के कार्यों के भी अनेक उदाहरण हैं। उत्तरमेरूर की सभा द्वारा तीन अवसरों पर व्याकरण, भविष्य पुराण और यजुर्वेद के अध्ययन के लिए वृत्ति बाँधने का उल्लेख मिलता है[४]। बहुत सी ग्राम-सभाएँ वेद-अध्ययन के लिए वेद-वृत्तियाँ भी देती थीं[५]।

अब यह देखना चाहिये कि इन कार्यों के लिए अर्थ की व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि राज्य ग्राम में एकत्र करों का एक भाग ग्राम के हितार्थ खर्च करने की अनुमति देता था। मराठा-काल में ग्राम की रक्षा और सार्वजनिक कार्यों के लिए ग्रामों को राज्य-कर का १०-१५ प्रतिशत खर्च करने की अनुमति थी[६]। प्राचीनकाल में भी संभवतः ऐसा ही होता था यद्यपि इसके स्पष्ट प्रमाण नहीं मिले हैं[७]। ग्राम-पंचायतों द्वारा अपराधियों पर किये गये जुर्माने भी ग्रामसभा की आय का एक साधन

---

१ सौ, इं. ई भाग ३, सं. ११

२ भाग १, पृ० १९९

३ सौ. इं. ए. रि., १८९८ सं. ९

४ सौ. इं. ए. रि. १८९८ सं. १८, २९, और २३०, १९२३ सं. १९४

५ वही, १९१७ सं. ४८१ और ४८७।

६ अलतेकर, विलेज कम्यू. पृ. ७०-७२। मॅन, लैंड ऐंड लेबर इन ए डेकन विलेज, भाग १ पृ. ४२ ५०।

७ अर्थशास्त्र ३. अध्याय १०।

था। ग्राम-सभाओं को अपने ओर से अतिरिक्त कर और चुंगी लगाने का भी अधिकार था। तामिल देश में नलूर ग्राम की सभा ने १०वीं शताब्दी में स्थानीय देवालय से २५ कासु का ऋण लिया था और इसके बदले में उसे देवालय के अहाते में लगने वाले बाजार से कुछ कर उगाहने का अधिकार दिया था[1]। कर्नाटक में सालोटगी ग्राम के निवासियों ने स्थानीय विद्यालय के खर्च के लिए विवाहादि संस्कारों के समय कुछ शुल्क देने का निश्चय किया था[2]। सन् १०६६ ई० में खानदेश के पाटण ग्राम के निवासियों ने भी इसी कार्य के लिए ऐसा ही निश्चय किया था। उत्तर भारत से भी इसी प्रकार सर्वजनोपयोगी कार्यों के लिए ग्राम सभाओं और श्रेणियों द्वारा इसी प्रकार कर लगाये जाने के उदाहरण मिलते हैं[3]।

सार्वजनिक हित की योजनाएँ कार्यान्वित करने में ग्राम-पंचायतों को धर्म भी बड़ा सहायक होता था। कूप, सरोवर, अनाथालय, रुग्णालय आदि का निर्माण स्मृति पुराणों ने पुण्य कार्य में शामिल किया था। उत्तर मेरूर ग्राम के सरोवर की सफाई करने के लिए दो दानियों ने स्थायी निधियाँ स्थापित की थीं[4]। पीने के जल के लिए कुआँ खुदवाने के हेतु भी एक सज्जन ने दान किया था। इस प्रकार के उदाहरण अपवाद नहीं, साधारण स्थिति के निदर्शक हैं।

इन कार्यों के लिए केंद्रीय सरकार से भी धन या सामग्री की सहायता प्राप्त होती थी[5]। बड़े-बड़े निर्माणकार्य जिनका खर्च स्थानीय संस्था उठा सकने में समर्थ न थी तो राज्य ही द्वारा किये जाते थे। काठियावाड़ का गिरनार का इतिहास प्रसिद्ध बाँध इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

ग्रामसभा और उसकी कार्यकारिणी-समिति या पंचायत और उसकी उप-समितियों की कार्यप्रणाली पर भी दृष्टिपात आवश्यक है। ग्रामसभा का अधिवेशन कभी संथागार में, कभी देवालय के मंडप में, और कभी बरगद या

---

१ सौ. इं. ए. इ. १९१० सं ३२।

२ एपि. इं. ४. पृ. ६६।

३ इंडि. एंटि. १२, पृ० ८७। एपि. इं. १, पृ० १८८।

४ सौ इ. ए. रि.. १८९८ सं. ६९ अ और ७४

५ अर्थशास्त्र, २. अध्याय १।

इमली की छाया में भी होता था। सभा में ग्रामवासी सब सद्‌गृहस्थों को शामिल होने का अधिकार था पर संभवतः २०० या ३०० से अधिक उपस्थिति न रहती होगी। साधारणसभा की बैठक कार्यकारिणी-समिति के संघटन के समय होती थी। तामिल देश के अग्रहार ग्रामों में कार्य-समिति का चुनाव चिट्ठी उठा कर होता था। अन्य स्थानों में पहले ग्राम के प्रमुख व्यक्ति मिलकर आपस में विचार कर लेते थे और ऐसी नामावली तैयार करते थे जो प्रायः सबको स्वीकार्य हो, तदुपरांत सभा बुलायी जाती थी, जो साधारणतः प्रमुख व्यक्तियों का। निर्णय मान लेती थी। आजकल की भाँति मत देने की प्रणाली उस काल में न थी।

महत्व के प्रश्न उपस्थित होने पर, यथा अकाल आदि के संकट निवारणार्थ, गाँव की सार्वजनिक भूमि बेचने या ऋण लेने के प्रश्नों पर विचारार्थ भी साधारणसभा की बैठक बुलायी जाती थी। प्राचीन यूनान की भाँति ऐसे अवसर पर वृद्धों की ही राय ली जाती थी। पर कभी-कभी कुछ दुष्ट व्यक्ति अकारण विरोध करके काम में बाधा डालने की चेष्टा भी करते थे, ऐसे व्यक्तियों के लिए तामिल देश की एक ग्राम सभा ने ५ कासु (करीब $\frac{1}{2}$ तोला सोना) के दंड का विधान किया था[1]।

ग्राम की ओर से ग्राम के हेतु दान की स्वीकृति देने के लिए भी ग्रामसभा की बैठक बुलायी जाती थी। विशेषकर कर्नाटक में ऐसे अवसरों पर ग्रामसभा की ओर से दाता को आश्वासन दिया जाता था कि दान की रकम अभिप्रेत कार्य में ही लगायी जायगी। दाता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने की यह बहुत सुन्दर विधि थी।

कार्यसमिति और उसकी उपसमितियों की कार्यप्रणाली के विषय में बहुत कम जानकारी प्राप्त हुई है। संभवतः उत्तर भारत और दक्षिण में गाँव का मुखिया और तामिल देश में 'मध्यस्थ' इनकी बैठकों में अध्यक्ष होते थे। बैठक ग्रामकार्यालय (चावड़ी) में होती थी। ग्राम का मुनीम कार्यवाही का लेख भी रखता रहा होगा, खासकर दान आदि की स्वीकृति और करों की माफी आदि का। कभी-कभी इस विषय के महत्त्वपूर्ण निश्चय देवालय की दीवारों पर अंकित भी कर दिये जाते थे। इन्हीं अंकित विवरणों से आज हम इनके बारे में इतना जान सके हैं।

---

१ सौ. इं. ए. रि., १९०६ सं. ४२३।

अब केंद्रीय सरकार और ग्राम-पंचायत या सभा के संबंध पर विचार किया जायगा। कुछ स्मृतियों में कहा गया है कि ग्राम-पंचायतों के अधिकार राजा या केंद्रीय शासन से प्रदत्त हैं[1]। यह कथन राज्य के सार्वभौम अधिकारों का सूचक है पर ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। प्राचीन भारत के अधिकांश राजवंश दो शताब्दियों से अधिक न कायम रह सके। पर ग्राम संस्थाएँ और पंचायतें सनातनकाल से चली आती थीं और उनके अधिकार भी परंपरागत थे, किसी राज्य-विशेष से कानून द्वारा प्रदत्त न थे। जब केंद्रीयशक्ति अधिक विकसित और सुसंघटित हुई तो इसने ग्राम-संस्थाओं के अधिकारों में कमी करने का भी प्रयत्न बीच-बीच में किया। कभी-कभी विधान में संशोधन के अवसर पर ग्राम-सभा की बैठकों में राज्य के अधिकारी के भी उपस्थित रहने के भी उदाहरण मिलते हैं,[2] कभी-कभी नियमों पर स्वयं राजा की स्वीकृति दिये जाने के भी उल्लेख मिलते हैं[3]। परन्तु ये असाधारण घटनाएँ जान पड़ती हैं। संभव है कि ग्रामसभा के अधिवेशन के समय ग्राम में उपस्थित रहने पर राजअधिकारी भी उसमें चले जाते हों, और ग्रामसभाओं द्वारा पेश किये जाने पर राजा उनके नियमों पर अपनी बाजाप्ता स्वीकृति की मुहर लगा देते रहे हों। प्राप्त प्रमाणों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यही प्रकट होगा कि ग्रामसभाएँ स्वयं अपना विधान बनाती थीं, केंद्रीय सरकार नहीं। उत्तर भारत में भी संभवतः यही स्थिति थी, यहाँ तो ग्राम की कार्यकारिणी-समिति में प्रायः पाँच ही सदस्य होते थे, जो ग्रामसमाज द्वारा उस पर प्रतिष्ठित किये जाते थे। केंद्रीय सरकार को विधान-निर्माण में हस्तक्षेप करने का कोई अवसर ही न था।

उत्तर और दक्षिण भारत से ऐसे बहुत से लेख मिले हैं जिनमें राजा द्वारा ग्राम के मुखिया और पंचायत को दिये गये आदेशों का विवरण है, इससे पता चलता है कि केंद्रीय सरकार को ग्राम-व्यवस्था के साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार रहता था। इस अधिकार का उपयोग यों होता था कि कभी-कभी जिले का शासक कुछ पूछ-ताछ के लिए मुखिया को अपने दफ्तर में बुला लेता था और ग्राम-पंचायत के साधारण प्रबंध और हिसाब-किताब की जाँच के लिए निरीक्षक भेजे जाते थे। केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों द्वारा ग्राम-पंचायत के

---

१ याज्ञवल्क्य २, ३०

२ ९१९ ई. में उत्तर मेरूर में ऐसा हुआ था, अ. स. रि., १९०५

३ सौ. इं. ए. रि., १९२७ सं १४८।

हिसाब-किताब की निर्धारितअवधि पर जाँच का उल्लेख चोलकालीन लेखों में किया गया है, और अन्य राज्यों में भी यही स्थिति रही होगी। काम में गड़बड़ करने पर ग्राम-पंचायत के सदस्यों को सभा स्वयं पदच्युत कर देती थी, पर कभी-कभी केन्द्रीय सरकार भी उनपर जुर्माना किया करती थी[1]। दो ग्राम-पंचायत में झगड़ा होने पर साधारणतः मामला केन्द्रीय सरकार के सामने ही पेश किया जाता था, पर एक उदाहरण ऐसा भी मिला है जिसमें दो ग्रामों में झगड़ होने पर तीसरे ग्राम की पंचायत निर्णायक बनायी गयी[2]।

अस्तु, निष्कर्ष यह है कि केन्द्रीय सरकार को केवल साधारण निरीक्षण एवं नियंत्रण का अधिकार था। ग्राम-प्रबंध की पूरी जिम्मेदारी ग्रामसभा या पंचायत पर ही थी और उसे अधिकार भी बहुत थे। ग्राम-पंचायतें ग्राम की रक्षा का प्रबंध करती थीं, राज्य-कर एकत्र करती थीं, और अपने कर भी लगाती थीं, गाँव-वालों के झगड़े का फैसला करती थीं और सार्वजनिक हित की योजनाएँ हाथ में लेती थीं, साहूकार और विश्वस्त का कार्य करती थीं, सार्वजनिक ऋण आदि लेकर अकाल और अन्य संकटों के निवारण का उपाय करती थीं, पाठशालाएँ, शिक्षालय, अनाथालय आदि खोलती और चलाती थीं, और देवालयों द्वारा विविध सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करती थीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिककाल में हिंदुस्थान या योरप-अमेरिका में ग्राम-संस्थाओं को जितने अधिकार प्राप्त हैं उनसे कहीं अधिक इन प्राचीनकालीन ग्राम-संस्थाओं को थे और इनकी रक्षा करने में वे हमेशा सावधान रहती थीं। ग्राम-वासियों के अभ्युदय और उनकी सर्वांगीण भौतिक, नैतिक और धार्मिक उन्नति के साधन में इनका भाग प्रशंसनीय और महत्वपूर्ण था।

---

१ सौ. इ. ए. रि., १९१५ सं. १८२-१९१०, सं. २६८

२ वही, १९३२ सं. २९

अध्याय १२

न्यायदान-पद्धति

●

आधुनिक युग में शासनप्रणाली का न्यायदान-पद्धति एक महत्व का अंग है। अपराधियों को दंडित होते हुए देखकर ही[1] सामान्य नागरिक राज्य के सर्वंकष सामर्थ्य से परिचित होता है। इसमें संदेह नहीं है कि न्यायकोर्ट या अदालत (न्यायालय) ही राज्य के प्रभावी शक्ति का देदीप्यमान प्रतीक है।

किन्तु प्राचीनकाल में ऐसी स्थिति नहीं थी। जैसे यूरप में वैसे भारत में भी अपने क्षतिपूर्ति के लिए हरएक व्यक्ति को स्वयं ही उपाययोजना करनी पड़ती थी। प्राचीन इग्लैंड, आयरलैंड व भारत में यह प्रथा थी कि क्षतिग्रस्त मनुष्य अपराधी के मकान के सामने तब तक धरणा धर कर बैठे व उसको बाहर जाने से रोके जब तक अपराधी उसे उचित मात्रा में क्षतिपूर्ति (मुआवजा) देने को तैयार न हो। इग्लैंड के अलफ्रेड राजा के एक कानून में लिखा है, "यदि अपराधी अपने मकान में छिपकर बैठा हो, तो पहले उसके प्रतिस्पर्धी को उससे न्याय माँगना चाहिये; यदि वह वैसा न करे तब ही वह उससे लड़ सकता है। किन्तु लड़ने के पहले सात दिनों तक अपराधी को मकान में घेरकर, उसे इन्तजार करना चाहिए। यदि अपराधी अपराध स्वीकार करे व अपने सब शस्त्र समर्पण करे, तो उसे और तीस दिनों की अवधि देना चाहिये, इसलिए कि उसके मित्र व रिश्तेदार भी उसे क्षतिपूर्ति में मदद करें। यदि वह क्षतिग्रस्त मनुष्य अपराधी को घेरने में असमर्थ हो तब उसे अपने जमीनदार के सामने शिकायत करनी चाहिए, व यदि वह कुछ मदद न करे, तो राजा के सामने। राजा को कहने के पश्चात् वह अपने प्रतिस्पर्धी के साथ लड़ सकता है।" इससे यह स्पष्ट होगा कि दसवीं सदी तक इङ्गलैंड में अदालतें (न्यायालय) प्रायः अविद्यमान थीं। हरएक व्यक्ति को अपने-अपने रिश्तेदारों के सामर्थ्य पर ही क्षतिपूर्ति के लिए निर्भर रहना पड़ता था।

---

१ सर हेन्री मेन, अर्ली इन्सटीट्यूशन्स, पृ० ३०३

प्राचीन हिन्दुस्तान में भी करीब-करीब वैसी ही परिस्थिति थी। मनुस्मृति में लिखा है कि क्षतिग्रस्त मनुष्य न्यायालय में फर्याद कर सकता है या धरणा धर के या बलप्रयोग करके भी अपनी क्षतिपूर्ति पा सकता है[1]। नारदस्मृति भी तब बल प्रयोग अनुचित मानती थी जब क्षतिपूर्ति विवाद्य विषय हो या राजा की अनुमति बलप्रयोग के लिए नहीं मिली हो[2]। धर्मशास्त्रों में खून के लिए भी मृत मनुष्य के वर्ण के अनुसार क्षतिपूर्ति ही विहित है, न कि कारावास या देहांत-दंड। इससे यह स्पष्ट होता है कि खून-ऐसी गम्भीर घटना भी समाज या राज्य के विरुद्ध अपराध नहीं समझी जाती थी, किन्तु केवल वैयक्तिक क्षतिपूर्ति की बात।

अब हमें इसमें कुछ आश्चर्य न प्रतीत होगा कि वैदिक वाङ्मय में अदालतों या न्यायालयों के निर्देश नहीं मिलते हैं। वैदिक वाङ्मय में प्रधान न्यायाधीश के हैसियत में राजा का उल्लेख नहीं मिलता है, न दीवानी या फौजदारी अदालतों का। खून, चोरी, व्यभिचार इत्यादि अपराधों के निर्देश मिलते हैं किन्तु किसी अधिकारी का नहीं जो उनके दंड देने के लिए नियुक्त किया जाता था। चूँकि वेदोत्तरकाल में राजा प्रधान न्यायाधीश का काम करता था, इसलिए यदि चाहें तो हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वैदिककाल में भी वैसी ही परिस्थिति होगी। किन्तु इस अनुमान के लिए कुछ भी प्रमाण नहीं है। कुछ लोग यह मानते हैं कि सभापति न्यायाधीश का काम करता होगा किन्तु उसकी प्रांतपाल होने की भी काफी संभावना है[3]। उत्तरवैदिक वाङ्मय में मध्यमशी शब्द आता है, किन्तु उसका अर्थ समझौता करने वाला था न कि न्यायाधीश। जब वादी-प्रतिवादी में समझौता करना संभवनीय था तब प्रायः यह कार्य ग्राम-सभा द्वारा किया जाता था ऐसा प्रतीत होता है, राजा का कुछ इसमें हाथ न था। पुरुषमेध में 'सभाचर' का संबध धर्म या विधिनियमों से है, इससे भी उपरिनिर्दिष्ट अनुमान को पुष्टि मिलती है। हो सकता है कि 'प्रश्निन् व अभि-

---

१ धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च ॥ ८.४१

२ अनावेद्य तु यो राज्ञे संदिग्धेऽर्थे प्रवर्तते।
प्रसह्य स विनेयः स्यात्सचास्यार्थो न सिध्यति ॥ १.४५

३ केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग १, पृ० १३१-२

प्रश्निन्[1] से वादी-प्रतिवादी संकेतित हो। किन्तु ये प्रश्निन् व अभिप्रश्निन् केवल वे वादी-प्रतिवादी थे जो स्वयं क्षतिपूर्ति पाने में असमर्थ होने के कारण न्यायालय का आश्रय ग्रहण करते थे।

अर्थशास्त्र व धर्मसूत्रों में पूर्ण विकसित न्यायदान-प्रणाली का चित्र हमें मिलता है। यह विकास बीच के काल में कैसा हुआ इसका ज्ञान हमें नहीं है।

इस समय न्यायालयों का मुख्याधिपति राजा था और वह स्वयं प्रतिदिन न्यायदान करता था। अपराधियों को उचित दंड देना उसका पवित्र कर्तव्य था; यदि इस कर्तव्य का पालन उससे न हो तो उसे नरकवास का दुःख भोगना पड़ता था। धर्मशास्त्र के अनुसार चोर का यह कर्तव्य था कि वह मुसल लेकर राजा के पास जावे व अपना अपराध घोषित करे। यदि राजा मुसल से उसका शिरो-भंग करें, तो चोर पापक्षालित होकर तुरन्त स्वर्ग को जाता था, यदि राजा उसे प्राणदंड न दे, तो वह स्वयं नरकभागी होता था[1]।

धर्मशास्त्र व नीतिशास्त्र के ग्रंथ राजा को प्रधान न्यायाधीश मानते हैं। उसे प्रतिदिन डेढ़-दो घंटा न्यायदान में लगाना आवश्यक था। वैसे तो राजा को अधिकार था कि वह चाहे जिस मामले का निर्णय करे, किन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में केवल महत्व के मुकदमे उसके सामने रखे जाते थे। कभी-कभी उनका भी विचार करने के लिए उसे समय न रहता था; तब प्राड्विवाक या मुख्य न्यायाधीश राज्य के मुख्य न्यायालय का सब कार्य करता था।

राजा के सामने ही अंतिम अपील विचारार्थ आती थी। नारदस्मृति के अनुसार[2] ग्रामन्यायालय में निर्णय होने के बाद अयशस्वी व्यक्ति नगरन्यायालय में अपील कर सकता है; नगरन्यायालय के विरुद्ध राजन्यायालय में अपील हो सकती थी; किन्तु राजा का न्यायनिर्णय ठीक हो या न हो, इसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती थी।

राजा का यह कर्तव्य था कि न्यायदान में यह बिलकुल निष्पक्ष रहे। स्मृति-प्रणीत विधिनियमों के अनुसार न्यायदान करना उसका कर्तव्य था, यदि उसका

---

१ बौधायन ध. सू., २.१, १७-८

२ ग्रामे दृष्टः पुरे याति पुरे दृष्टस्तु राजनि।
राज्ञा दृष्टः कुदृष्टो वा नास्ति पौनर्भवो विधिः॥ १.२०७

वर्तन विपरीत हो तब वह दोषी होता था। प्राचीन भारत में विधिनियम विधान-सभा द्वारा निश्चित नहीं किये जाते थे। जो धार्मिक स्वरूप के थे वे श्रुति-स्मृतियों द्वारा निर्धारित किये जाते थे, जो व्यावहारिक स्वरूप के थे उनका ज्ञान व स्वरूप देशधर्म, जातिधर्म इत्यादि से विहित होता था। राजा को इनमें अदल-बदल करने का अधिकार न था। धार्मिक ग्रंथों के अनुसार विधिनियम राजा के राजा माने उससे श्रेष्ठ हैं[1]।

मुख्य न्यायाधीश (प्राड्विवाक) प्रख्यात धर्मशास्त्रज्ञ होता था। न्यायालय में किस प्रकार से मामले की छानबीन करना चाहिये यह वह ठीक जानता था। विधिनियम उसके कंठस्थ रहते थे। देशधर्म, जातिधर्म इत्यादि के साथ भी वह ठीक तरह से परिचित रहता था।

हमारे धर्मशास्त्र ग्रंथों में न्यायदान में ज्यूरी-पद्धति के महत्व को स्वीकार किया गया है। राजा या प्राड्विवाक भी तीन,पाँच या सात सभासदों (ज्यूरर्स) के सहाय के बिना किसी मामले का विचार शुरू नहीं कर सकते थे[2]। सभासदों की संख्या इसलिए विषम रखी गयी थी कि एकमत के अभाव में मताधिक्य का स्वीकार करना आसान हो। प्राचीन भारत में यह आवश्यक माना जाता था कि सभासद् (ज्यूरर्स) न्यायशास्त्र में भी प्रवीण हों[3]। आजकल यह अपेक्षा ज्यूरी के सभासदों से नहीं की जाती है। निर्भीकता से व निष्पक्षपात से न्याय्यमत प्रतिपादन करना सभासदों का कर्तव्य था। यदि वे ऐसा न करें तब वे कर्तव्यच्युत माने जाते थे। यद्यपि राजा का मत विरुद्ध हो तद्यपि सभासदों को अपना धर्मशास्त्रानुमोदित मत निर्भयता से प्रतिपादन करना अत्यावश्यक था; उनका यह कर्तव्य था कि धर्मविरुद्ध आचरण करने वाले राजा पर नियंत्रण रखें और उसको अन्याय करने से रोकें[4]।

---

१ तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। बृहदारण्यक, १.४.१४

२ लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पंच त्रयोऽपि वा।
यत्रोपविष्टा विप्रा स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥ शुक्र, ४.५.२६

३ श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदाः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ याज्ञ. २.२.

४ अधर्मतः प्रवृत्तं तु नोपेक्ष्येरन्सभासदाः।
उपेक्षमाणाः स्तेनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः॥ शुक्र, ४ ५.२७५

अनेक स्मृतियों में लिखा है कि यद्यपि राजा न्यायालय का अध्यक्ष था तथापि उसको न्यायनिर्णय सभासद या ज्यूरर्स के मत के अनुसार ही करना चाहिये[१]। सामान्यतः यह तत्व कार्यान्वित किया जाता था; किन्तु यदि विवाद्य विषय संदिग्ध हो, या उसका निर्णय करने में सभासद असमर्थ हों तब राजा को ही अपने सद्विवेक-बुद्धि के अनुसार निर्णय देना आवश्यक होता था[२]। मृच्छकटिक में चारुदत्त के मामले का जो वर्णन आया है उससे प्रतीत होता है कि सभासद प्रायः अभियुक्त दोषी है या नहीं इतना ही बताते थे। दोषी अपराधी के दंड का परिमाण राजा द्वारा निश्चित किया जाता था[३]।

स्मृति-ग्रंथों का कहना है कि सभासद ब्राह्मण जाति के ही होना चाहिये[४]। श्रुतिस्मृत्यादि ग्रंथों में विहित धर्मशास्त्रीय नियमों का सम्यक् ज्ञान सभासदों के लिए आवश्यक था और वह ब्राह्मणों के लिए ही शक्य था। किंतु जिन मामलों में धर्मशास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं था, या जो मामले कृषक, व्यापारी, अरण्य-वासियों में उत्पन्न होते थे, उनमें सभासद् भी कृषक, व्यापारी इत्यादि जातियों का होना चाहिये ऐसा धर्मशास्त्रों का मत था[५]। यदि ऐसा न हो, तो उचित निर्णय पर पहुँचना न्यायालय के लिए असंभवनीय है ऐसा मनु का मत था[६]। विजय-नगर के न्यायालयों में जब धर्मशास्त्रों का विशेष ज्ञान अपेक्षित रहता था तब ब्राह्मण सभासद् नियुक्त किये जाते थे; अन्य मामलों में कृषक, व्यापारी, इत्यादि लोग सभासदों का काम करते थे। प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रायः शुक्र के विधान का

---

१ सभ्यादिभिर्विनिर्णीतं विधृतं प्रतिवादिना ।
दृष्ट्वा राजा तु जायेयं प्रदद्याज्जयपत्रकम् ।। शुक्र, ४.५.२७३

२ निश्चेतुं ये न शक्याः स्युर्वादाः संदिग्धरूपिणः ।
सीमायास्तत्र नृपतिः प्रमाणं स्यात्प्रभुर्यतः ।।

३ आर्य चारुदत्त निर्णये वयं प्रमाणं शेषे तु राजा ।। अंक ९

४ व्यवहारान्नृपः पश्येद्विवद्भिः ब्राह्मणैः सह ।। याज्ञ. २.१

५ कर्षकवणिक्पशुपाल कुसीदकारवः स्वे स्वे वर्गे प्रमाणम् ।। गौ. ध. सू., २०.२१

६ वणिक्शिल्पिप्रभृतिषु कृषिरंगोपजीविषु ।
अशक्यो निर्णयो ह्यन्यैस्तज्ज्ञैरेव तु कारयेत् ।। मनु, ८.२९

अनुसरण किया जाता था, जिसने लिखा है कि सभासद या सभ्य सब जाति के होना चाहिये[1]।

गणतंत्रों में मुख्यन्यायालय का न्यायाधीश कौन रहता था यह कहना कठिन है। हो सकता है कि गणतंत्र का अध्यक्ष मुख्य न्यायाधीश का काम भी समकालीन राजा के समान करता होगा। यह भी अशक्य नहीं है कि गणतंत्र के मंत्रिमंडल का वह मंत्री यह काम करता हो, जिसके अधीन न्यायविभाग था। यह भी शक्य है कि वहाँ भी प्राड्विवाक के समान एक वरिष्ठ न्यायाधीश इस काम के लिए नियुक्त किया जाता था। गणतंत्र के इतर न्यायालय नृपतंत्रों के समान ही होंगे।

ई० पू० ६०० से आगे जब राज्य का विस्तार बढ़ने लगा, तब मंडल, विषय, स्थान, द्रोणमुख इत्यादि प्रादेशिक विभागों के मुख्य नगरों में सरकारी न्यायालयों की स्थापना होने लगी[2]। इन न्यायालयों को स्मृतियों में 'मुद्रित' न्यायालय कहा है, क्योंकि इनकी स्थापना राजमुद्रांकित आदेशों से होती थी। जगह-जगह पर जा कर न्यायनिर्णय करनेवाले भी न्यायालय रहते थे, जिनको नारद ने 'चल' न्यायालय कहा है[3]।

मौर्य शासन-पद्धति काल में इन सरकारी न्यायालयों में तीन सरकारी न्यायाधिकारी व तीन सभ्य या ज्यूरर्स रहते थे। संभव है कि अन्य शासन-पद्धतियों में सरकारी न्यायाधिकारियों की संख्या कम हो। किंतु इस प्रकार के सरकारी न्यायालय प्रादेशिक मुख्य नगरों में प्रायः हमेशा रहते थे। प्रादेशिक मुख्याधिकारी व न्यायालयों के मुख्य न्यायाधिकारी इनका परस्पर संबंध किस प्रकार का था यह कहना कठिन है।

फौजदारी अपराधों की छानबीन करने के लिए 'कंटक शोधन' नाम के न्यायालय रहते थे। न केवल राजद्रोहादि अपराधों का उनमें इन्साफ किया

---

१ राज्ञा नियोजितास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ ४. ५. १५ ॥

२ धर्मस्थास्त्रयोऽमात्यास्त्रयो जनपदसंधिसं हद्रोणमुखस्थानीयेषु, व्यावहारिकानर्थान् कुर्युः। अर्थशास्त्र ३. १। स्थान में प्रायः ८००, द्रोणमुख में ४०० व खार्वटिक में २०० देहात रहते थे।

३ प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चला नामप्रतिष्ठिता।
मुद्रिताध्यक्ष संयुक्ता राजयुक्ता च शासिता ॥ नारद

जाता था किंतु समाजद्रोहियों को भी वहाँ दंड दिया जाता था। जो व्यापारी जाली नाम का उपयोग करते थे या गडमड[1] किया हुआ माल बेचते थे या बहुत कीमत लेते थे, जो कारखानदार मजदूरों को कम मजदूरी देते थे, या जो मजदूर कम काम कर के मालिक का नुकसान करते, उन सब के खिलाफ कार्रवाई कंटकशोधन न्यायालयों में की जाती थी। दुराचारी राजकर्मचारी, चोर, डाकू इत्यादि के मामले भी इस न्यायालय में आते थे।

गैरसरकारी न्यायालय

उपरिनिर्दिष्ट सरकारी न्यायालयों के बजाय अनेक श्रेणी के गैरसरकारी न्यायालय भी प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में थे जो उसका वैशिष्ट्य था। वैदिककाल की ग्रामसभा शायद न्यायदान भी करती थी। कौटिल्य की शासन-पद्धति में केन्द्रीयकरण बहुत हद तक किया गया था किन्तु उसमें भी कुछ मामले गैरसरकारी न्यायालयों को सौंप दिये गये थे। सीमाविवादों का निर्णय पड़ोसी ग्रामवृद्ध ही करते थे[2]। देव, ब्राह्मण, सन्यासी, स्त्रियाँ, नाबालिग व वृद्ध लोगों के मामले धर्मस्थों के द्वारा निर्णीत होते थे[3]; धर्मस्थ गैरसरकारी विधिशास्त्रज्ञ थे। देव-ब्राह्मणादिकों के ये मामले किस प्रकार के थे व उनके निर्णय करने वाले कैसे नियुक्त किये जाते थे यह अभी ज्ञात नहीं है।

गैरसरकारी न्यायालयों का वर्णन प्रथम याज्ञवल्क्य स्मृति में आता है[4]; धर्मसूत्र व मनुस्मृति में उनका उल्लेख नहीं है। वे ख्रिस्तपूर्वकाल में नहीं थे, इसलिए उनका उल्लेख धर्मसूत्रों में नहीं है, या गैरसरकारी होने के कारण उनका अनुल्लेख हुआ है, यह कहना कठिन है। हो सकता है कि दूसरा कारण संभवनीय हो। याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार के गैरसरकारी न्यायालयों का वर्णन किया है जिनका नाम कुल, श्रेणी व पूग था। याज्ञवल्क्य के टीकाकार विज्ञानेश्वर ने ये न्यायालय गैरसरकारी थे ऐसे स्पष्ट शब्दों में बताया है[5]। बृहस्पति स्मृति

---

१ अच्छे में खराब मिलाया हुआ माल (adulterated goods)

२ क्षेत्रविवादं सीमान्तग्रामवृद्धाः कुर्युः। ३. ९

३ देवब्राह्मणतपस्विस्त्रीबालवृद्धव्याधितानां...कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युः। ३. २०

४ नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वंपूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ २. २९

५ राजसभातो निर्णायकान्तरमाह याज्ञवल्क्यः।

(१. २८-३०) में भी ये तीन न्यायालय निर्दिष्ट किये गये हैं। वहाँ कहा गया है कि कुलन्यायालय के निर्णय के विरुद्ध श्रेणीन्यायालय में अपील होती थी, व श्रेणी के निर्णय के विरुद्ध पूगन्यायालय में।

विजयनगर शासनपद्धिति में इन न्यायालयों को 'अमुख्य' कहते हैं; कारण होगा यह कि सरकारी न्यायालयों की अपेक्षा वे कम महत्व के थे।

गैरसरकारी न्यायालयों के स्वरूप व अधिकार के बारे में अब हम विचार करेंगे। मिताक्षरा के अनुसार 'कुल' न्यायालय में करीब या दूर के रिश्तेदार समझौता कराने का काम करते थे[1]। कुल या संयुक्त कुटुम्बों में अनेक लोगों का अंतर्भाव होता था। जब उनमें से किसी दो व्यक्तियों में झगड़ा होता था तो कुलवृद्ध लोग उसका निपटारा करने का प्रथम प्रयत्न करते थे। इस तरह कुल-न्यायालय एक विशाल संयुक्त कुटुंब का न्यायालय होता था जिसमें कुलवृद्ध लोग निर्णय देने का काम करते थे। अर्थशास्त्र (२.३५) के अनुसार 'गोप' के अधीन दस से चालीस कुटुम्ब रहते थे। इन कुटुम्बों के मामलों को तय करनेवाले न्यायालय को भी कुलन्यायालय कहते होंगे। किंतु यह विशेष संभवनीय नहीं है।

कुलन्यायालय द्वारा जब विवाद का अंत न होता था तब श्रेणी न्यायालय का आश्रय लिया जाता था। ई० पू० ५०० से पश्चात् व्यापारी क्षेत्रों में श्रेणी की प्रथा सर्वत्र रूढ़ हुई; इन श्रेणियों के न्यायालय भी होते थे। महाभारत व बौद्धवाङ्मय में श्रेणी व उनके मुख्यों का वर्णन बहुत जगह आया है। चार-पाँच सभासदों की श्रेणियों की एक कार्यकारिणी-समिति होती थी; इतर कार्यों के साथ इस समिति के सभासद श्रेणी के सदस्यों के झगड़ों का समझौता भी करते थे। यद्यपि याज्ञवल्क्य में श्रेणीन्यायालयों का प्रथम उल्लेख आता है, तथापि धर्मसूत्रों में भी श्रेणियों के निर्देश के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि श्रेणीन्यायालय ई० पू० ३०० के समय अस्तित्व में थे। यह निर्विवाद है कि महाराष्ट्र में १८वीं सदी में श्रेणीन्यायालय थे। इतरत्र भी वैसी ही स्थिति होगी।

याज्ञवल्क्यनिर्दिष्ट पूगन्यायालय में अनेक जातियों के व धंधों के किंतु एक ही स्थान में रहने वाले लोग न्याय-निर्णय का काम करते थे। यदि वैदिक-काल की सभा सचमुच न्यायादान करती होगी, तो वह पूगन्यायालय का ही एक

---

१ ज्ञातिसंबंधिबंधूनां समूहः कुलम्।

प्रकार होगी। तैत्तिरीय संहिता का ग्राम्यवादी इस न्यायालय का एक न्यायाधीश होगा। अर्थशास्त्र के ग्रामवृद्ध भी पूगन्यायालय के सभासदों का काम करते थे। जैसे कि हमने ११वें अध्याय में कहा है, मध्ययुग में पूगन्यायालय को महाराष्ट्र में गोत कहने लगे व कर्नाटक में धर्मशासन। धर्मशासन में ग्रामवृद्ध व बलुतेदारों[1] का अंतर्भाव होता था।

पूग, गोत या धर्मशासन के निर्णय राजशासन के सहाय से कार्यान्वित किये जाते थे[2]। गत दो हजार वर्षों में गैरसरकारी न्यायालयों ने न्यायदान में महत्व का काम किया है।

गैरसरकारी न्यायालय सफलतया कैसे काम कर सकते थे इस विषय में आधुनिक विद्वानों में गलत धारणा थी। ब्रिटिश राज्य शुरू होने तक वे न्याय-दान का कार्य करते थे व उस राज्य के स्थापना के बाद वे धीरे-धीरे लुप्त हो गये। इसलिए सर हेनरी मेन इत्यादि अंग्रेज पंडितों ने इस सिद्धांत को प्रस्थापित करने की कोशिश की थी कि ये गैरसरकारी न्यायालय इस लिए न्यायादान कर सकते थे कि सर्वत्र प्रचलित अराजकता के कारण सरकारी न्यायालय काम ही नहीं कर सकते थे[3]। जब ब्रिटिश राज्य के संस्थपना के बाद सर्वत्र शांतता प्रस्थापित हुई, तब सरकारी न्यायालय न्याय करने में सफल होने लगे व गैरसरकारी न्यायालय अस्तंगत हो गये।

यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता है। यदि सर्वत्र प्रचलित अराजकता के कारण सरकारी न्यायालय भी अपना काम करने में असमर्थ थे, तो गैरसरकारी न्यायालय अपना काम करने में कैसे सफल हो सकते थे। वास्तविक बात यह थी कि प्राचीन भारत में सरकार की हमेशा की यह नीति थी कि गैरसरकारी न्यायालयों को प्रोत्साहन दिया जाय व उनके निर्णयों को कार्यान्वित करने में सरकारी मदद दी जाय। यद्यपि पूगादि न्यायालय गैरसरकारी थे, तथापि उनकी स्थापना सरकारी

---

१ बढ़ई, लुहार, कुम्हार इत्यादि जिन धंधों के सहकार्य के बिना ग्रामीय जीवन नहीं चल सकता था, उनको मराठी में बलुतेदार कहते हैं। उनकी संख्या प्राय: १२ होती थी।

२ इंस्क्रिप्शन्स फ्रॉम मद्रास प्रेसिडेन्सी, अनंतपुर जिला; मदस्किरी ताम्रपट, शक १५७८.

३ एच्. एस, मेन विलेज कम्यूनिटीज इन दी ईस्ट ऍंड वेस्ट, पृ. ६८

नीति के अनुसार ही हो चुकी थी[1]। धर्मशास्त्रकारों का यह मत था कि चूँकि इन न्यायालयों की स्थापना सरकारी निति के अनुसार हुई थी, इसलिए उनके निर्णयों को सरकारी शासन-यंत्र द्वारा कार्यान्वित करना चाहिये[2]। मध्ययुग में शिवाजी, राजाराम, शाहू इत्यादि अनेक राजा स्वयं मामलों का विचार करने से इनकार करते थे। विजयपुर के इब्राहिम आदिल शाह इत्यादि बादशाहों की भी वैसी ही नीति रहती थी, वादी-प्रतिवादियों में एक मुसलमान क्यों न हो, और वह पक्षपात का आरोप क्यों न करे[3]। प्राचीन व मध्युगीन, हिंदु व मुसलमान राज्यों की प्रायः यह नीति रहती थी कि सब मामले प्रथम गैरसरकारी न्यायालयों द्वारा ही निर्णित हों। केवल अपील में सरकारी अधिकारी मामलों की दखलगिरि लेते थे। जब ब्रिटिश राज्य स्थापित हुआ तब उसने नयी नीति अपनायी। उसने अपने न्यायालयों में सब मामले लेना शुरू किया व गैरसरकारी न्यायालयों के निर्णयों को कार्यान्वित करने का इन्कार किया। फलस्वरूप गैरसरकारी न्यायालयां का अंत हुआ।

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति अनेक कारणों से गैरसरकारी न्यायालयों को प्रोत्साहन देती थी। लोग उसके द्वारा स्थानीय शासन सुचारुरूप से करने में प्रगति कर सकते थे। शासन-पद्धति का काम हलका होता था। सत्य-निर्धारण में गैरसरकारी न्यायालयों के द्वारा अनमोल साहाय्य मिलता था। वादी-प्रतिवादी जब एक ही धन्धे के सदस्य रहते हैं या एक ही ग्राम के निवासी होते हैं, तब उस धंधा या ग्राम के लोग वस्तुस्थिति-निर्धारण में प्रायः सफल होते थे[4]। अपने ग्रामवासियों के सामने या श्रेणी के सभासदों के सामने बिलकुल असत्य गवाही देना प्रायः कठिन होता है क्योंकि ऐसे करने से उनकी सदा के लिए ग्रामवासियों में बदनामी होती थी जिनके बीच में उनको जीवन व्यतीत करना था।

---

१ नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च। याज्ञवल्क्य, २. २९

२ तैः कृतं यत्स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्।
तद्राज्ञाऽप्यनुमंतव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥ २. ३.

३ अ. स. अलतेकर; विलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया, पृ. ४५-६

४ अभियुक्ताश्च ये यत्र यन्निबन्धनियोजनाः।
तत्रत्यगुणदोषाणां त एव हि विचारकाः॥ शुक्र, ४.५.२४

दीवानी मामला कितना ही बड़ा क्यों न हो, ग्रामपंचायतें उनका निर्णय कर सकती थीं। किन्तु चोरी, डकैती, राजद्रोह ऐसे मामले ग्रामपंचायत के क्षेत्र के बाहर रहते थे। मामूली फौजदारी-मामलों का वह निर्णय कर सकती थी।

वादी-प्रतिवादी को कोर्ट-फी गैरसरकारी न्यायालय में भी देनी पड़ती थी। जिसके अनुकूल निर्णय होता था उसको १० प्रतिशत व उसके प्रतिस्पर्धी को ५ प्रतिशत कोर्ट-फी देनी पड़ती थी। गैरसरकारी न्यायालयों में भी लेखक, बेलिफ इत्यादि होते थे व पंचों को कुछ पारिश्रमिक देना पड़ता था। इन कार्यों के लिए कोर्ट-फी लेना आवश्यक होता था।

मध्ययुगीन महाराष्ट्र के पंचों के निर्णय-पत्र पर तीस-चालीस पंचों का हस्ताक्षर पाया जाता है, जो अनेक धंधों के व जाति के होते थे। किन्तु प्रत्यक्ष मामले के इन्साफ में इनमें से वयोवृद्ध व धर्मशास्त्रज्ञ ही भाग लेते होंगे। विजयनगर-राज्य में हरएक मामले में अलग-अलग पंच रहते थे। किसी विशिष्ट मामले में धर्मशास्त्र का ज्ञान आवश्यक होता था, तो प्रायः ब्राह्मण पंच चुने जाते थे, यदि ऐसा न होता था, तो सब जाति के शिष्ट लोग पंचायत में सम्मिलित किये जाते थे। जातिधर्म के झगड़े जातियों द्वारा हल किये जाते थे। पंच लोग प्रायः स्थानीय देवालय में न्यायनिर्णय करते थे। वहाँ के वातावरण के कारण असत्य कहने की प्रवृत्ति दब जाती थी।

ग्रामपंचायत के निर्णय के विरुद्ध तहसील या नाडुपंचायत में अपील हो सकती थी। उसके निर्णय के विरुद्ध राजा के न्यायालय में अपील की जाती थी।

न्यायनिर्णय के बारे में कुछ मूलभूत सिद्धांत स्वीकृत किये गये थे। मामलों का विचार एकांत में न होता था किन्तु सार्वजनिक स्थानों में व सर्व लोगों के समक्ष[1]। जैसे मामले दाखिल किये जाते थे उसके अनुसार उनपर विचार किया जाता था किन्तु महत्व के मामले कभी-कभी पहले भी लिए जाते थे[2]। न्यायनिर्णय

१ नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनां शृणुयाद्वचः।
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ॥शुक्र, ४.५.६.

२ क्रमागत विवादांस्तु पश्येद्वा कार्यगौरवात् ॥ शुक्र, ४-५.१५७

तुरन्त करना आवश्यक समझा जाता था[1]। सरकारी अधिकारियों को न्यायाधिकारियों के कार्य में हस्तक्षेप करना अनुचित समझा जाता था[2]। न्यायाधिकारियों को निष्पक्ष रहना अत्यावश्यक था; जब कोई मामला विचाराधीन रहता था तब वे वादी-प्रतिवादियों के साथ संभाषण, भोजन इत्यादि न कर सकते थे[3]। यदि कोई न्यायाधिकारी अनुचित आचरण या पक्षपात करता था, तो उसे दंड दिया जाता था। न्यायालय का लेखक यदि ठीक बयान न लिखे, तो उसे कड़ा दंड दिया जाता था। (अर्थशास्त्र, ३.२०; ४.९) फौजदारी अपराधों के बारे में भी ऐसे ही उपयुक्त सिद्धांत स्वीकृत किये गये थे। यदि अपराध करने के हेतु से कोई व्यक्ति कुछ कार्रवाई करे, किन्तु आकस्मिक कारणों की वजह से अपने हेतु में असफल हो, तब भी उसे उस अपराध के लिए दोषी समझते थे[4]। द्रव्य, अन्न या शस्त्रों के द्वारा अपराधी को मदद देना[5] या दूसरे के द्वारा अपराध कराना भी अपराध माना जाता था। बगावत करने की या राजा के किलों पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा करना भी अपराध माना जाता था।

अपराधी यदि सिद्ध करे कि वह नाबालिग है, या उसने आत्मसंरक्षण के लिए बल-प्रयोग किया था, या किसी दूसरे व्यक्ति के दबाव से उसको अपराध करना पड़ा, तो उसे दंड नहीं दिया जाता था[6]। किस उमर तक व्यक्ति नाबालिग

---

१ न कालहरणं कार्यं राज्ञा साधनदर्शने।
महान्दोषो भवेत्कालाद्धर्मन्यायतिलक्षणः॥ शुक्र, ४.५.१६७

२ नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाऽस्य पूरुषः॥ मनु, ८.४३

३ अनिर्णीते तु यद्यर्थे संभाषेत रहोऽर्थिना।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यः स्यात्सभ्याश्चैव विशेषतः॥ कात्यायन, पराशरमाधवोद्धृत, ३.१.३५

४ सृष्टश्चेब्राह्मण वधेऽहत्वापि। गौ. ध. सू., ३.४.११

५ यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्। याज्ञ. २.२३१
आरंभकृतसहायश्च तथा मार्गानुदेशकः।
आश्रयद्रव्यदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्॥ अपरार्कोद्धृत कात्यायन पृ० .८२१

६ बलाद्दत्तं बलाद्भुक्तं बलाच्च प्रतिपादितम्।
सर्वान् बलकृतानर्थानि कृतान्मनुरब्रवीत्॥ मनु ८.१८१

माना जा सकता है इस विषय में मतभेद था। कुछ धर्मशास्त्री आठवें साल तक तो कुछ १५वें साल तक किये गये अपराधों के लिए बालक को अपराधी नहीं मानते थे। यदि अपराधी के जिम्मेदारी के बारे में संदेह हो, तो उसको छोड़ दिया जाता था[१]।

जुर्माना, कारावास, देशनिष्कासन, अंगविच्छेद व प्राणदंड ये पाँच प्रकार के दंड प्राचीन भारत में दिये जाते थे। प्रायः दंड जुर्माना के रूप में किया जाता था। उसका परिमाण प्रायः अपराध के अनुरूप रहता था। कारावास की सजा जिनको होती थी उनको सार्वजनिक रास्ते दुरुस्त करने का काम दिया जाता था। इसलिए कि उससे लोगों के मन पर असर पड़े। चोरों के हाथ या पाँव कभी-कभी न्यायालय के आदेश से अन्य देशों के समान प्राचीन भारत में भी काटे जाते थे। उच्च वर्गों के लोगों को कभी-कभी देशनिष्कासन की सजा दी जाती थी। खून, राजद्रोह, डकैती, सतीत्वहरण इत्यादि घोर अपराधों के लिए प्राणदंड दिया जाता था। दंड केवल अपराधियों को दिया जाता था, न कि उसके रिश्तेदारों के लिए भी।

दंड का स्वरूप व परिमाण निश्चित करने के समय अपराध का स्वरूप, अपराधी का हेतु, उमर व सामाजिक दर्जा इत्यादि का विचार किया जाता था। जाति के कारण भी दंड में विषमता उत्पन्न होती थी। धर्मसूत्रों के अनुसार ब्राह्मणवध के लिए १००० गायों की, क्षत्रियवध के लिए ५०० गायों की, वैश्यवध के लिए १०० गायों की व शूद्रवध के लिए १० गायों की क्षतिपूर्ति देनी पड़ती थी। जुर्माने का परिमाण भी वर्ण के अनुसार घटता-बढ़ता था। यह हमारे न्याय-पद्धति का एक दोष था इसमें संदेह नहीं है। स्मृतिकार मानते हैं कि ब्राह्मण का अपराधजन्य पाप शूद्र से शतगुणा होता है; ऐसी परिस्थिति में उसका दंड भी अधिक होना चाहिये था। किन्तु हमें यह भी भूलना नहीं चाहिये कि उन्नीसवीं सदी तक संसार में सर्वत्र उच्चवर्गीय लोगों को, जैसे सरदार, पुरोहित (बिशप) इत्यादि को, सौम्य दंड दिया जाता था। किन्तु यदि हम और देशों के समान ऐसा न करते तो हमारी संस्कृति का शिर निस्संशय अधिक ऊँचा रहता।

---

१ न च संदेहे दण्डं कुर्यात्। आप. ध. सू. २.५.२.२

२ बंधनानि च सर्वाणि राजा मार्गे निवेशयेत्।
दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः॥ मनु, ९.२८८

धर्मशास्त्रों में कारागृह व उसके अधिकारियों के निर्देश बहुत कम मिलते हैं। अर्थशास्त्र में जेलर को बंधनागाराध्यक्ष यह नाम दिया है। यदि वह कैदियों से घूस लेता था, उनको मारता-पीटता था या पूरी भोजन-सामग्री न देता था तब उसे दंड दिया जाता था। पुरुष-कैदी स्त्री-कैदियों से अलग रखे जाते थे। संनिधाता के मातहत में करावास रहते थे, वह उनके लिए उचित स्थान निश्चित करता था व आवश्यक इमारतें बनवाता था। (अर्थशास्त्र, २.४)

मामलों का किस तरह विचार किया जाता था इस पर अब हम विचार करेंगे। वादी पहले आवेदन-पत्र (Plaint) भेजकर अपना दावा दाखिल करता था। आवेदन-पत्र में जो मुख्य कारण (मुद्दे) दिये जाते थे, उनमें वादी फर्क नहीं कर सकता था। दावा दाखिल होने के बाद प्रतिवादी को बुलाया जाता था व उसे निश्चित समय में अपना उत्तर (प्रत्यावेदन) देने को कहा जाता था। वह अपने उत्तर में वादी की माँग को स्वीकार कर सकता था, या उसको इन्कार कर सकता था, या यह दिखा सकता था कि वादी ने यह माँग छोड़ दी थी,या उसके विरुद्ध न्यायालय ने निर्णय किया था। आवेदन-पत्र व प्रत्यावेदन-पत्र का विचार करके न्यायाधिकारी वादी-प्रतिवादी को अपने पक्ष के प्रमाण उपस्थित करने को आदेश देता था। गवाही, लेख व भुक्ति (Possession) ये तीन मुख्य प्रकार के प्रमाण थे। भुक्ति लेख से व लेख गवाहों से अधिक महत्व के समझे जाते थे।

यदि किसी भी प्रकार का प्रमाण नहीं मिलता था तो दिव्य का आश्रय लिया जाता था। दिव्य पर आजकल हम विश्वास नहीं रख सकते हैं। किन्तु आजकल के कोर्टों में भी वादी-प्रतिवादी सहमत होने पर जो विशिष्ट प्रकार की शपथ देकर न्याय-निर्णय करते हैं वह भी दिव्य का ही एक प्रकार है। प्राचीन व मध्ययुगीनकाल में हिन्दुस्तान व यूरप में लोगों का विश्वास था कि दैवी-शक्ति निरपराधी मनुष्य को अपने निर्दोषत्व प्रस्थापित करने में अवश्य सहाय्य देगी, इसलिए दिव्यों का प्रचार उस समय बहुत था। स्मृतियों में जो दिव्य कहे हैं उनमें कुछ युक्तिसंगतता भी है। स्मृतिग्रंथ तब ही दिव्य के आयोजन की अनुमति देते हैं जब दूसरा कोई भी मौखिक या लैखिक प्रमाण नहीं प्राप्य होता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में जो अग्निदिव्य बताया है उसमें निरपराधी व्यक्ति को यशस्वी न होना असंभव नहीं था। पहले अपराधी के हाथ पर सात हरे पलाश के पत्र रखे जाते थे व पश्चात् अग्नि की प्रार्थना की जाती थी कि वह

अभियुक्त को सहाय दे यदि वह सचमुच निर्दोषी हो। तत्पश्चात् अभियुक्त के हाथ पर सात हरे पलाशपत्रों पर लोहे का ज्वलंत गोला रखा जाता था व उसको लेकर उसे सात पद चलना पड़ता था, जिसके पश्चात् वह उस गोले को फेंक देता था। तत्पश्चात् उसके हाथ कपड़े में बाँध कर तीन दिन रखते थे; यदि हाथ पर फफोला न हो, तो अभियुक्त को निर्दोषी उद्घोषित करते, यदि हो तो दोषी। जिस युग में लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि परमेश्वर निर्दोषी व्यक्ति को सहाय्य करता है उस युग के लोगों को ऐसा दिव्य न्यायसंगत ही दीखता था। जलदिव्य, विषदिव्य इत्यादि दिव्यों में भी निरपराध व्यक्ति को यशस्वी न होना असंभवनीय नहीं था। उनके वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं किये जा सकते हैं।

वादी व प्रतिवादी द्वारा उपस्थित प्रमाणों का विचार करके न्यायाधिकारी सभ्यों से परामर्श करके मामले का निर्णय करते थे। निर्णयपत्र की एक नकल वादी व प्रतिवादी को दी जाती थी। जिसके प्रतिकूल निर्णय होता था वह उसके विरुद्ध उच्चन्यायालय में अपील कर सकता था।

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के वर्णन में वकीलों का निर्देश बहुत कम आता है। मनुस्मृति में एक जगह कहा है कि गवाही, प्रतिभू (Surety) व न्यायाधिकारी दूसरे के लिए परिश्रम करते हैं व उनके फलस्वरूप 'विप्र', साहूकार, व्यापारी और राजा को लाभ होता है[1]। कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ विप्र शब्द वकील के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इस मत को स्वीकार करने में कुछ कठिनाई है, हो सकता है सभ्यों को भी कुछ पारिश्रमिक मिलता था। नारद-स्मृति पर जो असहाय की टीका है उसमें एक जगह वकील का निस्संदिग्ध उल्लेख आया है। वहाँ एक 'स्मार्तधुरंधर' एक ऋणी को आश्वासन देता है कि उसे महाजन का ऋण चुकाने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह उसे १००० द्रम्म देगा तब वह न्यायालय द्वारा उसके अनुरूप निर्णय प्राप्त करेगा (ऋणादान ५.४) शुक्र कहता है कि यदि वादी या प्रतिवादी धर्मनियम न जानने या इतर कार्य में व्यस्त होने के कारण अपना मामला ठीक नहीं चला सकते थे, तब उनके लिए एक प्रतिनिधि नियुक्त किया जा सकता था। ऐसे प्रतिनिधि को नियोगी कहते थे, उसका कर्तव्य था कि वह अपने असील (Client) के दावे

---

१ त्रयः परार्थे क्लिश्यंति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।
चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढ्यो वणिङ् नृपः ॥८.१६९

का पूरा समर्थन करे। यदि वह विरुद्ध पक्ष से सहाय करता था तो उसे दंड दिया जाता था। वकील की फी ६ प्रतिशत से १/२ प्रतिशत तक थी। दावे की रकम जैसी-जैसी बड़ी हो जाती थी वैसी वकील की फी कम हो जाती थी। जब न्यायदान पद्धति का पूर्ण विकास पाँचवीं सदी के समय हुआ था तब कुछ धर्मशास्त्री वकीलों का काम करते थे इसमें संदेह नहीं है। किन्तु वकीलों की संख्या विशेष बड़ी नहीं थी। आजकल के समान प्राचीन भारत में वकीलों का एक धनी व प्रतिष्ठित वर्ग समाज में नहीं था।

धर्म या विधिनियमों का स्वरूप

सरकारी व गैरसरकारी न्यायालयों में जिस धर्म या विधिनियमों के अनुसार न्यायनिर्णय किया जाता था उनका क्या स्वरूप था व वे किसके द्वारा बनाये जाते थे इस पर हम अब विचार करेंगे। सामान्यतः विधिनियमों के लिए धर्म शब्द का उपयोग किया जाता था, किन्तु उस शब्द के अर्थ में धार्मिक व नैतिक नियमों का भी अंतर्भाव होता था जिनको न्यायालय कार्यान्वित नहीं कराते थे। धर्मशास्त्र के अनुसार गृहस्थ को अग्निहोत्र रखना आवश्यक था। अनेक लोग वैसा नहीं करते थे व उस लिए न्यायालय उन्हें दंडित नहीं करता था।

प्राचीन भारत में अनेक सदियों तक केवल परंपरा द्वारा विधिनियम रचित किये जाते थे, इसलिए धर्मशास्त्र में उन्हें सामायाचारिक धर्म माने समाजरूढ़ि पर आधारित विधिनियम कहते थे। इन विधिनियमों में कुछ कौटुम्बिक जीवन से संबंध रखते थे व उनके द्वारा दायादि अधिकार उत्पन्न होते थे, कुछ सामाजिक जीवन से संबंध रखते थे व चोरी, घूसखोरी इत्यादि रोकने की कोशिश करते थे; केवल इन प्रकार के विधिनियमों का ही विचार न्यायालयों में होता था।

जब ये सब नियम रुढ़ि पर अधिष्ठित थे तब वे असानी से बदल जाते थे; धर्मशास्त्र में अंतर्भूत होने के कारण उनमें बदल करना आगे चलकर कठिन हो गया। किन्तु समाज हमेशा बदल जाता है, धर्मशास्त्रनांतर्गत नियम भी जब मृतप्राय होते थे तब उनको बदल कर प्रत्यक्ष रूढ़ि के अनुसार नये नियम धर्मशास्त्रों में अंतर्भूत करने का आयोजन किया जाता था।

१ व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन वा।
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तथा।
लोभेन त्वन्यथा कुर्वन्ति योगी दण्डमर्हति ॥ शुक्र, ४.५.११४-५

न्यायालय धर्मशास्त्रविहित दाय, ऋणादान, साहस इत्यादि विषयों के नियमों का पालन जैसे समाज द्वारा कराता था वैसे ही जातिधर्म, जनपद्धर्म (स्थानीय रूढ़ियाँ) श्रेणिधर्म व कुल धर्मों का भी, यदि उनके द्वारा कुछ हक या अधिकार उत्पन्न हो जाते थे[1]। ये सब धर्म प्रायः परंपरा पर अधिष्ठित थे व सामाजिक परंपरा समाज के समान बदलती रहती थी। प्राचीन भारत में सरकार द्वारा वर्णाश्रमधर्मों का पालन कराया जाता था ऐसा जब विधान किया जाता है तब उसका माने यह नहीं है कि अतिप्राचीन काल में रूढ़ नियम समाज पर लादे जाते थे। न्यायालय समकालीन समाज में रूढ़ि के अनुसार बदले हुए नियमों का ही विचार करते थे। पंडित-ऐसे सरकारी मंत्री भी कौन-कौन नियम मृत प्राय हो गये हैं, कौन-कौन नये नियम रूढ़ हुए हैं, कौन-कौन नियम धर्मशासनाधिष्ठित होते हुए भी अभी त्याज्य हुए हैं इत्यादि के बारे में घोषणा करते थे[2]। इससे यह सिद्ध होगा कि जो धर्मनियम न्यायालय द्वारा कार्यान्वित किये जाते थे उनमें से बहुसंख्यक नियम प्रत्यक्ष व्यवहार के अनुसार ही होते थे।

इतर देशों के समान प्राचीन भारत भी अपने धर्म को शास्त्रप्रणीत मानता था। किन्तु इस धर्म के नियम प्रत्यक्ष आचार पर आधारित थे; उनका उद्देश्य केवल क्षत्रिय या ब्राह्मणों का हितसाधना नहीं था।

प्राचीन भारत के न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले विधिनियम किसी विधानसभा या पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कानून नहीं थे. वे प्रायः सदाचार व रुढ़ि पर अधिष्ठित थे। वे सदा के लिए निश्चित किये हुए व धर्मशास्त्र में लिखे गये नियम नहीं थे। उनमें बदल भी हो जाता था, किन्तु वह राजाज्ञा के अनुसार नहीं होता था न किसी पार्लियामेंट के कानून के अनुसार। रूढ़ि व परम्परा समाज-नियमों में धीरे-धीरे बदल करती थी और उनका स्वीकार समाज द्वारा किया जाता था व वे न्यायालयों द्वारा कार्यान्वित किये जाते थे।

---

१ जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥

२ पृ १७२, नो. २

अध्याय १३

आय और व्यय

●

राज्य की समृद्धि और स्थायित्व उसकी आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता पर ही निर्भर है। इस सिद्धांत को प्राचीन भारतीय आचार्य भली-भाँति समझते थे। इसीलिए उन्होंने कोष की गणना राज्य के अंगों में की है और कोष या आर्थिक दुर्बलता को राष्ट्र की महान् विपत्ति माना है।

धर्मप्रधान होने के कारण वैदिक वाङ्मय से तत्कालीन राज्यों की आर्थिक व्यवस्था के विषय में अधिक ज्ञान नहीं प्राप्त होता। राज्यों के विकास की प्रारंभिक अवस्था में राजा की शक्ति अधिक न थी और लोग स्वेच्छा से जो कभी-कभी दे देते थे वही उसे कररूप में प्राप्त होता था। अस्तु, राजा अपने अनुयाइयों और कर्मचारियों का पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोधन से प्राप्त होने वाली आय से ही किसी भाँति किया करता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए चढ़ायी जाने वाली भेंट का नाम ही 'बलि'[१] राजा को स्वेच्छा से दिये जाने वाले करों या अन्य उपहारों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। राज्य-भ्रष्ट राजा के पुनः राज्यप्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती है कि इंद्र भगवान उसे प्रजा से 'बलि' दिलवाने में सहायता दें[२] और उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और 'बलि' प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हो[३]। इन प्रार्थनाओं से भी यह ध्वनि निकलती है कि जनता अभी राजा को नियमित कर देने में अभ्यस्त न हो पायी थी।

धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। परवर्ती वैदिक वाङ्मय में राज्याभिषेक के समय के एक मंत्र में राजा 'प्रजा का खानेवाला' (विशामत्ता[४])

---

१ देखिए ऋग्वेद ५. १. १०।

२ अथा ते इन्द्रः केवलीः प्रजा बलिहृतस्करत्। ऋ. १०. १७३. ६।

३ अथर्व. ३. ४. ३.।

४ विशामत्ता समजनि। ऐत. ब्राह्म., ७. २९।

कहा गया है। इस संबोधन से यही बोध होता है कि लोग राजा को नियमित रूप से कर दिया करते थे और इसी के बल पर राजा अपने कर्मचारियों सहित ठाट-बाट से रहता था।

वैदिककाल में ब्राह्मण लोग पौरोहित्य वृत्ति करते थे, जिसमें अधिक लाभ की गुंजायश न थी, क्षत्रिय लोग नये प्रदेशों के जीतने में ही लगे थे, और शूद्रों के पास कोई संपत्ति न थी। अतः कर का मुख्य भार वैश्यों पर ही पड़ता था और बहुत से स्थलों पर उनका वर्णन करदाताओं के रूप में हुआ है[1]। पर यह भी न समझना चाहिये कि अन्य लोग कर देने से एकदम मुक्त थे क्योंकि राजा को बहुत से स्थलों पर सबसे कर लेनेवाला कहा गया है[2]।

पहले के अध्यायों में दिखाया जा चुका है कि प्रारंभ में राजा की स्थिति सरदार-मंडल के प्रधान की सी थी। अतः यह भी संभव है कि राजा के अतिरिक्त अन्य सरदार लोग भी अपना अलग कर वसूल करते थे। इस अनुमान का समर्थन शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से होता है कि 'दुर्बलों को बहुधा बलवानों को कर देना पड़ता है[3]।

'भागधुक्' (राजा का भाग वसूल करने वाला) और 'समाहर्ता' (कर लाने वाला) जो इस समय के 'रत्नी' मंडल में भी थे, संभवतः कर विभाग के ही अधिकारी थे। संभवतः पहले का काम अन्न तथा अन्य उत्पादित सामग्रियों में से राजा के भाग का अंश एकत्र करना था और दूसरे का काम इन्हें भंडारों और कोषों में संचित रखना था।

राज्य की आय के स्रोत कृषक और पशुपालक थे। कृषक राजा को अपनी फसल का एक भाग दिया करते थे, जिसका परिमाण वैदिक ग्रन्थों में नहीं बताया गया है। उस समय के समाज में पशुपालकों का आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक महत्व था, क्योंकि समाज को पशुपालन की दशा से कृषि में प्रवेश किये अधिक समय न हुआ था। ये लोग कर में गाय, बैल, और घोड़े दिया करते थे[4]। राज्य इन सब के एक निश्चित अंश का अधिकारी था।

१　अन्यस्य बलिकृत्। ऐत. ब्रा. ७. २९; शत. ब्रा. ११. २. ६. १४।

२　विशोऽद्धि सर्वाः। अथर्व. ४. २२, ७।

३　शत. ब्रा. ११. २. ६, १४।

४　एम भज ग्रामे अश्वेषु गोषु। अथर्व. ४. २२. २।

प्रजा से 'भाग' के अतिरिक्त राजा युद्ध में विजित शत्रुओं या सरदारों से भी खंडणी या कर पाया करते थे[१]। वैदिक काल में वाणिज्य-व्यवसाय की आर्यों में विशेष प्रतिष्ठा न थी इसलिए इस स्रोत से विशेष आय न थी। खानों पर राज्य का अधिकार था या नहीं और राजद्वारा उनकी खुदाई की जाती थी या नहीं इसका ठीक पता नहीं।

हॉपकिन्स का यह मत है कि वैदिक काल में कर बहुत अधिक और कठोर थे, और राजा की शोषक प्रवृत्ति का नियंत्रण करने के बजाय पुरोहित उसे अपनी प्रजा का 'भक्षण' करने में प्रोत्साहन देते थे[२]। परंतु यह धारणा ठीक नहीं है। हॉपकिन्स 'विशामत्ता' शब्द से धोखा खा गये हैं। जैसा कि 'वैदिक इंडेक्स' में कहा गया है इस उक्ति का सूत्र इस प्रथा में है जिसमें राजा और उसके कर्मचारियों का पोषण प्रजा के उपहारों से चलता था, जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशों में भी प्राचीनकाल में पाये जाते हैं[३]। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'अत्ता' शब्द का प्रयोग बहुधा 'भोक्ता' के अर्थ में हुआ है। यथा, एक जगह पति को 'अत्ता' (भोक्ता) और पत्नी को 'आद्य' (भोग्या) कहा गया है[४]। इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि पति पत्नी का खाने वाला या पीड़क था। फिर यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'विशामत्ता' का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में और राज्याभिषेक के वर्णन के प्रसंग में हुआ है जहाँ राजा की शान-शौकत का बड़ा लम्बा-चौड़ा वर्णन किया गया है। यथा, "आज प्रतिष्ठित हो रहे हैं सब लोगों के शासक, प्रजा के खानेवाले (विशामत्ता), दुर्गों को तोड़ने वाले, दैत्यों का नाश करने वाले और धर्म तथा ब्राह्मणों का प्रतिपालन करने वाले"। पाँचवें अध्याय में बताया जा चुका है कि इस समय राजा की स्थिति बड़ी ही कमजोर थी और उसके ऊपर जनता की संस्था 'समिति' का काफी नियंत्रण रहता था। अतः यह संभव प्रतीत नहीं होता कि इस समय के लोग करों के भार से पिसे जा रहे थे।

वैदिक युग के बाद और मौर्यकाल के पूर्व बीच के समय की कर-व्यवस्था

---

१ ऋग्वेद, ७. १८, १९।

२ हापकिंस, 'इंडिया ओल्ड एंड न्यू' पृ० २४०।

३ वैदिक इंडेक्स, 'राजन्'।

४ शतपथ ब्रा. १. २. ३. ६.।

के बारे में बहुत कम ज्ञान है। इस युग का कुछ हाल जातकों से मिलता है, पर उनसे भी इस विषय पर बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। वे केवल यह बताते हैं कि अच्छे राजा केवल विधानसम्मत कर ही लेते थे और दुष्ट शासक नाना प्रकार के अवैध कर लगाकर प्रजा को इतना सताते थे कि वे कर वसूल करनेवाले कर्मचारियों के भय से भागकर जङ्गल में शरण लेते थे[1]। इन उद्धरणों से कर-व्यवस्था के वास्तविक रूप के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

मौर्यकाल में हमें निश्चित जानकारी प्राप्त होती है। अर्थशास्त्र, धर्मसूत्रों, और स्मृतियों से पर्याप्त सामग्री मिलती है, जिनकी छानबीन तत्कालीन शिला और ताम्रलेखादि और यूनानी वृत्तलेखकों के विवरणों से भी की जा सकती है।

प्रारंभ में ही कर-व्यवस्था के मूल सिद्धान्तों पर विचार कर लेना सुविधा-जनक होगा। इस संबंध में स्मृतियों ने जो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं, उनसे श्रेष्ठ और दोष-रहित दूसरे शायद ही हो सकते हैं।

(१) कर न्यायोचित और सीमित होने चाहिये। अत्यधिक कर लेनेवाले राजा से जनता जितनी रुष्ट होती है उतनी और किसी से नहीं[2]। माली फूल और फल तोड़ लेता है पर वृक्ष को हानि नहीं पहुँचाता[3]। राजा को भी इसी भाँति कर उगाहना चाहिये कि प्रजा को कष्ट न पहुँचे। बकरी काट डालने से अधिक से अधिक एक दिन का आहार मिल जायगा पर उसे पालने से तो अनेक वर्षों तक नित्य दूध का लाभ होता है[4]।

(२) उचित कर की कसौटी यह है कि राजा और प्रजा, विशेषतः कृषक और

---

१ जातक, ४. पृ. २९९; ५. ९८९, पृ. १०१। २. पृ. १७.
कर वसूल करनेवाले, 'बलिसाधक' या 'बलिपतिगाहक' पुकारे जाते हैं। इनमें वैदिक शब्द 'बलि' की परंपरा कायम चली आती है।

२ प्रद्विषंति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्। म. भा, १२-८७. ७९।

३ फलार्थी नृपतिर्लोकान्पालयेद्यत्नमास्थितः।
दानमानादितोयेन मालाकारोऽङ्कुरानिव ॥ पंचतंत्र १. २४३।

४ अजामिव प्रजां हन्याद्यो मोहात्पृथिवीपतिः।
तस्यैका जायते प्रीतिर्न द्वितीया कदाचन ॥ वहीं २४२।

व्यवसायी, दोनों समझें की हमें अपने परिश्रम का उचित लाभ मिल रहा है[१]।

(५) वणिज्य और उद्योग में लाभ पर कर लगाना चाहिये आमदनी पर नहीं।

(४) किसी भी वस्तु पर कर एक ही बार लिया जाय दुबारा नहीं[२]।

(५) यदि कर बढ़ाना आवश्यक हो जाय तो वृद्धि एकाएक नहीं क्रमशः की जाय[३]।

(६) राष्ट्र पर संकट के अवसर पर ही अतिरिक्त कर लगाना चाहिये। जनता को भलीभाँति स्थिति समझा देनी चाहिये ताकि वह स्वेच्छा से कर दे। राजा को कभी न भूलना चाहिये कि अन्य उपाय न रहने पर ही अतिरिक्त कर लगाया जाय[४]।

सभी लोग स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त सिद्धांत आदर्श हैं और आधुनिक युग के लिए भी उतने ही उपयुक्त हैं जितने प्राचीन युग के। इनका पालन कहाँ तक होता था इस पर भी आगे चलकर हम विचार करेंगे।

परिस्थिति के अनुसार नियमित कर में पूरी या अंशतः छूट देने के बारे में भी बहुत ही न्याय-संगत व्यवस्था की गयी थी। अर्थशास्त्र और शुक्रनीति दोनों का मत है कि यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योग से बेकार भूमि को कृषियोग्य बनावे या सरोवर आदि बनवा कर सिंचाई द्वारा भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ावे तो सरकार उसे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और धीरे-धीरे उसे बढ़ाकर ४-५ वर्षों में साधारण स्तर पर लावे[५]। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्राचीन-

---

१ विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्॥ मनु. ७-१२७।

२ वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः।

३ अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत्॥
दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत्॥ म.भा. १२-८८, ७.८।

४ म भा. १२-८७. २६-३९; शुक्रनीति ४-२. १०

५ अर्थशास्त्र ४. अध्याय ९, शुक्रनीति ४, २. १२२।

काल से १८वीं शताब्दी के अंत तक भारत में राज्य इस नीति का अनुसरण करते थे[1]।

राजकीय सेना में नियमित काल में पर्याप्त संख्या में सैनिक भेजनेवाले ग्राम भी कर से मुक्त कर दिये जाते थे।

गूँगे, बहरे, अंधे और अन्य अपाहिज व्यक्ति भी अपनी गरीबी के कारण कर से मुक्त किये जाते थे। यह भी कहा गया है कि गुरुकुल में विद्याध्ययन करने वाले अंतेवासी और वनों में तप करने वाले तपस्वी भी कर से मुक्त किये जाने के अधिकारी हैं, क्योंकि इनकी कोई आमदनी नहीं थी। स्त्रियों को प्रारंभिककाल में संपत्ति का अधिकार बहुत कम था अतः उन्हें भी कर से मुक्त करने की सिफारिश की गई है[2]। बाद में जब उन्हें दायभाग मिला तो केवल निर्धन विधवाएँ और अनाथ स्त्रियाँ ही कर-मुक्ति के योग्य समझी गयी होंगी।

स्मृतियों ने 'श्रोत्रिय' (विद्वान् ब्राह्मण) को भी कर से मुक्त करने पर जोर दिया है[3]। आदर्श श्रोत्रिय का कर्तव्य अकिञ्चनताव्रत धारण कर विद्यार्थियों को निःशुल्क वेदशास्त्रादि की शिक्षा में ही जीवन लगा देना था। और प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे वास्तव में इस कर्तव्य का पालन भी यथासाध्य करते थे अतः यह उचित ही था कि वे राज्य-कर से मुक्त किये जायँ। विद्वान् ब्राह्मणों को कभी-कभी सरकार से अग्रहार ग्राम भेंट में मिलते थे जिनके सरकारी

---

१ ए. क., ३ सेरिंगपट्टण सं १४८, सौ. इं. ए. रि., १८१२ सं. ४२२; इ. म. प्रे, भाग २ मदुरा सं. ३ अ.।

२ अकरः श्रोत्रियः। सर्ववर्णानां स्त्रियः। कुमाराश्च प्राग्व्यंजनेभ्यः। ये च विद्यार्थां वसंति। तपस्विनश्च ये धर्मपराः। शूद्रश्च पादावनेक्ता अंध-बधिरमूकरोगाविष्टाश्च। आप. ध. सूत्र. ११. १०. २६, १४-१७।

ए. क., ४, चामराजनगर, सं १८६ और येलंदूर सं. २. इन लेखों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता था। येलंदूर लेख में कहा गया है कि जीविका का साधन न रहने पर न केवल पाँच वाराह कर देने से ही मुक्त की जाय वरन् उसे छ वाराहों की वृत्ति भी दी जाय।

३ म्रियमाणोप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्। मनु. ७. १३३

कर वे आपस में बाँट लेते थे; इस अवस्था में उन्हें कुछ कर देना पड़ता था[१]। यह उचित भी था, क्योंकि अब वे अर्थहीनता के आधार पर पूरी मुक्ति पाने के अधिकारी न रह जाते थे। पर यदि ब्राह्मणों को इन ग्रामों से अपने हिस्से में मिलने वाला धन स्वल्प होता तो इस स्थिति में उन्हें सरकार पूरी मालगुजारी माफ कर देती थी[२]। मगर ऐसे करमुक्त श्रोत्रियों की संख्या बहुत कम रहती थी।

कुछ स्मृतियों ने पूरे ब्राह्मण वर्ण को ही कर से मुक्त करने का आदेश दिया है[३]। पर इस विषय में शास्त्रकारों में मतभेद दिखाई देता है। महाभारत में स्पष्ट कहा गया है कि जो ब्राह्मण अच्छे वेतन पर सरकारी पदों पर हों और जो वाणिज्य, कृषि या पशुपालन जैसी अर्थकारी वृत्ति में लगे हों, उनसे पूरा-पूरा कर लिया जाय[४]। जब ब्राह्मण-लेखक स्वयं भी इस विषय पर एकमत के नहीं हैं तो स्वभावतः राज्यों ने भी इस आदेश को अनिवार्य न माना होगा। फिर भी पूरे ब्राह्मण वर्ण के कर-मुक्त किये जाने के उदाहरण यदा-कदा मिलते हैं। परमार वंश के राजा सोमसिंह देव (अनु. १२३० ई०)[५] और विजयनगर के राजा

१ हिंदुगुर अग्रहार को १०० निष्क और केशवपुर अग्रहार को ३५० निष्क मालगुजारी में देना पड़ता था। ए. क. ५. चन्नराय पट्टण सं. १७३ और १७९।

२ इं. म. प्रे., भा. १. पृ. ७३. यहाँ पूरी मालगुजारी माफ की गयी सही पर बाद के राजाओं ने इसे न माना।

३ यथा-ब्राह्मणेभ्यः करादानं न कुर्यात्। ते हि राज्ञो धर्मकराः।

विष्णु ३-२५-६

४ गोजाविमहिषाणां च बड़वानां च पोषकाः।
वृत्त्यर्थं प्रतिपद्यन्ते तान् (विप्रान्) वैश्यान्संप्रचक्षते ॥ ४ ॥
ऐश्वर्यकामा ये चापि सामिषाश्चैव भारत।
निग्रहानुग्रहरतास्तान्द्विजान्क्षत्रियान् विदुः ॥ ५ ॥
अश्रोत्रियाः सर्व एते सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥

म. भा. १२. ७६.४-७।

५ ए. इं., ८ पृ. २०८।

अच्युतराय[1] के लेखों में सब ब्राह्मणों के कर से मुक्त किये जाने का वर्णन किया गया है। पर इन्हीं लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि यह एक असाधारण और नई बात समझी गई, इसीलिए यह इन राजाओं के विशेष श्रेय का कारण भी माना गया। इससे पता चलता है कि ये दृष्टांत साधारण नियम नहीं उसके अपवाद के सूचक हैं।

इस बात की पुष्टि दक्षिण भारत के कुछ लेखों के और भी पक्की तरह से हो जाती है, जिनमें कर न दे सकने के कारण ब्राह्मण भूस्वामियों की भूमि के नीलाम किये जाने का उल्लेख है। सन् १८२ ई के एक लेख से ज्ञात होता है कि अग्रहार भोगनेवाले ब्राह्मणों को भी बकाया भूमिकर पर ब्याज देना पड़ता था। यह बकाया भी तीन मास से अधिक न रखा जाता था, इस अवधि के समाप्त होने पर न देनेवालों की भूमि बेच कर बकाया वसूल कर लिया जाता था[2]। एक अन्य लेख से पता चलता है कि बकाया चुकाने के लिए कभी तीन महीने के एवज दो वर्ष तक मोहलत दी जाती थी, पर इसके बाद पूरा चुकता किये बिना जमीन नहीं बचायी जा सकती थी[3]। उत्तर भारत के इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिले हैं पर यह मानना गलत न होगा कि पूरे ब्राह्मण वर्ण के कर-मुक्त किये जाने के उदाहरण प्राचीन भारत में विरल ही थे। साधारणतः ब्राह्मणों को भी कर देना पड़ता था, सिवा विद्वान् ब्राह्मणों (श्रोत्रियों) के, जो निर्धन होते थे और जिन्हें राज्य से कोई वृत्ति भी न थी।

जिन देवालयों के पास विस्तृत भूमि थी, वे भी कर से मुक्त न थे। जिन मंदिरों की आय कम रहती थी उनसे आंशिक कर ही लिया जाता था, लेकिन जिनकी आमदनी काफी थी उनसे पूरा-पूरा कर वसूल लिया जाता था। राज्यकर चुकाने के लिए मंदिरों द्वारा अपनी भूमि के कुछ अंश बेचने के भी उदाहरण मिलते हैं[4]। कभी-कभी तो बकाया लगान के लिए राज्य द्वारा ही मंदिरों की भूमि बेचे जाने के भी उदाहरण मिलते हैं[5]।

---

१ इ. म. प्रे. भा., १, पृ. २२. गुंतुर जिले में भी ब्राह्मणों को पूरी करमुक्ति कभी-कभी मिलने का वर्णन आता है; देखो, इं. म. प्रे, भा. १ पृ. २२

२ ए. क , ५ अर्सिकेरा सं. १२८।

३ इं. म. प्रे. भा. २ पृ. १२४५

४ सौ. इं. ए. रि., १८९० सं. ५७

५ इं. म. प्रे., भा. २ पृ. १३२२

अब करों पर विचार करना चाहिये। भूमिकर ही राज्य की आय का मुख्य साधन था। उत्कीर्ण लेखों में इसका उल्लेख कभी 'भागकर' और कभी 'उद्रंग' नाम से किया गया है। स्मृतियों में कर की कोई एक ही दर नहीं निश्चित की गयी है, आठ फी-सदी से ३३ फी-सदी तक कर लेने का निर्देश मिलता है[१]। भूमि की अच्छाई-बुराई के कारण ही यह अंतर पाया जाता है; उदाहरणार्थ जब मनु एक ही साँस में आठ, बारह या सोलह प्रतिशत भाग कर में लेने का निर्देश करते हैं,[२] तब यह स्पष्ट है कि भूमि की किस्म के अंतर को ध्यान में रख कर ही उन्होंने यह निर्देश दिया है। कुलोत्तुंग चोल ने कर के हिसाब के लिए भूमि को आठ श्रेणियों में विभाजित किया था[३]। भिन्न-भिन्न राज्यों में कर की भिन्न-भिन्न दर होने या एक ही राज्य द्वारा आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न दर से कर लगाये जाने के कारण भी, स्मृतियों में इस विषय में भिन्न-भिन्न निर्देश मिलते हैं[४]। फिर भी साधारण परिपाटी उपज का छठाँ भाग ही भूमिकर के रूप में लेने की थी। बंगाल[५] और बुंदेलखंड तथा बहुधा अन्यत्र भी कर एकत्र करनेवाले कर्मचारियों का नाम ही 'षष्ठाधिकृत' पड़ गया था।

पर महत्वाकांक्षी राज्यों के लिए १६ प्रतिशत भूमिकर पूरा न पड़ता था। अर्थशास्त्र[६] और यूनानी लेखकों[७] के विवरण से ज्ञात होता है कि मौर्यशासन में भूमिकर कृषक की आय के २५ प्र. श. के हिसाब से लिया जाता था, अशोक ने भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान लुंबिनी ग्राम में विशेष रियायत-स्वरूप यह दर आधी (अर्थात् उपज का आठवाँ भाग) कर दी थी[८]। चोल शासन में

१ मनु ८. १३०, गौतम १०-२४-२७, अर्थशास्त्र ५—२।

२ धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा। ८. १३०।

३ इं. म. प्रे., १ पृ. १२९—१३०

४ षड्भागमुपलक्षणं यावता प्रजानां पीड़ा न स्यात् तावदेव प्रजापालनस्यावश्यकत्वात्॥ स्मृतिरत्नाकर पृ. ६२।

५ सेन—'इंसक्रिप्शन फ्रॉम बंगाल' सं. १।

६ भा. ५ अ. २।

७ ऐंशेन्ट इंडिया एँज डिस्क्राइब्ड बाय मेगास्थेनीज।

८ हिद भगवा बुधे जातेति लुंबिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।

(रुम्मिनदे शिलालेख)

रामायण ३. १६-१४ में भी २५ प्र. श. का विधान है।

साधारण भूमि पर २० प्र. श. और सरोवर-सिंचित धान-उत्पादन करनेवाली भूमि पर ३३ प्र. श. लिया जाता था[1]। राजाधिराज चोल के राज्य में मंदिरों को रियायत के स्वरूप १० प्रतिशत कर देना पड़ता था, अर्थात् साधारण भूमि-कर इससे अधिक संभवतः २० से ३० प्र. श. रहा होगा।

यह कहना कठिन है कि सरकार खेत में होने वाले पूरे गल्ले का छठवाँ भाग लेती थी या खर्च से बची हुई उपज का। जातक कथाओं में फसल बटोरते समय सरकारी कर्मचारियों या बलिपतिगाहकों के उपस्थित रहने का वर्णन है इससे पता चलता है कि समूची उपज का ही भाग लिया जाता था[2]। पर इसका भी कोई प्रमाण नहीं कि राज्य-कर लेते समय कृषि का खर्च बाद न करता रहा हो खासकर जब उसकी दर इतनी ऊँची २५ या ३३ प्र. श. रही हो। शुक्रनीति, जो ३३ प्र. श. की अनुमति देती है स्पष्ट कहती है, कि कृषक को जितना भूमिकर और कृषि का खर्च देना पड़ता है कम से कम उसका दूना उसे पक्की आय के रूपमें मिलना चाहिये[3]। इससे प्रतीत होता है कि सरकार का भाग पूरे उत्पादन का लगभग १६ प्र. श. और आय का २५ प्र. श. होता था।

प्रकृतिजन्य कारणों से क्षतिग्रस्त होने पर, यथा समुद्र के बढ़ाव से भूमि बलुई होने आदि पर, परिस्थिति के अनुसार सरकार कर में भी छूट देती थी[4]। पर इस प्रकार की स्थिति में कर में सुविधा अपने-आप भी मिल जाती थी, कारण कर तो उत्पादित अनाज का ही एक अंश होता था अतः यदि उत्पादन कम होता था तो कर भी उसी हिसाब से कम हो जाता था।

भूमिकर अनाज के रूप में ही लिया जाता था यह सिद्ध करने के लिए प्रचुर प्रमाण हैं। भागकर नाम ही इस बात का सूचक है कि यह खेत में होने वाली फसल का ही एक भाग था। जातकों में कर एकत्र करने वाले कर्मचारी को 'द्रोणमापक' अभिधान दिया गया है, जिसका अर्थ 'द्रोण की माप से

---

१ ए. क., भा. १० मुलबांगल सं. ४४ अ और १०७।

२ भा. २. पृ. ३७८।

३ राजभागादिव्ययतो द्विगुणं लभ्यते यतः ॥
कृषिकृत्यं तु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदं नृणाम् ॥ ४. २. ११५।

४ इं. म. प्रे.; १पृ. १२६।

अनाज नापने वाला' होता है। जातकों में ऐसे भी धर्मभीरु व्यक्तियों की कथा है जो अपने ही खेत से एक मुट्ठी धान की बाली तोड़ लेने पर पछतावा करते देखे जाते हैं कि इससे राजा अपने भाग से वंचित हो जाता है[1]; अर्थशास्त्र में ऐसे अवसर पर जुर्माने का भी विधान है[2]। स्थान-स्थान पर राज्य की विशाल खत्तियाँ या कोठियाँ होती थीं, जहाँ भूमिकर में मिले अन्न का संचय किया जाता था। इसकी देखरेख राजकीय अधिकारी करते थे जो घुन लगने या सड़ने के पूर्व ही इसकी निकासी की व्यवस्था करते थे[3]।

कुछ लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि ६वीं शताब्दी के बाद कहीं-कहीं भूमिकर नकद भी वसूल किया जाता था। युक्तप्रांत के १० वीं शताब्दी के एक गुर्जर प्रतिहार दानपत्र में एक गाँव की आमदनी में से ५०० मुद्रा किसी देवालय के लिए लगाये जाने का वर्णन है[4]। इसी काल के उड़ीसा के एक लेख में ४२ 'रूपयों' (चाँदी के सिक्के) की आमदनी के एक गाँव के दान का विवरण है[5]। राजराजेश्वर मंदिर के ११वीं शताब्दी के दो भित्तिलेखों में ५ ग्राम की आमदनी का विवरण दिया गया है, इनमें से ३० ग्रामों में सरकारी कर अनाज के रूप में ही, प्रति 'वेलि' १०० 'कलम' धान के हिसाब से, लिया जाता था, पर ५ ग्रामों में यह सिक्कों में १० स्वर्ण कलंजु प्रति 'वेलि' की दर से लिया जाता था[6]। इससे प्रतीत होता है कि ६वीं शताब्दी के आस-पास नकद कर लेने का प्रारंभ हुआ। पर ऐसे उदाहरण विरल ही हैं।

भूमिकर नकद लिये जाने की अवस्था में यह अवश्य ही दो किश्तों में शरद और वसंत ऋतु की फसल बटोरते समय लिया जाता रहा होगा[7]।

---

१ भा, २ पृ. ३७८।

२ भा. २. अ. २२।

३ शुक्रनीति, ४. २. २६–९।

४ इं. ऐ., १६. १७४।

५ एपि, इं, १२ पृ. २०।

६ सौ. इं. इं. भा. २ सं. ४ और ५।

७ भट्टस्वामी (अर्थशास्त्र २, १५) और कुल्लूक (मनु ८, ३०७) ने इस प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

गुजरात के एक लेख से ज्ञात होता है कि कभी-कभी राष्ट्रकूट शासन में यह तीन बार में एकत्र किया जाता था[1]।

भूमिकर का प्रमाण समय-समय पर बदलता था। स्मृतियों ने राज्य की आवश्यकतानुसार इसके वृद्धि की भी गुंजाइश रखी है। साथ ही सिंचाई की नहर सूख जाने पर कर में कमी करना भी आवश्यक था। बनवासी के एक उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि ऐसे अवसरों पर सरकार अपने कर्तव्यपालन से विरत न होती थी[2]।

भूमिकर न चुकाने पर एक निश्चित अवधि के बाद, जो समय और स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न थी, भूमि बेच दी जाती थी। राजेंद्र चोल के[3] समय यह अवधि तीन साल की थी, कुलोत्तुंग[4] ने इसे घटा कर दो वर्ष कर दिया था। बकाया रकम पर ब्याज भी लगाया जाता था। पहले दिखाया जा चुका है कि ब्राह्मणों की और मंदिरों की भूमि भी कर न देने के कारण जप्त कर ली जाती थी। पर आश्चर्य की बात है कि स्मृतियों में कहीं भी राज्य द्वारा नादेहन्दों की भूमि जप्त करने के अधिकार का उल्लेख नहीं है। क्या यह अधिकार ६०० ई० के बाद ही अस्तित्व में आया ?

यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार करना है कि कृषियोग्य भूमि का स्वामी कौन होता था। यदि भूमि का स्वामी राज्य था तो कृषक से लिये जाने वाले धन को मालगुजारी मानना पड़ेगा, भूमिकर नहीं। पर यदि भूमि का स्वामी कृषक था तो इसे भूमिकर कहना होगा।

आजकल की भाँति प्राचीनकाल में भी इस प्रश्न पर मतभेद था। मनुस्मृति में कहा गया है कि भूगर्भ की निधियों का स्वामी राजा है क्योंकि वह भूमि का भी अधिपति है[5]। इससे केवल कृषियोग्य ही नहीं सब प्रकार की भूमि पर

---

१ इं.डि., ऐंटि, १२ पृ. ६८।

२ ए. क. ८. सोराब सं. ८३।

३ सौ. इं. इं., ३, सं. ९।

४ इं. म. प्रे., भाग २ पृ. ११४५

५ निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।
अर्धभाग्रक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ८. ३९।

राजा के स्वामित्व का समर्थन होता है। अर्थशास्त्र के टीकाकार भट्टस्वामी ने एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि भूमि और जलाशयों पर राजा का ही स्वामित्व है[1] इतर व्यक्ति का नहीं। डायोडोरस का भी कथन है कि भारत में भूमि का स्वामी राजा ही माना जाता है, कोई व्यक्ति मालिक नहीं माना जाता। उपर्युक्त इन तीन मतों के विरुद्ध, जो इस विषय में निश्चयात्मक नहीं माने जा सकते[2]। हमारे सामने पूर्व मीमांसा की स्पष्ट उक्ति है जिसमें कहा गया है कि कुछ यज्ञों के अंत में राजा द्वारा सर्वस्व दान का विधान है पर इस अवसर पर राजा प्रजा की निजी भूमि दान में नहीं दे सकता[3]। अर्थशास्त्र भी राजकीय भूमि और प्रजा की व्यक्तिगत भूमि में स्पष्ट अंतर करता है[4]। नारद भी कहते हैं कि राजा जनता के गृह और क्षेत्र के स्वामित्व में हस्तक्षेप न करे अन्यथा इससे पूरी अव्यवस्था फैल जायगी[5]। नीलकण्ठ भी

---

१ राजा भूमेः पतिर्दृष्टो शास्त्रज्ञै रुदकस्य तु।
ताभ्यामन्यत्तु यद्द्रव्यं तत्र स्वाम्यं कुटुंबिनाम् ॥ भा. २ अध्याय २४

२ संभव है कि भूगर्भस्थ निधियों का स्वामित्व सिद्ध करने के लिए ही मनु ने समस्त भूमि पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित किया हो। भट्टस्वामी का आशय भी साधारणतः जल और स्थल पर राजा का आधिपत्य प्रतिपादित करना था जैसे आजकल जल, स्थल और आकाश में राज्य का आधिपत्य माना जाता है। राजकीय भूमि से ही यूनानी लेखकों ने समस्त भूमि पर राजा के स्वामित्व की कल्पना कर ली हो। इस संबंध में युवान च्वांग के मत का पता उसके यात्रा विवरण से चलता। देखिये भाग १ पृ. १७६।

३ न भूमिः सर्वान् प्रति अविशिष्टत्वात्। पू० मी० ६. ७. ३. इस पर का शबरभाष्य ऐसा है :—
य इदानीं सार्वभौमः स तर्हि भूमिं दास्यति।
सोऽपि नेदि ब्रूमः। कुतः।......
सार्वभौमत्वे त्वस्यैतदेवाधिकं यदसौ पृथिव्यां सभूतानां व्रीह्यादीनां रक्षणेन निर्दिष्टस्य कस्यचिद्भागस्येष्टे न भूमेः।

४ भाग २ अध्याय २३।

५ गृहक्षेत्रे च द्वे दृष्टे वासहेतू कुटुंबिनाम्।
तस्मात्ते नाक्षिपेद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः ॥ ९-४२।

व्यवहारमयूख में स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि राजा समस्त पृथिवी का अधिपति है, फिर भी क्षेत्र आदि (खेत) का स्वत्व जनता का ही है राज्य का नहीं[1]।

प्रागैतिहासिक काल में भूमि पर पूरे समाज का स्वामित्व माना जाता था, इसका पता कुछ आचार्यों के इस मत से चलता है कि पूरे ग्राम, गोत या विरादरी की अनुमति से ही भूमि बेची या हस्तांतरित की जा सकती है[2]। भूमि के इस समाजगत स्वामित्व का यह अर्थ नहीं कि समाज सरकार द्वारा किसी व्यक्ति की भूमि छीन सकता था, इससे तो केवल भूमि के हस्तांतरित किये जाने पर एक रोक सी रहती थी ताकि कोई अवांछनीय व्यक्ति ग्राम में न आ जाय। यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैदिककाल में राजा भी कोई भूमि दान में तभी दे सकता था जब पड़ोसी उसमें आपत्ति न करें[3]।

प्रागैतिहासिक काल में समाजगत स्वामित्व का प्रभाव ऐतिहासिक काल में दो बातों के रूप में देख पड़ता है। भूमिकर न देने पर भूस्वामी को उसकी भूमि से हटा सकने का राज्य का अधिकार मकानदार के किराया न देनेवाले किरायेदार को हटा सकने के अधिकार के समान है। यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि पहले राज्य सब भूमि का स्वामी था। ऐतिहासिककाल में भी ऊसर, जंगल और खानों पर राज्य का अधिकार पूर्व काल के उसके समस्त भूमि पर स्वामित्व के ही आधार पर था।

इस बात के निश्चित और प्रबल प्रमाण हैं कि ६०० ई० पू० के बाद से कर न देने की अवस्था को छोड़ कर शेष किसी भी स्थिति में सरकार किसी भी व्यक्ति की भूमि नहीं छीन सकती थी। लोगों को अपनी भूमि दान करने, बेचने या बंधक रखने की पूरी आजादी थी। अम्बपाली और अनाथपिंडिक ने बौद्ध संघ को वैशाली और श्रावस्ती में विस्तृत भूमि दान दी थी। जातक में भी

---

१ तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद्भौमिकानामेव। राज्ञां तु करग्रहणमात्रम्। अतएव इदानींतनपारिभाषिकक्षेत्रदानादौ न भूदानसिद्धिः। किंतु वृत्तिकल्पनामात्रमेव।

व्यवहारमयूख, स्वत्वागम अध्याय।

२ स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च।
हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी। मिताक्षरा याज्ञ. २.११३।

३ शत. ब्रा. १. ७. ३ ४; ८, १. १. ८।

मगध के एक ब्राह्मण द्वारा अपनी भूमि दूसरे को देने का उल्लेख है[1]। उत्कीर्ण लेखों में भी अनेक व्यक्तियों द्वारा बिना सरकार की ओर से किसी बाधा या आपत्ति के अपनी भूमि के दानों के बहुत से उल्लेख मिलते हैं[2]।

इसमें संदेह नहीं कि उत्कीर्ण लेखों में राज्य द्वारा ब्राह्मणों या देवालयों को पूरे गाँव दान में दिये जाने के उदाहरण मिलते हैं, पर इससे कृषियोग्य भूमि पर राज्य का स्वामित्व नहीं सिद्ध होता। कारण इन दोनों को राज्य को मिलनेवाले कर, जिनमें भूमिकर भी शामिल है, अपने लिए लेने का ही अधिकार दिया जाता था, इससे गाँव में रहनेवाले व्यक्तियों की निजी भूमि के स्वत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। दानपत्रों में लोगों से अपनी भूमि छोड़ देने को कभी नहीं कहा जाता, उनसे केवल यही कहा जाता है कि दान पाने वाले व्यक्ति का यथोचित सम्मान करें और राज्य अधिकारी को जो कर दिये जाते थे वे उसे दिये जायँ। भविष्य में आनेवाले शासकों को गाँव की भूमिपर कब्जा करने से नहीं वरन् गाँव से कर उगाहने को वरजा जाता है[3]।

कभी-कभी राज्य द्वारा भूमिदान के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं, पर इनमें पूरा ग्राम नहीं वरन् उसमें स्थित भूखंड, जो कभी-कभी छितरे भी रहते हैं, दान किये जाते हैं। यथा, वलभी के ध्रुवसेन एक ग्राम के देवालय को ३६० पादावर्त भूमि देना चाहते थे, इसमें उन्होंने ग्राम के उत्तर-पश्चिम में स्थित चार टुकड़े और उत्तर-पूर्व के चार टुकड़े जिनका माप ३०० पादावर्त था और ४० और २० पादावर्त के दो खेत कुएँ से सींचे जानेवाले दिये[4]। यदि राजा ग्राम की पूरी भूमि का स्वामी होता तो वह ३६० पादावर्त का पूरा एक चक ही दे सकता था और पानेवाला भी यही पसंद करता। पर ऐसा न करने का

---

१ भा. ४, पृ. २८१।

२ एपि. इं., ८ नासिक सं. १९

३ ते यूयं समुचितभागभोगकरहिरण्यादिप्रत्यायोपनयनं करिष्यथ आज्ञाश्रवणविधेयाश्च भविष्यथ। कॉ. इं. इ. भा. ३ पृ. ११२।

देखिये खोह ताम्रपत्र, वही पृ. १२६.१३३। पाली दानपत्र, एपि. इं., २ पृ. ३०४, बरह दानपत्र, एपि. इं, १९ पृ १५।

४ एपि. इं, ३ पृ. ३२१।

कारण यही हो सकता है कि राजा या सरकार के अधिकार में गाँव के कुछ थोड़े से खेत थे, जो उसे उत्तराधिकारी न रहने या कर के बकाया में मिल गये थे। आजकल की भाँति प्राचीनकाल में भी प्रत्येक ग्राम में कुछ भूमि राज्य के अधिकार में रहती थी, इन्हें कुछ लेखों में 'राज्य-वस्तु' कहा गया है[1]। जब राजा भूमिदान करना चाहते थे तो यही राजकीय खेत दे देते थे[2]। जब 'राज्य-वस्तु' में कोई खेत न होते तो वे खरीद कर भूमिदान करते थे; एक लेख में एक वैदुम्ब वंशी राजा द्वारा (९५० ई०) ग्राम-सभा से ३ वलि भूमि खरीद कर देवालय को दिये जाने का वर्णन है। कुछ चोल लेखों में भी ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें राज्य की अपनी भूमि न होने पर अन्य व्यक्तियों से खरीद कर दान किये गये थे[3]।

कुछ अन्य लेखों से उपर्युक्त बात और भी स्पष्ट हो जाती है। एक लेख में दक्षिण के राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष (८५० ई०) द्वारा तलेयूर ग्राम और उसी में स्थित एक ५०० × १५० हाथों की फुलवारी के दान का वर्णन है[4]। एक अन्य लेख में सम्राट् गोविन्दचन्द्र (११५० ई० उत्तर प्रदेश) द्वारा लोलिशपाद ग्राम और उसमें स्थित 'तियायी' नामक क्षेत्र के दान का उल्लेख है[5]। यदि ग्राम के दान से ग्राम की पूरी भूमि के दान का अर्थ होता तो, उसमें के किसी खेत या फुलवारी के अलग दान के उल्लेख की क्या आवश्यकता थी?

अतः निश्चित प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि कम से कम उत्तरबौद्धकाल में कृषियोग्य भूमि का स्वामित्व जनता को ही था और राज्यकर न देने के सिवा

---

१ चेंडलूरग्रामे राज्यवस्तुभूत्वा स्थितं क्षेत्रं······ब्राह्मणाय प्रदत्तम्।
एपि. इं. पृ. २३५।

२ छोटे छोटे टुकड़ों के दान के लिए देखिये इं. ऐ. ९ पृ. १०३ (आंध्र देश, तीसरी सदी), एपि. इं. ३ पृ. २६०-२ (मध्यप्रांत ५ वीं सदी), इं. ऐ. ६ पृ. ३६ (तामिल देश ९ठीं शताब्दी), एपि इं. ६ पृ. ५६ (मैसूर १० वीं सदी), इ. एँ. ६ पृ. २०३ गुजरात १३वीं सदी)

३ सौ. इं. इं., ३ पृ. १०४ ६।

४ एपि. इं. ४ पृ. २९.,

५ वही ७ पृ० २०३-४;

और किसी कारण से इस स्वत्व का अपहरण न हो सकता था। अतः राज्य को मिलने वाली रकम भूमिकर था भूमि का किराया नहीं।

अब हम दूसरे करों की ओर दृष्टिक्षेप करेंगे। कृषि की भाँति वाणिज्य और उद्योग को भी अपने योग्य करों का भार उठाना पड़ता था। व्यापारियों को ग्राम या नगर में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी देनी पड़ती थी। इसका औचित्य यों था कि राज्य को सड़कों की मरम्मत और सुरक्षा पर बहुत खर्च करना पड़ता था[1]। यह चुंगी नगर या ग्राम के प्रवेश-द्वार पर 'शौल्किक' नामक कर्मचारियों द्वारा वसूल की जाती थी[2]। स्थान-स्थान की प्रथानुसार यह शुल्क पैसा या पदार्थों में लिया जाता था। स्मृतियों के निर्देशों से प्रतीत होता है कि चुंगी पदार्थों के रूप में ही ली जाती थी[3], कभी-कभी तो कुछ लेखों में किसी स्थान पर शुल्क में मिलने वाले घी, तेल, कपास, पान आदि की वास्तविक संख्या भी दी गयी है[4]। मुद्रा में भी चुंगी एकत्र की जाती रही होगी, सोना, चाँदी, और रत्नों पर तो अवश्य ही नकद चुंगी लगती रही होगी। कभी कभी उत्कीर्ण लेखों में चुंगीघरों की आय से दान का उल्लेख मिलता है[5]; इससे भी सिद्ध होता है कि लोगों को अधिकार था कि चुंगी पदार्थों के रूप में दें या मुद्रा में।

वस्तु के अनुसार चुंगी की दर भी पृथक् पृथक् थी, जैसा आजकल होता है। मनु ने ईंधन, मांस, मधु, घी, गंध, औषधि, फूल, शाक, मिट्टी के बर्तन और चमड़े के सामान पर १६ प्र० श० चुंगी लेने की अनुमति दी है। अर्थ-शास्त्र ने इन पदार्थों पर इससे कम, माने ४ या ५ प्र० श० लेने का आदेश

---

१ मार्गसंस्काररक्षार्थं मार्गगेभ्यः फलं हरेत्। शुक्र ४. २. २९

२ इं. ऐ. २५ पृ. १८ (कुमायूँ ९वीं शताब्दी) मजूमदार ईंस. बंगाल सं. १ (बंगाल ८वीं शताब्दी)

३ आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गंधौषधिरसानां च पत्रमूलफलस्य च॥ मनु ७-१३१। और भी शुक्र ४. २. १२१; अर्थशास्त्र २. २२ देखिये।

४ एपि. इं. ३ पृ. ३६।

५ एपि. इं. १ सं. १६।

दिया है। सूती वस्त्र पर भी इतना ही शुल्क था पर मदिरा और रेशमी वस्त्र पर ५ से १० प्र० श० लिया जा सकता था[१]। अस्तु, यह स्पष्ट है कि राज्य की नीति और आवश्यकता तथा समय और स्थान के अनुसार चुंगी की दर बदलती रहती थी। स्मृतियों में उल्लिखित वस्तुओं पर चुंगी वसूले जाने का प्रमाण उत्कीर्ण लेखों में भी मिलता है पर इसकी दर नहीं बतायी गयी है[२]।

यज्ञ, विवाह इत्यादि धार्मिक विधियों व संस्कारों में जो पदार्थ लगते थे वे करमुक्त रहते थे। वधू को भेंट देने के लिए खरीदी जाने वाली साड़ियों, जेवर इत्यादि पर भी कर नहीं लिया जाता था (अर्थशास्त्र, २, २१) हिन्दू, जैन व बौद्ध मंदिरों की मूर्तियों के लिए जो अलंकार खरीदे जाते थे ,उन पर भी कर नहीं लिया जाता था। इसका नतीजा यह होता था कि कभी-कभी व्यापारी लोग भिक्षुओं के साथ नगर में सोना, जेवर इत्यादि भेजते थे जो यह बहाना करते थे कि वे सब बुद्ध भगवान् की मूर्तियों के लिए खरीदे गये हैं, और अधिकारियों को उनको करमुक्त करना पड़ता था (अमरेरटीका अध्याय २, अप्रकाशित)।

चुंगी के साथ ही यात्री, माल, मवेशी और गाड़ियों को नदी आरपार ले जाने के लिए एक नौका-कर भी लगता था। यह कर बहुत अल्प था।

चुंगी, जकात, और नौका-कर के अतिरिक्त वाणिज्य को कुछ और भी कर-भार वहन करना पड़ता था। कुछ राज्यों में माप और तौल की जाँचकर उन्हें मुहर लगा कर प्रमाणित किया जाता था और इसके लिए कुछ स्वल्प कर देना पड़ता था[३]। उत्कीर्ण लेखों में बहुधा दूकान-कर का भी उल्लेख है यद्यपि स्मृतियों में यह विरल ही है। यादवकाल में दक्खिन प्रांत में इसका चलन था[४]। दक्षिण भारत में पांड्य[५] राज्य में इसकी दर ६ पणम् प्रति वर्ष, और गुर्जर प्रतिहार राज्य में दो विंशोपक प्रतिमास थी। ऐसा जान पड़ता है कि यह

---

१ अ० ७., १३१–२।

२ अर्थशास्त्र भा० २–२२.।

३ अर्थशास्त्र भा. २. १९।

४ इं. ऐ. १२ पृ. १२७।

५ ए. इं., ३ सं० ३६।

एक हलका कर था जो छोटे नगरों और ग्रामों में दूकानों पर लगाया जाता था। मेगास्थनीज ने विक्री की रकम पर जिस १० प्र० श० कर का जिक्र किया है, वह अर्थशास्त्र या स्मृतियों में नहीं पाया जाता। संभव है कि भ्रमवश मेगास्थनीज चुँगी को ही विक्री कर समझ बैठे हों।

अब उद्योग-धंधों पर लगने वाले करों का विचार करना है। जहाँ तक बढ़ई और लुहार जैसे छोटे-मोटे कारीगरों का संबंध है उन्हें महीने में एक या दो दिन सरकार के लिए काम करना पड़ता था[५]। सरकार यह अधिकार अधिकतर स्थानीय संस्थाओं को दे दिया करती थी ताकि सार्वजनिक निर्माण-कार्य में इसका उपयोग हो सके। उत्कर्ण लेखों में इसे 'कारुकर' (कारीगरकर) कहा गया है। इसमें संभवतः नाई, धोबी, सुनार, और कुम्हार भी शामिल थे।

विजयनगर-साम्राज्य में बुनकरों को प्रति करघा १२ पणम् कर देना पड़ता था[१]। संभव है कि पहले भी यही परिपाटी रही हो।

सुरा के व्यापार पर राज्य का कड़ा नियंत्रण था। सुरा राजकीय सुरालयों में भी बनायी जाती थी और व्यक्तिगत सुरालयों में भी। इन्हें ५ प्र० श० आबकारी कर देना पड़ता था[२]।

सब खानें राजकीय संपत्ति समझी जाती थीं। कुछ तो सरकार स्वयं खुदवाती थी और कुछ ठेके पर दे दी जाती थीं। ठेकेदार को खान से निकलने वाले द्रव्य पर भारी कर देना पड़ता था। शुक्र, सोने और हीरे पर ५० प्र. श., चाँदी और ताँबे पर ३३ प्र. श. और अन्य धातुओं पर १६ से २५ प्र. श. कर लेने की अनुमति देते हैं[३]। स्मृतियों में सोने पर जो २ प्र. श. कर लिखा गया है[४] वह बहुधा जकात था आबकारी नहीं।

---

५ पहले के स्मृतिकार मनु (७. १३८) और विष्णु (३. ३२) आदि महीने में एक दिन काम लेने का आदेश देते हैं पर बाद के स्मृतिकारों, शुक्र आदिने इसे बढ़ाकर दो दिन कर दिया।

१ इं. म. प्रे. १, पृ. ५०।

२ अर्थशास्त्र, भा० २ अध्याय २५।

३ ४. २. ११८–९।

४ विष्णु ३. २४।

नमक पर भी आबकारी कर लिया जाता था। नमक की खानें या तो सरकार खुदवाती थी या उसकी अनुमति से कोई अन्य। ग्रामों के दानपत्रों में दान पानेवाले को अक्सर बिना कोई शुल्क दिये धातु या नमक के लिए खुदाई करने का अधिकार भी दिया जाता था[१]।

पशुपालन भी एक प्रमुख व्यवसाय था विशेषकर प्राचीन या वैदिक काल में, अतः इसे भी अपना भाग राज्य को अदा करना पड़ता था। मनु ने पशुयूथ पर २ प्र. श. कर की अनुमति दी है[२], यह २ प्र. श. संभवतः पूरे यूथ का था। शुक्र ने ६ से १२ प्र. श. की राय दी है, यह भाग सालभर में जितनी वृद्धि हुई हो संभवतः उसी से लिया जाता था। उत्कीर्ण लेखों से एक तीसरी प्रणाली का पता चलता है, इसमें यूथ में जितने पशु होते थे प्रति पशु कुछ नकद रकम प्रति वर्ष ली जाती थी[३]।

जिन चुंगी और आबकारी करों का अब तक उल्लेख किया गया है उनके लिए शिलालेखों में एक ही सारगर्भ शब्द 'भूतोपात्तप्रत्याय' प्रयुक्त होता था। अर्थात् 'भूत' जो कुछ अस्तित्व में आया था बनाया गया हो और 'उपात्त' जो कुछ बाहर से लाया गया हो, उस पर लिया जाने वाला कर[४]। कभी-कभी जकात या चुंगी के लिए केवल शुल्क का प्रयोग होता था[५]।

प्राचीनकाल में "विष्टि' (बेगार) का भी काफी चलन था। यह उचित समझा जाता था कि जो गरीब आदमी नकद या धान्यादि के रूप में सरकार को कर देने में समर्थ न थे वे शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को कुछ कर दे दे। उन्हें प्रतिदिन तो कार्य मिलता न था अतः उनसे मास में एक दो दिन सरकार

---

१ इं. ऐ. १८ पृ ३४–५।

२ अ० ७. १३०।

३ वीरपाण्ड्य के राज्य में (१२५० ई०) ५० भेड़ों, १० गायों या ५ भैंसों पर १ पणम् प्रतिवर्ष लिया जाता था। पणम् आजकल के ६ आने के बराबर एक चाँदी का सिक्का था।

४ एपि. इं. ६, पृ. २९, इं. ऐं. १२. पृ. १६१; ५. पृ. १५०, अल्तेकर, राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. २२८–९।

५ इं. ए. १२. पृ. २६४; १६. पृ. २४।

के लिए काम लेने में कोई अनौचित्य न समझा जाता था[१]। सरकार के लिए विष्टि करते समय वे सरकार से भोजन पाने के अधिकारी थे[२]।

सरकार के अधिकारी जब देहात में दौरे पर जाते थे, तब यह बेगार ली जाती थी[३]। अन्यथा स्थानीय संस्थाओं को गाँव या नगर के सार्वजनिक उपयोगी कामों में इस श्रम को उपयोग करने का अधिकार दे दिया जाता था।

बेगार एक अप्रिय प्रथा है। युवान च्वांग के समय (ई. स. ६३०) कहीं-कहीं इसका चलन ही न था और अन्यत्र भी इससे बहुत ही कम काम लिया जाता था[४]। अधिकारियों का दौरा रोज-रोज तो होता न था, इसलिए सड़क, धर्मशालाओं तथा सरोवरों आदि की मरम्मत और निर्माण में ही जो लोग इन कार्यों के लिए चंदा न दे सकते थे उनसे बेगार ली जाती थी। इन कार्यों से सर्वसाधारण जनता का ही लाभ होता था।

राज्यकार्य से सरकारी कर्मचारियों के ग्राम में आगमन पर ग्रामवासियों को उनके रहने और भोजन का व्यय देना पड़ता था, इसके लिए सबसे चंदा लिया जाता था[५]। इनके घोड़ों के लिए दाना और घास देना पड़ता था तथा इनकी यात्रा के लिए अगली मंजिल तक सामान पहुँचाने के लिए भारवाहक पशुओं का भी प्रबंध करना पड़ता था[६]।

नियमित करों के अतिरिक्त आकस्मिक संकट उपस्थित होने पर या साम्राज्य-विस्तार की योजनाओं के लिए साधन जुटाने के लिए प्रजा से विशेष कर भी लिये जाते थे। महाभारत तो ऐसे अवसरों पर भी विशेष कर लगाने के विरुद्ध है पर बड़ी अनिच्छा से कहता है कि कभी-कभी इसके सिवा दूसरा उपाय भी नहीं

---

१ गौतम २. १. ३१; मनु ७. १३८ और विष्णु ३. ३२, केवल एक दिन की बेगार की अनुमति देते हैं, शुक्र दो दिन की।

२ भक्तं च तेभ्यो दद्यात्। गौ. ध. सू. २. १. ३५।

३ उत्तरी भारत के लेखों में 'स्कंधक' कर का उल्लेख है। इसका अर्थ संभवतः दौरा करनेवाले अधिकारियों का सामान ढोना था। एपि. इं., ३. पृ. २६६।

४ वॉटर्स, भाग १. पृ. १७६।

५ राजसेवकानां वसतिदंडप्रयाणदंडौ न स्तः। इं. एं. १४ पृ. ३१९

६ अपारंपरगोबलिवर्दः। वाकाटक दानपत्र।

रहता है। यह इस बात पर जोर देता है कि ऐसे अवसरों पर विशेष प्रचारक भेजे जायँ जो जनता को नये कर का औचित्य समझाकर उसे कर देने के लिए राजी कर सकें[1]। अर्थशास्त्र में इन विशेष करों को 'प्रणय' या भेंट का नाम दिया गया है कि किसानों से २५ प्र० श० और व्यापारियों से उनकी हैसियत के अनुसार ५ से ५० प्र० श० तक लिया जाय[2]।

उत्कीर्ण लेखों में इन विशेष करों का उल्लेख मिलता है। रुद्रदामन ने अपने लेख में गर्वोक्ति की है कि विशाल सुदर्शन झील बिना प्रजा से विशेष कर या बेगार लिये बनवायी गयी। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विशाल निर्माण-कार्य के लिए विशेष कर लेने की प्रथा थी। वीर राजेन्द्र ने वेंगी के चालुक्यों के विरुद्ध अपने युद्ध का साधन जुटाने के लिए प्रति वेलि भूमि पर कलंजु सुवर्ण का विशेष कर लगाया था[3]। गहडवाल राज्य में लिया जानेवाला 'तुरुष्क दंड' भी इसी प्रकार का एक विशेष कर था जो संभवतः मुसलमानी आक्रमण का सामना करने के लिए सैन्यसंग्रह हेतु लगाया गया था[4]।

अन्त में प्राचीन भारत की कर-व्यवस्था वास्तविक व्यवहार में कहाँ तक न्यायसगत और औचित्यपूर्ण थी इसका विचार करना जरूरी है। हम देख चुके हैं कि स्मृतियों में कर-व्यवस्था के जो सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं वे अत्यंत निर्दोष और न्यायसंगत हैं। पर प्रश्न यह है कि वे प्रत्यक्ष व्यवहार में कहाँ तक माने जाते थे। इस विषय में छानबीन करते समय यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे पास इस संबंध में बहुत कम सामग्री है। राजप्रशस्तियों में सर्वदा प्रजा सुखी, संतुष्ट और समृद्ध ही बतायी जाती है, पर उत्कीर्ण लेखों और ग्रंथों से इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिले हैं कि कभी-कभी कर अत्यधिक और प्रजा के लिए कष्टकर होते थे। एक जातक में कर एकत्र करने वाले कर्मचारियों के भय से जंगल में भागी हुई प्रजा की कष्ट-कथा का वर्णन है[5]। कश्मीर के राजा ललितादित्य ने अपने उत्तराधिकारियों को सलाह दी थी कि

१ शांति. ८७. २६–३९।
२ भा. १ अ. १२।
३ सौ. इं. ए. रि. १९२० सं. ५२०।
४ एपि. इं. १४ पृ. १९३।
५ भा. ५. पृ. ९८

प्रजा पर इतना कर लगाया जावे कि उसके पास केवल इतना ही अन्न बच जाय जिससे किसी प्रकार साल भर तक उसका काम चल जाय[१]। कश्मीर के राजा शंकर वर्मा के शासन में इतना अधिक कर लिया जाता था कि प्रजा के लिए हवा पीकर ही प्राण रक्षा करने के सिवा अन्य कोई साधन शेष न रह गया था[२]।

कुछ लेखों से ज्ञात होता है कि तंजोर जिले के कुछ ग्रामों में प्रजा ने अत्यधिक कर से व्याकुल होकर विरोध स्वरूप खेती करना ही छोड़ दिया था[३]। तृतीय कुलोत्तुंग के राज्य में उसके एक सामंत ने ग्राम-सभा के विरोध की उपेक्षा करके ऊसर भूमि पर भी कर लगा दिया था। यह अन्याय्य कर न देने पर पंचायत के सदस्य बंदीगृह में रखे गये और उनका छुटकारा तभी हो पाया जब ग्राम-सभा की कुछ भूमि बेच कर नया कर चुकाया गया[४]। ब्रह्मदेय ग्रामों के लोगों को भी अत्याचार का शिकार होना पड़ता था और कर की वसूली के लिए कड़ी धूप या पानी में खड़े रहना पड़ता था और इस अत्याचार से छुटकारा पाने का भी उपाय न था[५]।

पर इन घटनाओं को व्यर्थ अधिक महत्व भी न देना चाहिये। उपर्युक्त कश्मीरी राजा असाधारण अत्याचारी थे। उनमें से शंकरवर्मा, दिद्दा और हर्ष की श्रेणी ही अलग है। हर्ष न केवल मंदिरों की संपत्ति का ही अपहरण करता था वरन् देवमूर्तियों को भी भ्रष्ट करके उनका सोना कोष में जमा करता था। अतः इन राजाओं के अत्याचार को साधारण स्थिति का द्योतक नहीं माना जा सकता है। दक्षिण भारत के संबंध में सैकड़ों लेखों से कर एकत्र किये जाने की प्रणाली का वर्णन मिलता है। और यह उल्लेखनीय बात है कि इस संबंध में ज्यादती के उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं। जो कुछ भी उदाहरण मिलते हैं वे चोल-शासनकाल के अंत के हैं, जब शासन-व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी।

---

१ राजतरंगिणी ४, पृ. ३४४।

२ कायस्थप्रेरणादेतैर्देवेनाद्य प्रवर्तितैः।

आयासैः श्वासशेषैव प्राणवृत्तिः शरीरिणाम्। राज. ५. १८४।

३ सौ. इं. ए. रि., १८९७ सं. ९६. ९८, और १०४।

४ वही, १९१२ सं. १०२।

५ वही १८९५ सं. १५६।

अन्याय्य करों का जनता द्वारा सफल विरोध के भी उदाहरण हमें पर्याप्त मिलते हैं। तंजोर जिले के नाडुओं का उदारहण है जहाँ ग्रामसभाओं ने अपनी बैठक में केवल नियमिति कर के सिवा अन्य कोई भी कर न देने का निश्चय किया था[१]। कर्नाटक की एक ग्रामसभा का उदाहरण भी हमारे सम्मुख है जिसने गायों और भैंसों पर कर देने से इस कारण इनकार कर दिया कि इस प्रकार के कर की प्रथा चिरकाल से न थी। इसके अतिरिक्त इस ग्रामसभा ने यह भी निश्चय किया कि भूमिकर किस हिसाब से दिया जाय[२]। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि जनता अनुचित कर का विरोध करने में सदैव तत्पर रहती थी। अत्याचारी निरंकुश शासकों के सामने भले ही उनकी न चल पाती हो पर साधरण प्रवृत्ति के शासकों के सन्मुख वे अधिकारों की रक्षा कर लेते थे। वैदिककाल की समिति की भाँति कोई जनसंस्था ईसा की पहली सहस्राब्दी में न थी जो राजा की निरंकुशता पर अंकुश रख सके, पर ग्रामपंचायतों में अपने अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा के लिए पर्याप्त शक्ति थी।

अब यह देखना है कि कर के अतिरिक्त राज्य की आय के और क्या स्रोत थे। इनमें मुख्य राजकीय संपत्ति और राजकीय कारखाने और उद्योग से होनेवाली आय, जुर्मानों की रकम और सामंतों से मिलने वाला उपायन या खिराज थे।

राजकीय संपत्ति में राज्यवस्तु भूमि, ऊसर, जंगल, भूगर्भस्थ धन या निधान, खान, प्राकृतिक सरोवर और जलाशय, आदि की गणना की जाती थी और इनसे काफी आमदनी होती थी। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कृषियोग्य भूमि कृषक की ही होती थी पर उत्तराधिकारी के अभाव, राज्यकर न देने तथा गुरुतर अपराधों, संपत्तिहरण (forfeiture) आदि कारणों से राज्य के कब्जे में भी बहुत भूमि आ जातो थी। अतः अधिकांश ग्रामों में राज्य के भी अनेक खेत रहते थे जिनकी खेती या तो मजदूरी द्वारा करायी जाती थी या वे असामियों (lesees) को दिये जाते थे। राजकीय भूमि की देखरेख का काम एक विशेष कर्मचारी का था जिसे अर्थशास्त्र में सीताध्यक्ष कहा गया है। बाद में उसका क्या नाम था यह ज्ञात नहीं।

ऊसर भूमि पर किसी का कब्जा न रहता था अतः वह राज्य की संपत्ति

---

१ सौ. इं. ए. रि., १८९७ सं. ९६, ९८, १०४।

२ ए. क, १० मुलबागल सं. ४४ (अ)।

मानी जाती थी। आरम्भ में ५-६ वर्षों तक पहले पूरा और पीछे अंशतः भूमि-कर माफ कर देने का आश्वासन देकर[1] इन पर भी कृषि कराने का प्रयत्न किया जाता था। बहुधा ऊसर भूमि का प्रबंध स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जाता था; गुप्तकाल में इनकी स्वीकृति और सहमति से ही इसका विक्रय होता था[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में न केवल इसका प्रबंध ही ग्राम-संस्था के हाथ में था वरन इसके स्वामित्व का भी वे दावा करती थीं। अकाल, बाढ़ आदि के समय बहुधा इस प्रकार की सार्वजनिक भूमि के विक्रय के उदाहरण मिलते हैं[3]।

जैसा कि प्रायः सब युग में सब राज्यों का नियम रहा है प्राचीन भारत में भी खानों और खनिज वस्तुओं पर राज्य का ही स्वामित्व था। ग्रामों के दान देते समय उसमें स्थित खानों को खोदने का अधिकार भी प्रतिग्रहीता को प्रायः प्रदान किया जाता था। खानों में नमक और पत्थर की खानें भी शामिल थीं[4]। रत्नों की खानें बहुमूल्य राज्य-संपत्ति समझी जाती थीं, इनकी व्यवस्था की विधि पहले ६वें अध्याय में पृ० १७२ पर बतायी जा चुकी है।

जमीन में गड़े खजानों पर भी राज्य का ही अधिकार माना जाता था, कारण लावारिस माल का स्वामी भी राज्य ही होता था और भूगर्भ से निकलने के कारण वे भी खनिज संपत्ति के ही वर्ग में आते थे। पर यदि खजाने का पता किसी ब्राह्मण को लगता था तो उसे वह सरकार न लेती थी, अन्य जाति के पाने पर आधा सरकार लेती थी आधा पानेवाला।

जंगल भी राज्य की महत्वपूर्ण संपत्ति समझे जाते थे। इनका एक भाग गजदल के हाथी प्राप्त करने के हेतु गजों के लिए छोड़ दिया जाता था, एक भाग राजा के आखेट के लिए सुरक्षित रखा जाता था। बाकी हिस्से से ईंधन

---

१ अर्थशास्त्र, भा. ६ अध्याय ९।

२ एपि. इं. १५ पृ. १२९।

३ सौ. इं.. ए. रि., १८९८ सं. ६७९।

४ सपाषाणखनिः। मंथनदेव का दानपत्र (उत्तर प्रदेश ११वीं सदी), इंडि ऐंटि. १८, ३४--५।

और लकड़ी प्राप्त होती थी[१]। इनकी व्यवस्था का हाल ९वें अध्याय में पृ० १६६ पर बताया जा चुका है।

केवल गहड़वाल राजाओं के दानपत्र में ही दान पानेवाले को आम और महुए (मधूक) के पेड़ों का भी स्वामित्व प्रदान करने का उल्लेख है[२]। पर इसी के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता की निजी भूमि पर उगनेवाले इन वृक्षों पर भी राज्य का स्वामित्व होता था। संभवतः उपर्युक्त लेखों में उल्लिखित वृक्ष ऊसर भूमि पर उगे थे, एक लेख में ऐसा संकेत भी मिलता है[३]।

नवम अध्याय में बताया जा चुका है कि प्राचीन भारत में सरकार की ओर से भी उद्योग-धंधे चलाये जाते थे। वस्त्र उत्पादन के लिए सरकार का एक बुनाई-विभाग भी होता था। इसी प्रकार सुरा बनाने के लिए राजकीय सुरालय भी रहते थे। सरकार के कसाईखाने रहते थे जिसमें मांस के लिए पशु काटे जाते थे। भेड़, बकरी, गाय, भैंस और हाथी आदि के यूथ राजकीय वनों में पशु-शालाओं में पाले जाते थे। सरकारी टकसाल में अल्प शुल्क पर जनता मुद्रा ढलवा सकती थी। कभी-कभी तो जनता के गहने आदि बनवाने के लिए सरकार की ओर से कारखाने खोले जाते थे; वहाँ प्रमाणपत्र देकर सुनार रखे जाते थे। व्यापारियों का माल ढोने के लिए राज्य की ओर से किराये पर नौकाएँ चलायी जाती थीं और सामग्री, पशु तथा यात्रियों को पार उतारने के लिए नौका-कर भी लिया जाता था। सरकार की ओर से गणिकालयों और द्यूतगृहों को भी अनुमति-पत्र (license) दिये जाते थे। इन सब कार्यों और व्यवसायों से सरकार को अच्छी आय हो जाती थी।

साम्राज्यों को अपने करद सामंतों के उपायन (खिराज) से भी पर्याप्त आमदनी हो जाती थी। परन्तु इसकी रकम निश्चित न थी और यह तभी तक जारी रहती थी जब तक करद राज्यों को वश में रखने की शक्ति साम्राज्य में रहती थी।

जुर्माने भी राज्य की आय के एक श्रोत थे। साधारण अपराधों के लिए ग्राम-न्यायालयों द्वारा किये गये छोटे-मोटे जुरमानों की आय तो साधारणतः ग्राम-संस्था या मुखिया को ही मिलती थी। पर राजकीय न्यायालयों द्वारा किये

---

१ अर्थशास्त्र अध्याय १—२।

२ इं. ऐंटि., १५ पृ. १०३—४।

३ समधूकाम्रवाटिका, चंद्रावती दानपत्र, एपि. इं. १६ पृ. १९३।

गये जुरमानों की रकम राजकोष में ही जाती रही होगी। जुरमाना वसूल करने वाले अधिकारी को कुमाँयूं प्रांत में 'दशापराजिक' कहा जाता था[१]।

उत्तराधिकारी या स्वामीविहीन वस्तु पर स्वभावतः राज्य का हक होता था। जब विधवाओं को संपत्ति का उत्तराधिकार न था, तब मृत व्यक्ति की पूरी संपत्ति सरकार ही ले लेती थी, विधवा को भरण-पोषण के लिए समुचित वृत्ति दी जाती थी[२]। विधवाओं को दायभाग मिलने से राज्य की आय मारी जाती थी अतः १२वीं शताब्दी तक अनेक राज्य इस सुधार का विरोध करते पाये जाते हैं; यद्यपि ३री शताब्दी ईसवी में ही अनेक पुरोगामी आचार्यों ने इसका प्रतिपादन किया था[३]। कुछ चालुक्य और यादव लेखों में पुत्रहीन अवस्था में मरने वाले व्यक्ति की संपत्ति पर कर का उल्लेख है, संभवतः यह विधवाओं के दायभाग से होने वाली राज्य की हानि की पूर्तिस्वरूप था[४]।

अब हमें राज्य के व्यय की मदों पर विचार करना है। इस विषय में प्रामाणिक सामग्री का अभाव है। महाभारत या प्राचीन स्मृतियों में इस विषय का अधिक विवरण नहीं मिलता। उत्तरकालीन स्मृतियाँ, उत्कीर्ण लेख और ताम्रपत्र भी इस संबंध में प्रायः मौन हैं।

अर्थशास्त्र से इस विषय में कुछ सहायता मिलती है। इसमें व्यय की मदों का विवरण दिया गया है। पर ये सब अधिकतर राजमहल के खर्च से ही संबंध रखते हैं, शासन के विभिन्न विभागों में होने वाले खर्च का इससे अनुमान नहीं होता। न इससे यही पता चलता है कि राजमहल पर होने वाला खर्च राज्य की आय का कितना प्रतिशत था। कौटिल्य ने मंत्री, अमात्य और कुछ

---

१ इं., एंटि. २५, पृ० १८।

२ अदायिकं राजगामि....
अन्यत्र ब्राह्मणार्तिकतु राजा धर्मपरायणः।
तत्स्त्रीणं जीवनं दद्यादेष धर्मः सनातनः। नारदस्मृति, १३. ५२

३ गुजरात में बारहवीं सदी तक विधवाओं का पतिसंपत्ति पाने का अधिकार स्वीकृत नहीं हो पाया था। देखिये, कुमारपाल-प्रतिबोध नाटक, तृतीय अंक।

४ इं. ऐं., १९. १४५; पूल, कोल्हापूर; पृ. ३३३; ए. इं., ३ नं. ३६।

अन्य अधिकारियों के वेतन का भी विवरण दिया है पर राज्य की आय का पता न रहने के कारण हम यह नहीं जान सकते कि ये वेतन उचित थे या अनुचित। यह भी प्रायः निश्चित है कि प्राचीन भारत में राजकर्मचारियों को अधिकतर नकद वेतन के स्थान पर जागीर या राज्यकर का अंश ही दिया जाता था।

शुक्र ही एकमात्र ऐसे ग्रंथकार हैं जिनसे यह पता चलता है कि राज्य की आय का कितना प्रतिशत किस मद में व्यय होता था। इनके अनुसार व्यय का विवरण इस प्रकार है।

१—सेना (बलम्)	५० प्र. श.
२—दान-धर्म (दानम्)	८$\frac{1}{3}$ प्र. श.
३—उच्चाधिकारी	८$\frac{1}{3}$ प्र. श.
४—शासन-खर्च (अधिकारिणः)	८$\frac{1}{3}$,, ,,
५—राजपरिवार-खर्च (आत्मभोग)	८$\frac{1}{3}$,, ,,
६—स्थायी कोश (Reserve Fund)	१६$\frac{2}{3}$,, ,,

शुक्रनीति, ४.७.२४ में १,००,००० आमदनी के राजा का व्यय-पत्र थोड़े भिन्नरूप में दिया है।

राजपरिवार-खर्च	१८,००० या १८ %
उच्चाधिकारी	३, ६०० या ३·६ %
लेखक या दफ्तर-खर्च	१,२०० या १·२ %
रानियाँ व राजपुत्र	३,६०० या ३·६ %
विद्या-पुरस्कार	२,४०० या २·४ %
सेना	४८,००० या ४८ %
हाथी, घोड़े, बारूद	४,८०० या ४·८ %
स्थायी कोष	१८,००० या १८ %

दोनों बजटों की तुलना करने से यह सिद्ध होता है कि छोटे राज्यों में राजपरिवार व सेना पर प्रतिशत अधिक खर्च होता था व लोकहितकारी कार्यों पर कम। 'प्रकृति' शब्द का अर्थ जैसे उच्चाधिकारी होता है वैसे ही जनता भी। यदि यह शब्द हम दूसरे अर्थ में समझें, तो पहले बजट में जनता पर ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत व शिक्षणादि कार्यों के लिए ८$\frac{1}{3}$ प्रतिशत कुल मिला कर लोकहितकारी कार्यों पर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत खर्च किया जाता था। ऐसा मानना गलत नहीं होगा। किन्तु शुक्रनीति में अनेक जगहों पर मंत्री व उच्चाधिकारियों

के लिए 'प्रकृति' शब्द का उपयोग किया है व जनता के लिए 'प्रजा' शब्द का इसलिए हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते कि प्रकृतियों के लिए जिस १६⅔% खर्च की अनुमति शुक्र ने दी है, वह खर्च रास्ते, कुएँ, तालाब, रुग्णालय, शिक्षण इत्यादि लोकहितकारी कार्यों पर होता था। मालूम पड़ता है कि दान-धर्म के लिए जो ८⅓% रकम रखी गयी है उसके कुछ अंश से उपरिनिर्दिष्ट कार्य किये जाते थे। दान-धर्म के द्रव्य को पाने वाले प्रायः ब्राह्मण व मंदिर थे और वे ही मुफ्त शिक्षण व रुग्णालय इत्यादि का प्रबंध करते थे। ग्राम-संस्थाएँ व मन्दिर भी अपनी आमदनी का बड़ा हिस्सा तालाब, कुएँ, शिक्षण, अकालग्रस्तों की मदद, इत्यादि में खर्च करते थे। सामान्य जनता भी इस कार्य में पर्याप्त दान देती थी। इसलिए लोकहितकारी कार्य द्रव्याभाव के कारण नहीं रुकते थे। युआन् च्वांग के कथन के अनुसार (भाग २ पृ० १७६) हर्ष अपनी आमदनी का आधा भाग दान-धर्म, विद्वानों को दक्षिणा, विद्यालयों को मदद इत्यादि लोकोपयोगी कार्यों में खर्च करता था। हो सकता है कि युआन् च्वाँग के कथन में कुछ अतिशयोक्ति हो। किन्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि सुयोग्य राजा लोकहितकारी कार्यों पर पर्याप्त खर्च करते थे।

राजा के निजी खर्च के लिए ८⅓ प्र. श. अत्यधिक नहीं है। वर्तमान भारतीय नरेशों के सामने अंग्रेज सरकार ने हाल में यह आदर्श रखा था कि वे राज्य की आय का १० प्र. श. से अधिक राजपरिवार के लिए खर्च न करें।

सेना (बलम्) पर ५० प्र. श. व्यय अवश्य ही अत्यधिक है। ५०० ई० से साम्राज्य-विस्तार का जोर बढ़ा और आये दिन युद्ध होने लगे। अतः अपनी स्वतंत्रता कायम रखने के लिए सेना पर खूब खर्च करना आवश्यक था। परन्तु स्मरण रहना चाहिये कि इस खर्च की एक पाई भी देश के बाहर न जाती थी और इससे न केवल जनता में वीरभाव की वृद्धि होती थी वरन् देश में उद्योग और व्यवसाय को भी प्रोत्साहन मिलता था।

स्थायी कोश में आय का १६ प्र. श. जाता था। मुसलमान लेखकों ने इस बात का विशेष उल्लेख किया है कि हिन्दू राजा अपने पूर्वजों से भरा-पूरा कोष पाते थे और अत्यंत संकट पड़ने पर ही इसमें हाथ लगाते थे। सार्वजनिक या सरकारी ऋण की कल्पना प्राचीनकाल में अज्ञात थी और वही राज्य संकट से अपनी रक्षा कर पाते थे जिनका कोष और भंडार भरा-पूरा रहता था। दक्षिण के राजाओं से अलाउद्दीन और मलिक काफूर ने जो अपार धनराशि लूटी थी

वह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दू राजा अपनी आय का बहुत बड़ा भाग संकट के समय काम देने के लिए अपने स्थायी कोष में संचित और सुरक्षित रखते थे।

स्थायी कोष का एक बड़ा हिस्सा किसी गुप्तस्थल में गाड़कर रखा जाता था। जिसका ज्ञान बहुत थोड़े विश्वस्त व्यक्तियों को रहता था। एक किंवदंती के अनुसार विजयनगर-राज्य संस्थापन करने के समय मंत्री विद्यारण्य ने एक बड़ा खजाना एक गुप्त स्थल में गाड़ दिया था, जो आगे संकट समय में उपयोग के लिए रखा गया था। स्थायी कोष के दूसरे हिस्सों का हिसाब इतर आय-व्यय के साथ किया जाता था और उसके परिमाण का ज्ञान खजाने के अधिकारियों को रहता था।

अध्याय १४

अंतर-राष्ट्रीय संबंध व व्यवहार

●

राज्य और शासन-व्यवस्था संबंधी ग्रंथ में राज्यों के परस्पर संबंध के विषय पर सरसरी तौर पर ही विचार किया जा सकता है। इस विषय के दो पहलू हैं, एक शांतिकाल में संबंध और दूसरा युद्धकाल में। शांतिकाल के संबंध का विचार करते समय प्रभुराज्य (Sovereign state) और सामंत-राज्य (Feudatory state) के संबंध का भी विचार करना होगा।

वैदिककाल के विभिन्न राज्यों के परस्पर संबंध के विषय में हमें बहुत कम ज्ञान है। ये राज्य अधिकतर जनराज्य थे और बहुत समय तक इनकी सारी शक्ति अनार्य जातियों को पराजित करने में ही लगी रही। अतः इनमें परस्पर संबंध साधारणतः मैत्रीपूर्ण ही था। पर एक-दूसरे का उत्कर्ष देख कर आर्य जातियों में भी परस्पर स्पर्धा के भाव उत्पन्न होने लगे। फलतः कभी-कभी उनमें आपस में भी संघर्ष होने लगे, जिनमें बहुधा अनार्य जातियों से भी सहायता ली जाती थी, पर ऐसे अवसर कम थे।

उत्तर वैदिककाल में छोटी-छोटी आर्य जातियों के मिल जाने से कुछ बड़े-बड़े राज्यों की भी स्थापना हुई। परन्तु इनका भी विस्तार बहुत अधिक न था। उदाहरणार्थ प्राचीन बौद्ध-ग्रंथों में वर्णित ई. पू. सातवीं सदी के १६ महा-जनपदों में से भी अधिकांश आधुनिककाल की कमिश्नरियों से बड़े न थे।

अपने शासकों की शक्ति और साधन के अनुसार राज्यों का पद भी छोटा-बड़ा होता था। 'स्वराट्', 'एकराट्', 'सम्राट्' और 'अधिराट्' आदि पदवियाँ राजाओं के विभिन्न पदों की सूचक हैं, पर इनकी निश्चित मर्यादा स्थिर करना इस समय कठिन है। 'सम्राट्' आदि पदवीधारी राजा निस्संदेह अन्य राजाओं से कुछ उच्च स्थान पर थे। पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे सामंत-राज्यों के अधिपति-पद पर थे या नहीं। यह संभव है कि दुर्बल राज्य अपने से अधिक शक्तिशाली राज्यों को कुछ कर देते रहे हों।

उत्तर वैदिककाल की संस्कृति और धार्मिक यज्ञादि विधियों ने आर्य-राजाओं के सम्मुख साम्राज्य का आदर्श उपस्थित किया। राजाओं का राजा बनने के आकांक्षी शासक के लिए 'अश्वमेध', और 'सम्राट्' पद के अभिलाषी के लिए 'वाजपेय' यज्ञ का विधान था। इससे राज्यों के परस्पर संबंध में अस्थिरता उत्पन्न हो गयी। कोई भी विजिगीषु राजा किसी भी समय साम्राज्य-विस्तार की इच्छा से किसी भी राज्य पर चढ़ाई कर सकता था। इसके साथ यह ध्यान् में रखना चाहिये कि इन राज्यों को पृथक करनेवाली कोई प्राकृतिक सीमाएँ न थीं जैसे कि कौशाम्बी, काशी और कोशल राज्यों में। ज्योंही इनमें से कोई अपने को शक्तिशाली समझने लगता था त्योंही वह औरों को दबा कर अपना विस्तार करने का प्रयत्न करता था।

स्मृतियों का भी मत है कि जब राजा अपने राज्य को समृद्ध और सेना को बलवान देखे और शत्रु की स्थिति इसके विपरीत देखे तब वह उस पर वेहिचक आक्रमण कर सकता है[1]। स्मृतियों में इस प्रकार बिना कारण पर-पीड़क युद्ध का समर्थन होते देख कुछ लोग बहुत आश्चर्य करते हैं। परंतु यदि देखा जाय तो वास्तविकता यही है कि सारे संसार में जो भी राज्य बलवान और विस्तीर्ण बने वे अपने से दुर्बल राज्यों को दबा कर ही। और युद्ध छेड़ने का असली कारण सदा शत्रु की दुर्बलता ही रहा, भले ही इस कार्य के समर्थन में ऊँचे सिद्धांतों की दुहाई दी जाय। अकबर, शाहजहाँ और औरंगजेब आदि ने अपने ही सहधर्मी दक्षिण के सुलतानों पर आक्रमण क्यों किया ? सन् १८०३ में अंगरेजों ने मराठों से युद्ध क्यों किया ? केवल इसीलिए कि वे समझते थे कि हम अपने प्रतिपक्षी से मजबूत हैं और आसानी से उसका राज्य हड़प सकते हैं। दो विश्वयुद्ध क्यों हुए ? केवल इसीलिए कि युद्ध करनेवाले राष्ट्रों ने या तो यह समझा कि विश्व पर प्रभुत्व करने का यही उपयुक्त अवसर आ गया, या अपने विशाल साम्राज्य को बनाये रखने के के लिए युद्ध करना ही श्रेयस्कर होगा। अतः स्मृतिकारों को ऐसी नीति के समर्थन के लिए दोष देना उचित नहीं जो आज भी अंतर-राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठित है।

अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि स्मृतिकार अपने समय के समाज के सामने अधिक उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत कर सकते थे और अशोक की भाँति

---

१ मनु, ७. १७१।

साम्राज्यलिप्सा के कारण आक्रामक युद्ध त्यागने का उपदेश दे सकते थे। पर यह निश्चय करना सरल नहीं कि आक्रामक कौन है अर्थात लड़ाई किसने शुरू की। प्रत्येक पक्ष अपने कार्य के समर्थन में न्याय और आत्मरक्षा की दुहाई दे सकता है। युद्ध के एकदम त्याग देने की नीति कार्यान्वित करना बड़ा कठिन है, जैसा कि सम्राट अशोक के इस दिशा में असफल प्रयत्नों से सिद्ध होता है। तत्कालीन अशांतिमय वातावरण में यह आवश्यक था कि समाज में एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग हो जो समय पड़ने पर उसकी आक्रमणों से रक्षा कर सके। क्षत्रिय वर्ग ऐसा ही योद्धा वर्ग था, जिसका आदर्श यह था कि 'शय्या पर पड़े-पड़े मरना क्षत्रिय के लिए घोर अधर्म है[1]'। युद्ध इसका सहज कर्म था, इसे निषिद्ध कर देना इनका काम छीन लेना था। अतः यदि स्मृतियाँ ऐसा आदर्श प्रतिपादित न कर सकीं जो क्षत्रिय-धर्म के विरुद्ध था और जो आज के संसार में भी व्यवहार्य नहीं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

फिर भी यह समझ लेना भूल होगी कि राज्य के भीतर शांति का प्रतिपादन करनेवाले प्राचीन भारतीय मनीषी विभिन्न राज्यों में परस्पर शांतिस्थापना की ओर उदासीन रहे। लगभग सबने महत्वाकांक्षी राजाओं को यथासंभव युद्ध से दूर रहने और शांतिमय उपायों से ही अभीष्टसिद्धि का यत्न करने का उपदेश दिया है[2]। उनका कथन है कि अधर्म और अन्याय युद्ध से इस लोक में तो नाश होता ही है परलोक भी मारा जाता है[3]। कौरवों और पाण्डवों में अंत तक समझौते की चेष्टा और पाण्डवों का पाँच गाँव लेकर ही संतुष्ट हो जाने की तत्परता से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में बिना विचार के ही प्रायः युद्ध नहीं छेड़ दिये जाते थे।

---

१ अधर्मः क्षत्रियस्येष यच्छय्यामरणं भवेत्। शुक्र ४, ७, ३०५।

२ साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥ मनु ७, १९८
नाशो भवति युद्धेन कदाचिदुभयोरपि॥ कामंदक ९, ११।
वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता। म. भा. १२. ६९. २३

३ नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत पृथिवीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा कोनमन्येत,भूमिपः।
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च। म. भा. १२. ९६. १. ३।

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना संभव नहीं, अतः युद्ध की संभावना यथासंभव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के 'मंडल' बनाकर उनमें शक्तिसंतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी। स्मृति और नीति ग्रंथकारों की प्रख्यात 'मंडल' नीति शक्तिसंतुलन के सिद्धान्त पर ही आधारित थी। इन आचार्यों ने विभिन्न राज्यों में प्रायः जो संबंध रह सकते हैं उन्हें समझाते हुए दुर्बल राज्यों को अपने अधिक शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों से सावधान रहने की सलाह दी है और इनकी विस्तार-नीति से अपनी रक्षा के हेतु अन्य समान या न्यूनाधिक बलवाले राज्यों से मैत्री स्थापित करके ऐसा मंडल बनाने की सलाह दी है जिस पर आक्रमण करने का शत्रु को साहस ही न हो।

हिन्दुस्थान में प्राचीनकाल में प्रायः एक विजिगीषु या साम्राज्य-संस्थापना चाहनेवाला बलिष्ठ राजा रहता था व उसके पड़ोस में दूसरे छोटे-छोटे राजा रहते थे, जो स्वातंत्र्य कायम रखने का प्रयत्न करते थे। इसी कारण 'मंडल' सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। आजकल यद्यपि संयुक्तराष्ट्र-संघ की स्थापना हो चुकी है, तथापि वैसी ही परिस्थिति है। कुछ छोटे राष्ट्र अमेरिका के गुट में व कुछ रशिया के गुट में शामिल हुए हैं, पक्षरहित हिन्दुस्थान के समान राष्ट्र थोड़े ही हैं। मंडल सिद्धान्त के अनुसार सामान्यतः एक राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु व उसके पड़ोसी का मित्र होता था। यह सिद्धान्त सामान्यतः सत्य है। फ्रान्स व जर्मनी, पोलैंड व रूस एवं चीन व जापान में शत्रुत्व क्यों रहता था; इंगलैंड ने पोलैंड की स्वतंत्रता कायम रखने के लिए उसके साथ १९३७ में क्यों संधि की, यह हम मंडल सिद्धान्त से समझ सकते हैं। मित्र के पश्चात् 'अरिमित्र' (अपने शत्रु का मित्र), उसके आगे 'मित्रमित्र' (अपने मित्र का मित्र) व उसके पश्चात् 'अरिमित्रमित्र' (अपने शत्रु के दोस्त का दोस्त) ऐसे राजा रहते थे। इस तरह परदेशनीति निर्धारित करते समय विजिगीषु राजा को अपने सामने के पाँच राजाओं का विचार करना पड़ता है।

पिछाड़ी के राजाओं से उसी प्रकार के संबंध माने गये हैं, किन्तु उनके नाम दूसरे हैं। पिछाड़ी के पड़ोसी को पार्ष्णिग्राह कहते थे। उसके द्वारा विजिगीषु के देश पर पिछाड़ी से हमला होने का हमेशा डर रहता था। पार्ष्णिग्राह के पीछे 'आक्रंद' था, जो प्रायः विजिगीषु का मित्र होता था। उनके पीछे 'पार्ष्णिग्राहा-सार' (शत्रु का मित्र) और 'आक्रंदाक्रंद' (मित्र का मित्र) रहते थे। इस

तरह अपनी पिछाड़ी का विचार करते समय विजिगीषु को इन चार राजाओं का विचार करना पड़ता था।

किन्तु ऐसे भी राजा थे, जो विजिगीषु व उसके शत्रु के राज्य की सीमा पर रहते थे, जिनमें दोनों को मदद देने या रोकने की ताक्त थी, किन्तु जो उनके झगड़े में भाग लेना नहीं पसंद करते थे। ऐसे बलिष्ठ राजा को 'मध्यम' कहते थे। यदि ऐसे राजा का राज्य दो प्रतिस्पर्धियों की सीमा से संलग्न नहीं रहता था, तो उसे 'उदासीन' कहते थे।

इस तरह 'मंडल' सिद्धांत के अनुसार विजिगीषु, उसके सामने के पाँच राजा, पिछाड़ी के चार, 'मध्यम' व 'उदासीन' ऐसे बारह राजाओं का एक मंडल बनता था। हमारे नीतिशास्त्री कहते हैं कि हरएक राजा को, 'मंडल' के विभिन्न राजाओं की किस प्रकार की परदेशनीति है, उनमें कितनी सामर्थ्य या कमजोरी है, उनके अधिकारी व प्रजा उनसे कितनी संतुष्ट है इत्यादि प्रश्नों पर सदा ठीक विचार करना चाहिए व तदनुसार अपनी परदेशनीति में आवश्यक अदल-बदल करते रहना चाहिए। इस तरह की संधि करनी चाहिए कि दो गुटों का बल समान हो, जिससे स्वाभावतः ही एक गुट दूसरे गुट पर हमला न करेगा। आजकल भी अमेरिका व रूस इसी नीति का अनुसरण करते हैं।

वैदिक धर्म में अश्वमेध और वाजपेय आदि यज्ञों का विधान होने के कारण आदर्शवादी राजनीतिक विचारक भी विजय-अभियानों का विरोध न कर सकते थे, पर उन्होंने इसकी उग्रता कम करने की शक्ति भर चेष्टा की है। धर्म-विजयी राजा को पराजित राज्य का अपहरण करने (annexation) या उसकी-शासन पद्धति में कोई हस्तक्षेप न करके केवल अपनी अधीनता स्वीकार करा के और कर लेकर ही पराभूत शत्रु को छोड़ देने का उपदेश दिया गया है[1]। प्राचीन आचार्यों का कथन है कि यदि पराजित राज्य का राजा युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ हो, या यदि वह जीवित हो पर पराधीन होकर राज्यारूढ़ न होना चाहे तो उसकी गद्दी पर कोई दूसरा राजपुत्र बिठाया जाना चाहिये। यदि राज्य को मिला ही लेना पड़े तो उसके विधि नियमों और प्रचलित परिपाटी की रक्षा की जाय और नयी प्रजा के साथ वैसा ही बर्ताव किया जाय जैसा अपनी

१ गृहीत प्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥ रघु. ४, ४३।

मूल प्रजा के साथ किया जाता था अर्थात् नयी प्रजा को विजित मानकर अपमर्दित न किया जाय[1]।

इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि यह नीति साधारणतः कार्यान्वित भी की जाती थी। जातकों में ऐसे किसी युद्ध का वर्णन नहीं मिलता जिसमें विजित प्रदेश विजेता के राज्य में मिला लिया गया हो। जब कोशल का राजा काशी पर आक्रमण करता है तो काशिराज को उनका मंत्री इस प्रकार समझाता है—'महाराज डरिये नहीं, आपका अनिष्ट न होगा, आपका राज्य बना रहेगा केवल आपको कोशलराज की अधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी[2]। ८वीं और ९वीं शताब्दी के मुसलिम यात्री भी दक्षिण भारत में इस प्रकार के 'धर्म-विजय' देखकर बड़े प्रभावित हुए थे। सुलेमान का कथन है जब एक राजा दूसरे को पराजित करता है तो वह उसी के वंश के एक व्यक्ति को पराजित राज्य में स्थापित करता है जो विजेता के नाम पर शासन करता है। इस देश की यही प्रथा है और जनता इसे अन्यथा न होने देगी[3]।

विजय के बाद जीते हुए राज्य को अपने राज्य में न मिलाने की सलाह दे देना आसान है पर इसका कार्यान्वित होना कठिन है। परन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास से यही सिद्ध होता है कि अधिकतर इसका पालन ही होता था। मौर्य-साम्राज्य की आंतरिक स्थिति का हमें बहुत कम ज्ञान है पर संभावना यही जान पड़ती है कि मौर्यसाम्राज्य के अंदर भी राजस्थान और पंजाब के शक्तिशाली गणतंत्रों की आंतरिक स्वायत्तता अक्षुण्ण थी। गुप्तसाम्राज्य में तो खास मगध में भी ये सामंत-राज्य वर्तमान थे। समुद्रगुप्त द्वारा पराजित नाग, वंशीय राजगण अंतर्वेदी (दोआब) में साम्राज्य के अधिकारी के रूप में शासन कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि समुद्रगुप्त ने बहुत से राज्यों को ले भी लिया पर इनकी संख्या से उनकी संख्या अधिक है जिन्हें उनका राज्य वापस कर दिया गया

---

१ स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्। मनु ७. २०२। देखिये विष्णु ३, ३०; शुक्र ४. ७. ३७३; ३९७—८।

२ मा भायि महाराज नात्थि ते परिपंथी तव रज्जं तवेव भविस्सति केवलं मनोजरंञो वसवती हो हि। जातक ५. पृ. ३१६, पृ. ३९१ भी।

३ ईलियट और डाउसन; हिस्ट्री आव इंडिया, भाग १. पृ. ७। और अकाउंट आव चाइना ऐंड इंडिया, पृ. १३।

और जो साम्राज्य के सामंत होकर अपने राज्य में बने रहे। हर्षवर्धन के साम्राज्य में भी अनेक सामंत या करद राज्य थे। यही स्थिति उत्तर भारत के प्रतीहार साम्राज्य की भी थी। दक्षिण के सातवाहन, चालुक्य, राष्ट्रकूट और यादव राज्यों में बहुत से स्वायत्त सामंत थे। दिग्विजय का सिद्धांत स्वीकार कर लेने पर अधिक से अधिक जो किया जा सकता था वह यहां कि पराजित राज्यों की संस्कृति और अंतर्गत सत्ता सुरक्षित रहे। और इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारत में इस दिशा में बहुत हद तक सफलता भी हुई। इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ इस बात पर भी है कि लड़नेवाले राज्यों में सांस्कृतिक और धार्मिक एकता थी। इन राज्यों में ऐसा कोई धर्म और संस्कृति के विभेद, जो दो राष्ट्रों में द्वेष और शत्रुता के भाव भरते हैं और उन्हे प्राणांतक शत्रु बनाकर एक दूसरे का आमूल नाश करने को उत्तेजित कर देते हैं, प्राचीन भारत के इन राज्यों में वर्तमान न थे। अतः पराजित राज्य को आंतरिक स्वतंत्रता देने में कोई कठिनाई न थी।

युद्ध के कारण साधारणतः ये होते थे; (१) साम्राज्य-पद की आकांक्षा। (२) आत्मरक्षा की आवश्यकता। (३) राज्यविस्तार या सामंतों से अधिक कर की इच्छा। (४) शक्तिसंतुलन की चेष्टा (५) शत्रु के घावों का बदला और (६) पीड़ित जनता की रक्षा। यही कारण सब युगों और देशों में युद्ध के हेतु बनते हैं। अतः प्राचीन भारत में इनके दृष्टांत या उदाहरण ढूंढ़ना व्यर्थ है।

परस्पर युद्ध की अनिवार्यता देखकर प्राचीन भारतीय विचारकों ने उसकी भीषणता कम करने की यथाशक्य चेष्टा की है और इस हेतु उन्होंने धर्मयुद्ध के बहुत ऊँचे आदर्श का प्रतिपादन किया है। पर यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि वैदिक युग में आर्यों और दस्युओं के युद्ध में यह आदर्श लागू होता था या नहीं। ऋग्वेद में वर्णन है कि इंद्र ने दासवर्ण को पैरों तले कुचल कर गुहाओं में ढकेल दिया था। संभवतः यही व्यवहार वैदिक आर्य के व्यवहार का सूचक है। वैदिक वाङ्मय में विष से बुझे बाणों के उपयोग का भी वर्णन है[1]। पर स्मृतियों ने एक स्वर से इनके प्रयोग का निषेध किया है। यही नहीं उन्होंने यह भी कहा है कि शत्रु पर ऐसी अवस्था में कदापि न वार

१ ऋग्वेद, ७. ११७. १६; ६. ७५. १५, अथर्व. ६. ६.७।

किया जाय जब वह सावधान न हो, पूरी तरह शस्त्रों से लैस या तैयार न हो या किसी भी तरह औचट या विपत्ति में हो[1]।

यह मान लेना अनुचित न होगा कि जब तक दोनों पक्षों में जोड़-तोड़ का मुकाबला रहता था और पराजय के बाद राज्य-अपहरण की आशंका न थी तब तक इन नियमों का वास्तव में अनुसरण होता था। मेगास्थेनीज़ को यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि युद्धकाल में भी कृषिकार्य चलता रहता था; वह लिखता है कि 'दोनों पक्ष एक दूसरे के संहार में लीन रहते हैं पर किसानों को कोई हानि नहीं पहुँचाता।' युआनच्वांग भी यह देखकर चकित हुए थे कि बारंबार युद्ध होते रहने पर भी देश को बहुत ही कम हानि पहुँचती थी।

अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि जबतक धर्मविजय का आदर्श सम्मुख था और राज्यनाश की घटनाएँ बहुत कम होती थीं लड़ाई में भी धर्मयुद्ध का आदर्श प्रधान रहता था और उदारता तथा वीरता से काम लिया जाता था। पर जब साम्राज्यवाद की भावना ने जोर पकड़ा और सामंत-राज्यों की दासता की शृंखला कसी जाने लगी तब आत्मरक्षा की भावना भी प्रबल हो उठी और युद्ध में सफलता पाने के लिए सभी उचित-अनुचित साधन और उपाय ठीक समझे जाने लगे। कौटिल्य ने इस विषय में सटीक सलाह दी है कि जब तक अपना पलड़ा भारी रहे तब तक धर्मयुद्ध के आदर्श पर चलने में हानि नहीं अन्यथा जिस उपाय से सफलता मिले वही करना उचित है चाहे वह धर्म हो या अधर्म[2]। शुक्र का भी यही मत है[3]।

कूटयुद्ध में किसी भी समय किसी भी स्थिति में शत्रु पर आक्रमण जायज था। शत्रु-प्रदेश को तहस-नहस कर डालना, वृक्षों को काटना, फसल और अन्नागार जला देना, नागरिकों को दास बनाना सब क्षम्य था। अशोक के कलिंग-अभियान में ऐसे कुछ अनर्थ हुए थे और ईसवी सन् के बाद के युद्धों में कभी-कभी वे होते रहे होंगे। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि धर्मयुद्ध के आदर्श पर चलने की भी चेष्टा यथाशक्य सर्वदा होती थी, और इसी का परिणाम था कि मध्ययुग तक राजपूतों में धर्मयुद्ध का आदर्श जीवित रहा।

---

१ मनु, ७. ९० ।

२ बलविशिष्टः प्रकाशयुद्धमुपेयात्। विपर्यये कूटयुद्धम्। अर्थ. १० अध्याय ३

३ धर्मयुद्धैः कूटयुद्धैर्हन्यादेव रिपुं सदा। ४.३५० ।

यह भी कह देना अस्थानोचित न होगा कि भारत के कूटयुद्ध के कांड भी प्राचीनकाल के अन्य पूर्वी देशों के युद्ध की बर्बरता के सामने सौम्य प्रतीत होते हैं। किसी प्राचीन भारतीय नरेश ने शत्रुदल के मुंडों पर मीनार बनाने या शत्रु की खाल खिंचवा कर नगर की परिखा पर मढ़वाने में अपने बहादुरी नहीं समझी जैसी कि तृतीय थुटमोजेस और असुरबनपाल ने समझी थी।

शत्रु को प्राणदान या अभयदान की भी निश्चित परिपाटी थी। शस्त्र रख देने या शरण में आने पर पराजित शत्रु पर हाथ उठाना निषिद्ध था, घायल या भागते हुए शत्रु पर भी वार करना मना था। घायल युद्ध-बंदियों की चिकित्सा कराना भी आवश्यक था। साधारणतः युद्ध-बंदियों को दास बनाया या बेचा भी न जाता था[1] बल्कि युद्ध समाप्त होने पर घर लौटने की अनुमति दे दी जाती थी[2]।

युद्ध में जीते हुए माल के बारे में भी निश्चित नियम थे। पराजित शत्रु के कोष, संपत्ति, शस्त्र, अन्न आदि पर विजेता का अधिकार था[3]। विजित देश के नागरिकों की स्थावर संपत्ति का भी अस्थायी तौर पर ग्रहण और उपयोग किया जा सकता था।

परस्पर युद्धरत देशों में कैसा व्यवहार रहता था इसका हम लोगों को ज्ञान नहीं है। चूँकि शांतिकाल में भी विदेशियों को किसी राज्य में जाने के लिए प्रवेश-पत्र लेने की आवश्यकता पड़ती थी इससे अनुमान किया जा सकता है कि युद्धकाल में दोनों देशों के बीच यातायात बिल्कुल बंद कर दिया जाता रहा होगा। युद्धरत राज्य इस बात की अवश्य व्यवस्था करते रहे होंगे कि उनके देश से शत्रु-देश में ऐसी कोई सामग्री न जाने पावे जिससे उसकी शक्तिवृद्धि हो। पर जब सीमाएँ दूर तक फैली होती थीं और शासन-प्रबंध ढीला रहता था तो दोनों ओर से चोरी-चोरी काफी व्यापार चलता रहा होगा। समुद्र-मार्ग से भी शत्रु-

---

१ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। अर्थ. भा. ३. १३।

नारद ने युद्ध में बंदी किये गये दास का उल्लेख किया है, पर ऐसे व्यक्ति किसी को अपने बदले में देकर अपनी मुक्ति करा सकते थे।

२ अग्नि पुराण, अध्याय २४०।

३ मनु, ७. ९६-९७, शुक्र ४. ७. ३८६।

देश के अवरोध की व्यवस्था और शत्रु पोतों को पकड़ने की परिपाटी थी या नहीं यह ज्ञात नहीं।

अब हमें इस पर विचार करना है कि शांतिकाल में दो स्वतंत्र राज्यों में क्या संबंध रहता था। यह निश्चित मालूम नहीं कि प्राचीन भारत में स्थायी दूतावासों की परिपाटी थी या नहीं। मेगास्थेनीज़ चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहता था और डायमेकस बिंदुसार के। बहुत संभव है कि मौर्य सम्राटों की ओर से भी सेल्यूकसवंशीय राजाओं की राजधानियों में दूत भेजे गये हों, खासकर जब कि धर्म-प्रचार के लिए बौद्ध भिक्षुओं के दल वहाँ भेजे गये थे। पर यह विदित नहीं कि मौर्य दरबार में यूनानी दूत स्थायी रूप से रखे गये थे या कुछ वर्षों के लिए ही। तक्षशिला के यूनानी नरेश अंतलिकित (एंटिअलकाइडस) का दूत हेलियोदारस मालवा की राजधानी विदिशा में शुंगवंशी भागभद्र राजा के दरबार में रहता था पर यह भी संभव है कि वह किसी विशेष प्रयोजन से थोड़े समय के लिए ही भेजा गया हो। समुद्रगुप्त की राजसभा में सिंहल राजा के दूत और चालुक्यराज पुलकेशी के दरबार में (६३० ई०) ईरान से दूत आये थे, पर वे विशेष कार्य से ही भेजे गये थे। चीन और रोम में प्राचीन भारत से जो दूत भेजे गये थे वे भी आजकल के सद्भावना-मंडल की ही भाँति थे। उनका कार्य उन नरेशों को अपने देश की ओर से उपहार भेंट करना और उनसे व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करना था। यूरोप में भी स्थायी दूतावास रखने की परिपाटी मध्ययुग में ही कायम हुई। संस्कृत के 'दूत' शब्द का अभिधेय अर्थ भी संदेशवाहक या वार्ताहर ही है और इससे यही संकेत मिलता है कि वह किसी विशेष कार्य या प्रयोजन से ही भेजा जाता था। अर्थशास्त्र में (भाग १ अध्याय १६) दूत के आचरण संबंधी जो निर्देश दिये गये हैं उनसे यही प्रकट होता है कि उसे उसी समय तक विदेशी राजधानी में रहना होता था जब तक अंगीकृत प्रयोजन की सिद्धि की कुछ आशा हो, अन्यथा तत्काल लौट आना पड़ता था।

विदेशों में भेजे जानेवाले दूत तीन श्रेणी के होते थे। 'निसृष्टार्थ' दूत वह था जिसे अपने राज्य की ओर से सब विवादभूत बातें तय करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, 'परिमितार्थ' दूत दिये गये निर्देश से बाहर न जा सकता था और 'शासनहर' दूत केवल अपने राज्य की ओर से संदेश भर दे देता था और

जवाब ले आता था, बातचीत का उसे अधिकार ही न था[१]। आजकल की भाँति प्राचीनकाल में भी दूत अधिकृत और प्रकाश्य रूप से भेदिये का कार्य करता था। उसका काम विदेशी राजपुरुषों से जान-पहिचान कर के उस देश की वास्तविक राज्यनीति की जानकारी प्राप्त करना था। राज्य की साधारण स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना, उसके जन, बल और साधनों का ठीक-ठीक अनुमान करना और अपने गुप्तचरों द्वारा उसके दुर्ग और सेना का प्रमाणिक विवरण प्राप्त करना, यह सब भी उसका काम था। यह सब वह 'गूढ़ लेख' (संकेत लिपि) द्वारा अपनी सरकार को भेजता था[२]।

आधुनिककाल की भाँति प्राचीनकाल में भी दूत अवध्य था। रामायण में कहा गया है दूत केवल संदेश वाहक है, अपने स्वामी की ही बात वह कहता है अतः वह बात क्रुद्ध और क्रोध-जनक भी हो तो भी दूत पर कुछ शासन नहीं करना चाहिये[३]। महाभारत में कहा गया है कि दूत का हंता राजा अपने सचिवों के समेत नरकगामी होता है[४]। युद्ध छिड़ जाने पर भी दूत और उसके साथी अवध्य हैं[५], पर यदि वह अनुचित आचरण करे तो उसे विरूप करके या उसे लोहे से दागकर निकाला जा सकता था जैसा रावण ने मारुति के साथ किया था।

दूतों के न रहने पर भी गुप्तचर इसी प्रकार के भेदों की टोह में बराबर काम किया करते थे। ये लोग छात्रों, सन्यासियों, व्यापारियों आदि के विविध छद्म वेशों में रहते थे। वेश्याओं और नर्तकियों से भी बहुधा गुप्तचरों का काम लिया जाता था, कभी-कभी राजमहल में ये तांबूल या छत्र वाहिकाओं का पद भी प्राप्त कर लेती थीं, ताकि राजा के समीप रहकर सरकार की अंतरंग गति-विधि का भेद लेने का अवसर मिले।

शांतिकाल में राज्यों में आवागमन पर रुकावट न रहती थी। प्रवेश-पत्रों की आवश्यकता पड़ती थी, पर इसके सिवा अन्य किसी प्रकार की रोक-टोक न

---

१ अर्थशास्त्र, भाग १. अध्याय १६।

२ वही।

३ ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति।

४ दूतस्य हंता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ॥ १०. ८५.२६

५ नीति प्रकाश ७-६४।

थी। व्यापार के कार्य से बराबर आने-जाने वाले व्यापारियों को भी प्रत्येक बार आने के लिए प्रवेश पत्र लेने की जरूरत नहीं थी। संदिग्ध व्यक्ति बंदरगाहों में ही गिरफ्तार कर लिये जाते थे और आगे न जाने पाते थे[1]। विदेशियों की गतिविधि पर कड़ी नजर रखी जाती थी कि कहीं वे भेदियों का काम न करते हों। व्यापारिक सामग्री के अयात-निर्यात पर भी रोक-टोक न थी, अवश्य ही निर्धारित शुल्क देना पड़ता था।

यात्रा के सिलसिले में जहाज या पोत जब-जब किसी बंदरगाह या पत्तन पर ठहरते थे उन्हें पत्तन-शुल्क देना पड़ता था। क्षतिग्रस्त होने पर उन्हें मरम्मत की पूरी सुविधा दी जाती थी और उनकी अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी की जाती थीं[2]।

सामंत-राज्यों से संबंध

प्राचीन भारत में सामंत या अर्ध-स्वतंत्र राज्यों की संख्या वहुत थी। यह दिखाया जा चुका है कि विजेता से यह आशा की जाती थी कि पराजित राज्य का अस्तित्व नष्ट न करके अपने आधिपत्य में उसकी स्वायत्त सत्ता कायम रहने दे। इससे सामंत-राज्यों की संख्या काफी हो जाती थी। जब प्रांतीय शासक या सूबेदार आनुवंशिक होने लगे और महाराज, सामन्त, महासामन्त और मंडलेश्वर आदि पदवियाँ धारण करने लगे तब ये भी सामंत-राज्यों की श्रेणी में आ गये और इनकी संख्या में और वृद्धि हुई। दक्षिण के यादवों या चालुक्यों के राज्य में तो यह जानना कठिन था कि महामंडलेश्वर उपाधिधारी व्यक्ति सामंत है या सामंतउपाधिधारी सूबेदार। पराजित राजाओं को प्रांतीय शासकों के पद पर नियुक्त करने की प्रथा से यह गड़बड़ी और भी बढ़ जाती थी।

वर्तमान भारत के हैदराबाद, बरोदा, कोल्हापुर आदि कुछ बड़े सामंत-राज्यों के भी अपने सामंत-राज्य हैं; भारत में प्राचीनकाल में भी ऐसी ही स्थिति थी। उदाहरणार्थ, पाँचवीं सदी में एरण के राजा मातृ विष्णु सुरश्मि चंद्र के सामंत थे, जो स्वयं सम्राट् बुधगुप्त का सामंत था[3]। सन् ८१३ ई० में तृतीय गोविंद राष्ट्रकूट सम्राट् थे, उनका भतीजा तृतीय कर्क उनके सामंत के रूप में दक्षिणी

---

१ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय २८।

२ वही।

३ मध्य. भा ले. ३. पृ. ८९।

गुजरात पर शासन कर रहा था, और उसके भी सामंत के रूप में सालुकिकवंश का आबुधवर्ष सिहरिका १२ पर शासन कर रहा था; उसे इस पद पर कर्क के छोटे भाई ने प्रतिष्ठित किया था[१]। अस्तु यह स्पष्ट है कि सामंत राजा भी संभवतः सम्राट् की अनुमति लेकर अपने उपसामंत बना सकते थे।

अतएव सामंतों के पद और अधिकार एक समान न रहते थे, जैसा कि आज के भारतीय राज्यां की स्थिति है। प्रमुख सामंतों को सिंहासन पर बैठने, छत्र-चामर धारण करने और शिविका (पालकी) तथा हाथी पर चढ़ने का अधिकार रहता था। उन्हें अपनी सवारी के समय शृंग, शंख, भेरी, जयघण्टा और रमट आदि पाँचो बाजों को बजवाने का भी अधिकार प्राप्त था। यह अधिकार सम्राट् आधुनिक तोपों की सलामी की तरह बहुत थोड़े व्यक्तियों को ही देते थे। महा-राज, सामंत, महासामंत, मण्डलेश्वर आदि इनके विरुद्ध थे।

सामंतों के दरबार में सम्राट् की हितरक्षा के लिए और सामंतों के नियंत्रण के लिए सम्राट् की ओर से प्रतिनिधि रहा करते थे। आजकल के रेजिडेंटों और पोलिटिकल एजटों की भाँति इन्हें भी सामंत-राज्यों के साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार था। सुलेमान सौदागर के कथनानुसार सामंत राजा इन प्रतिनिधियों की अगवानी सम्राटोचित सम्मान से ही करते थे। ये प्रतिनिधि गुप्तचरों द्वारा बराबर इसकी खबर रखते थे कि कहीं सामंत राजा विद्रोह की तो नीयत नहीं रखता। सामंत राजा भी सम्राट् के दरबार की गतिविधि पर ध्यान रखने के लिए अपने प्रतिनिधि वहाँ रखते थे। उदाहरणार्थ, बनवासी के सामंत-शासक वंगेय ने राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय अमोघवर्ष (८५० ई०) के[२] दरबार में गणपति नामक व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि रूप में रखा था।

सामंत-राज्य पर सम्राट् का नियंत्रण सामंत के पद और सम्राट् की सामर्थ्य के अनुसार होता था। सम्राट् की आज्ञाओं का पालन सामंत का कर्तव्य था। सामंत के दानपत्रों और शासनों (फर्मान) में सम्राट् का नाम सर्वप्रथम देना जरूरी था। उन्हें प्रायः अपने सिक्के चलाने का भी अधिकार न था। सम्राट् के दरबार में सामंतों की उपस्थिति केवल उत्सव और राज्याभिषेक आदि

१ एपि. इंडि. ३ पृ. ५३।

२ एपि. इं. ६. पृ. ३३।

अवसरों पर ही नहीं, वरन् थोड़े-थोड़े समय के अंतर पर भी वांछित थी। अतएव शिलालेखों में अनेक जगह सम्राटों के दरबार के वर्णन में अनेक सामंतों की उपस्थिति के उल्लेख मिलते हैं। सम्राट् को नियमित कर देना भी जरूरी था, या तो यह कर सम्राट् के दरबार में भेज दिया जाता था या सम्राट् अपनी यात्रा में इसे वसूल करते थे[1]। सम्राट् के यहाँ पुत्रजन्म और विवाह आदि अवसरों पर भी सामंतों से उपायन (भेंट) की आशा की जाती थी। सम्राट् की इच्छा होने पर सामंतों को अपनी कन्याएँ उनसे व्याहनी पड़ती थीं। गुप्तसाम्राज्य में पराजित राजा जब सामंत-पद स्वीकार करते थे तो उन्हें कुछ इकरार करना पड़ता था और सम्राट् उन्हें अपने फर्मान (शासन) द्वारा पुनः अपने राज्य में प्रतिष्ठित करते थे। इस शासन में उन शर्तों का भी उल्लेख रहता था जिन पर राज्य वापस किया जाता था[2]। अन्य साम्राज्यों में भी ऐसा होता था या नहीं, हमें ज्ञात नहीं।

मध्यकालीन यूरोप की भाँति प्राचीन भारत में भी सामंतों को सम्राट् के सहायतार्थ निर्धारित संख्या में सैनिक भेजने पड़ते थे। कलचुरि राजा सोढ़देव (८५० ई०) अपने सम्राट् मिहिरभोज के बंगाल-अभियान में सम्मिलित हुआ था[3]। दक्षिण कर्नाटक का नरसिंह चालुक्य (६१५ ई०) अपने सम्राट् राष्ट्र-कूट तृतीय इंद्र की ओर से प्रतिहार सम्राट् महीपाल के विरुद्ध युक्तप्रांत में जा कर लड़ा था[4]।

६वीं शताब्दी में वेंगी के चालुक्यों को मैसूर के गंगों के विरुद्ध राष्ट्रकूटों की सहायता करनी पड़ती थी। गंग राजाओं के सामंत नागरस को अपने सम्राट् की आज्ञा से अय्यपदेव और वीरमहेंद्र के संघर्ष में १०वीं सदी में भाग लेना पड़ा और अपने प्राण भी देने पड़े[5]। उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त इस प्रकार के और भी बहुत उदाहरण हैं।

---

१ इंडि. ऐंटि. ११. पृ. १२६

२ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति।

३ एपि. इंडि, १२. पृ. १०१।

४ राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ. २६५।

५ राष्ट्रकूटों का इतिहास,

परिस्थिति के अनुसार सामंतों की अपनी आंतरिक स्वायत्तता में भी अंतर होता था। बड़े-बड़े सामंतों को पर्याप्त अधिकार रहते थे, जैसे गुप्तसाम्राज्य में उच्छकल्प और परिव्राजक राजाओं को, राष्ट्रकूट-राज्य में गुजरात के सामंतों को और चालुक्य तथा यादव राज्य में शिलाहारवंशी सामंत राजाओं को थे। उच्छकल्पवंशी सामतों की भाँति कुछ तो अपने दानपत्रों में अपने सम्राट् का उल्लेख भी नहीं करते, पर इसे अपवाद समझना चाहिये। अधिपति को कर देने के फलस्वरूप उन्हें पूर्ण आंतरिक स्वायत्त अधिकार प्राप्त हो जाते थे। वे अपने उपसामंत बना सकते थे और अपने कर्मचारियों की स्वयं नियुक्ति करते थे। बिना सम्राट् से पूछे वे जागीर दे सकते थे, गाँव दे सकते थे और बेच भी सकते थे[१]।

दृप्त सामंत सम्राट् की दाब कितनी कम मानते थे इसका पता ब्राह्मणावाद (सिंध) के लोहार सरदार अक्खम के राजा छछ को लिखे पत्र से चलता है। छछ ने उसे अपना आधिपत्य स्वीकार करने को लिखा था इसके उत्तर में अक्खम ने लिखा—मैंने कभी आपका विरोध या आपसे झगड़ा नहीं किया। आपका मैत्रीपूर्ण पत्र मिला, मैं उससे गौरवान्वित हुआ हूँ। हमारी मैत्री कायम रहेगी और हम में कोई शत्रुता न होगी। मैं आपके आदेशों का पालन करूँगा। आप ब्राह्मणावाद के इलाके में जहाँ चाहें स्वच्छंदता से रह सकते हैं। यदि आप किसी अन्य दिशा में जाना चाहते हैं तो आपको रोकने या छेड़नेवाला कोई नहीं। मेरा इतना प्रभाव और शक्ति है जिससे आपको मदद मिल सकती है[२]।

छोटे सामंतों को स्वभावतः इससे बहुत कम स्वतंत्रता थी। वाकाटकों के सामंत नारायण महाराज और शत्रुघ्न महाराज, वैन्यगुप्त के सामंत रुद्रट, और कदम्बों के सामंत भानुशक्ति आदि को अपने ही राज्य के कुछ ग्रामों की माल-गुजारी दान करते समय अपने सम्राटों की अनुमति लेनी पड़ी थी[३]। राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय गोविंद का सामंत बुधवर्ष शनि की दशा निवारणार्थ एक गाँव दान

---

१ इंडि. एंटि. १२ पृ. १२६; एपि. इं. ३, पृ. ३१०। उच्छकल्प और परिव्राजक शासनों में साधारणतः अधिपति का नाम न रहता था।

२ इलियट, १ पृ० १४६

३ कॉ. इ. इ., ३ पृ० २३६. इंडि. हिस्टा. क्वा. ६, पृ० ५३, इंडि. एंटि. ६ पृ० ३१-२।

देना चाहता था, इसके लिए उसे सम्राट् से अनुमति माँगनी पड़ी[१]। राष्ट्रकूट ध्रुव के सामंत शंकरगण को भी एक गाँव दान करने के लिए सम्राट् की अनुमति लेनी आवश्यक थी[२]। कदंब सम्राट् भी अपने सामंतों पर इसी प्रकार नियंत्रण रखते थे। गुर्जर-प्रतीहार साम्राज्य के काठियावाड़ जैसे दूरस्थ प्रदेशों के सामंतों को भी गाँव आदि दान देने के लिए अधिपति की अनुमति लेनी आवश्यक थी और यह अनुमति साधारणतः उनके यहाँ रहने वाले सम्राट् के प्रतिनिधि दिया करते थे, जो बहुधा सम्राट् की ओर से ताम्रपत्रों पर हस्ताक्षर करते पाये जाते हैं[३]। ११वीं शताब्दी में परमार-राज्य में[४] और ७वीं शताब्दी में कश्मीर में भी यही प्रथा प्रचलित थी[५]।

निकृष्ट श्रेणी के सामंतों पर तो सम्राट् का नियंत्रण व हस्तक्षेप और भी अधिक रहता था। इनके सम्राट् और उनके मंत्री भी इनकी रियासतों के गाँव दान कर दिया करते थे। उदाहरणार्थ राष्ट्रकूट द्वितीय कृष्ण ने अपने सामंत चंद्र-गुप्त के राज्य का एक गाँव दान दे डाला था[६]। चालुक्य-सम्राट् सोमेश्वर के प्रधान-मंत्री के आदेश से उसके एक सामंत को किसी कार्य के लिए ५ स्वर्ण-मुद्राएँ दान में देनी पड़ी थीं[७]। परमार राजा-नरवर्मा ने अपने सामंत राज्यदेव के एक गाँव की २० 'हल' जमीन किसी व्यक्ति को दान दी[८]। परमार-नरेश जयवर्मा के आदेश से उसका सामंत गगंदेव भूमिदान करता पाया जाता है[९]।

विद्रोही सामंतों को पराजित होने पर बड़ी लांछनाएँ सहनी पड़ती थीं। गुजरात के कुमारपाल (११५० ई०) ने अपने सामंत विक्रमसिंह को हराकर

१ इंडि. एँटि. १२ पृ० १५।
२ एपि. इंडि. ९, पृ० १९५।
३ एपि. इंडि. ९ पृ. ९।
४ ज. ए. सो. बं. ७ पृ० ७३६–९।
५ इंडि. एँटि. १३ पृ० ९८।
६ एपि. इंडि. १ पृ० ८९।
७ इंडि. एँटि. १ पृ. १४१।
८ प्रोग्रेस रिपोर्ट, अ. स. वे. इं., पृ. ५४; भांडारकर सूची पृ. १८०।
९ एपि. इंडि ९ पृ० १२०-३।

उसे अपदस्थ कर उसके स्थान पर उसके भतीजे को प्रतिष्ठित किया था[1]। कभी-कभी इससे भी अधिक लांछना भुगतनी पड़ती थी; कभी-कभी उनसे विजेता के अश्वशाला, हस्तिशाला में झाड़ू दिलवायी जाती थी[2]। राजद्रोह के दंड में उनका कोष, घोड़े और हाथी जप्त कर लिये जाते थे। कभी कभी उनके राज्य भी जप्त कर लिये जाते थे या थोड़े दिनों के लिए शासनप्रबंध उनके हाथ से छीन लिया जाता था।

केंद्रीय सत्ता कमजोर पड़ जाने पर सामंतगण प्रायः स्वतंत्र हो जाते थे। गुर्जर-प्रतीहार साम्राज्य की अवनति के समय उसके अनेक सामंतों ने 'महाराजाधिराज परमेश्वर' आदि सम्राटोचित उपाधियाँ धारण कर ली थीं[3]। सामंत लोग अपने शासनों में (फर्मानों में) अधिपति का नाम देना बंद कर देते थे या देते भी थे तो यों ही उल्लेख कर देते थे। कर भी नियमित रूप से देना बंद हो जाता था। अधिपति की शक्ति कम हो जाने पर जब उसे युद्ध में सामंतों की मदद की आवश्यकता होती थी तो सामंत सहायता के बदले अपनी मनमानी शर्तें लगाते थे। उदाहरणार्थ बंगाल के राजा रामपाल को अपने सामंतों की सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए, बहुत अधिक अधिकार छोड़ने पड़े थे। सम्राट् अधिपति के उत्तराधिकारियों में राजसिंहासन के लिए संघर्ष होने पर तो सामंतों की और बन जाती थी, वे प्रतिद्वंद्वियों का पक्ष ग्रहण करके अपने पसंद के आदमी को सिंहासन पर बिठाने की कोशिश करते थे, और नये राजा से मनमाने अधिकार प्राप्त करके वे अपनी पुरानी पराजयों को धोने का प्रयत्न करते थे। नया सम्राट्-राजा भी इस स्थिति में न रहता था कि अपने गद्दी दिलाने वालों की बातें मानने से इनकार कर सके। यदि उत्तराधिकार बहुत ही कमजोर होता था, तो सामंत स्वयं सम्राट्-पद प्राप्त करने के लिए लड़ना शुरू कर देते थे। चालुक्य-साम्राज्य के पतन पर यादवों, कलचुरियों और होयसालों में दक्षिण के आधिपत्य के लिए १२वीं सदी में गहरी होड़ लगी जिसमें यादवों को सफलता मिली। इसी प्रकार के दृश्य प्रत्येक साम्राज्य के पतन के समयदेखने में आते थे।

---

१ कुमारपाल प्रबंध पृ० ४२।

२ एपि. इंडि. १८ पृ. २४८।

३ एपि. इंडि. १ पृ. १९३; ३ पृ. २६१-७।

पराजित राजाओं को राज्यच्युत न करने की नीति से अवश्य ही चिरागत स्वार्थों और स्थानीय स्वतंत्रा की रक्षा होती थी परंतु इससे राज्य-व्यवस्था में स्थायी अशांति और अस्थिरता के बीज पड़ जाते थे। निसर्गतः सामंत-राजा सम्राट् के जुए को अपने कंधों से उतारफेंकने की ताक में रहते थे, और प्रभु-शक्ति को सदा उनकी गतिविधि पर कड़ी नजर रखनी पड़ती थी। सामंत-राज्यों की सैनिक-शक्ति नष्ट नहीं की जा सकती थी क्योंकि अधिपति को उसकी आवश्यकता पड़ती थी। प्रभुशक्ति और सामंत का संबंध बहुधा सशस्त्र तटस्थता (armed neutrality) का-सा रहता था। अधिपति अपनी प्रभुसत्ता तभी तक कायम रख सकता था, जब तक वह अपने सामंतों को एक-दूसरे के मुकाबले रखकर उनकी शक्तिसंतुलित रखकर सबको अपने वश में रख सके। इस स्थायी अशांति और अस्थिरता के परिणामों पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

———

अध्याय १५

राज्यशासन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण : भाग १

[वैदिककाल से मौर्यकाल तक]

●

पिछले १४ अध्यायों में हमने राज्य और उसका स्वरूप, ध्येय तथा कार्यों के विषय में प्राचीन भारतीयों के विचारों, आदर्शों और शासन की विभिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। शासन के विषय का विचार करते समय हमने शासन-यंत्र के विभिन्न पुर्जों—राजा, अमात्य, केंद्रीय शासन-कार्यालय, आदि पर अलग-अलग विचार किया और उनके विशेष स्वरूप तथा प्रत्येक युग में उनके इतिहास की समीक्षा की। इससे पाठकों को विभिन्न शासन-संस्थाओं और पदों की उत्पत्ति और विकास का क्रम समझने में सुगमता हुई होगी। परंतु यह भी आवश्यक है कि पाठक के सम्मुख विभिन्न युगों की शासन-व्यवस्था का पूरा चित्र भी रहे ताकि वह प्रत्येक युग की शासन-व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं को ध्यान में रख सके। अतः इस अंतिम अध्याय में पहले एक-एक युग की शासन-व्यवस्था की साधारण समीक्षा की जायगी।

प्राचीन भारत की जाति, विवाह, आश्रम आदि संस्था और प्रथाओं के विकासक्रम के अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है पर राज्यतंत्र और शासन-व्यवस्था के विषय में यह बात नहीं है। वैदिक-काल की शासन-पद्धति की रूपरेखा तो खींची जा सकती है पर अगले एक हजार वर्षों में इसके विकास का क्रम हमारी आँखों से ओझल हो जाता है। फिर पर्दा उठने पर मौर्य-साम्राज्य के पूर्ण विकसित शासन-तंत्र का दर्शन होता है जो केवल राज्य के आवश्यक ही नहीं वरन अनेक लोकहितकारी कर्तव्यों का भी संपादन कर रहा था। वैदिककाल का राज्यतंत्र, जो केवल थोड़े से आवश्यक कार्यों का ही

संपादन करता था, विकसित होकर कैसे इतने कार्य करने लगा यह एक प्रकार से अज्ञात ही है। मौर्यसाम्राज्य की शासन-पद्धति बाद के लिए भी एक प्रकार से रूढ़ हो गयी और इसमें अधिक परिवर्तन या विकास नहीं दिखाई देता।

खंड १

(ऋग्वैदिककाल में राज्य और शासन-पद्धति)

वैदिककाल का राज्य प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों की भाँति छोटा होता था, उसका विस्तार आजकल के एक जिले से प्रायः अधिक न था। अधिकांश राज्यों की उत्पत्ति भी एक विशेष जन या कबीले से संबद्ध थी, राज्य के नागरिक अपने को यदु, पुरु, तुर्वशु जैसे किसी पौराणिक पुरुष की संतान समझते थे। शासकवर्ग में विभिन्न कुलों के गृहपति ही संमिलित थे। कई कुटुंबों को मिला कर 'विश्' की रचना होती थी, जिसका अध्यक्ष 'विश्पति' होता था, कई 'विशों' को मिलाकर 'जन' की रचना होती थी जिसका प्रधान जनपति या राजा होता था।

संयुक्तकुटुंब-पद्धति से राजपद उत्क्रांत हुआ था, इसलिए वह प्रायः आनुवंशिक था। ऋग्वेद में इस विषय में काफी प्रमाण मिलता है, चूँकि वहाँ ऐसे वंशों का उल्लेख भी है जहाँ राजपद लगातार चार पीढ़ियों तक था, जैसे वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजनव और सुदास, दुर्गहण, गिरिक्षित्, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु इत्यादि। कुछ स्थलों पर राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख आता है, किंतु वे अपवादात्मक हैं।

ऋग्वेद में राजा के दैवी अंशवाले होने का सिद्धांत नहीं मिलता है। प्रजा के कल्याण के लिए भी राजा सार्वजनिक यज्ञयाग करते हुए नहीं दीखते हैं। राजत्व पुरोहितत्व से सम्बद्ध नहीं था। राजा के पास कुछ अतिमानुष या दैवी अधिकार या सत्ता है, ऐसा लोग नहीं मानते थे।

जैसा ऊपर कहा गया है, राजा जनपतियों या विश्पतियों के मंडल का प्रमुख रहता था। उसका पद आनुवंशिक होने लगा। उसमें मुख्यतः सफल सेनापतित्व की अपेक्षा की जाती थी। अनार्यों के साथ हमेशा युद्ध चलता रहता था। आर्य-राज्यों में भी आपसी झगड़े बीच-बीच में होते थे। विश्पतियों या जनपतियों में जो कुशल व यशस्वी सेनापति हो सकता था, उसका प्रथम राजपद के लिए चुनाव

होता था; पीछे उसके कुल में राजपद आनुवंशिक हो जाता था। यदि किसी राजा का पुत्र नाबालिग़ होता था, या उसमें सेनापति की योग्यता न होती थी, तो मृत राजा का कोई वयस्क रिश्तेदार ही राजा चुना जाता था। किन्तु ऐसे प्रसंग विरल ही होते थे।

ऋग्वेद युग में राजा की उपाधि सादी माने केवल राजा थी। अधिराट्, सम्राट् ऐसी उपाधियाँ प्रचार में न थीं। राजमहल भी प्रायः विशेष बड़ा या भव्य नहीं था। राजा अनेक जेवर पहनता था। उसकी पोशाक चमकती थी व उसके दरबारी कम न थे। उसकी पदवी 'गोपा जनस्य' बताती है कि मुख्यतः वह प्रजा का संरक्षक था। उसके और कौन कर्तव्य थे, इसका निर्देश नहीं मिलता है। न्यायदान के संबन्ध में राजा का उल्लेख नहीं आता है। संभव है कि सभा व समिति ही यह कार्य करती थीं। उस अति प्राचीनकाल में यह प्रथा भी काफी जारी थी कि हर-एक व्यक्ति अपने प्रतिद्वंद्वियों से झगड़कर स्वयं अपने झगड़े का निपटारा करे। हत्या करने वाला मृत व्यक्ति के रिश्तेदारों को हर्जाना देकर अपना छुटकारा कर सकता था।

सरकार को कर देने की प्रथा अस्तित्व में न थी। इसलिए राजा की आमदनी शांतिकाल में प्रायः उसकी जमीनदारी से ही होती थी। हाँ, उसको उपहार (बलि) भी मिलता था; मगर यह देना न देना ऐच्छिक था। युद्धकाल में राजा को लूट से धन प्राप्ति होती थी, मगर कुछ भाग सैनिकों में भी बाँटा जाता था।

सेनानी या सेनापति, ग्रामणी या ग्राम का मुखिया (या संग्राम-सम्बन्धी अधिकारी), व पुरोहित ये तीन ही अधिकारी ऋग्वेद में उल्लिखित हुए हैं। सेनाधिपति राजा के आदेशानुसार युद्ध में काम करता था व सैन्य को लड़ाई में मार्गदर्शन करता था। लड़ने के शस्त्र प्रायः बाण, तलवार व भाले होते थे। राजा व उसके सरदार चिलखत पहनते थे व घोड़े पर सवार होकर लड़ाई करते थे। सामान्य सिपाही पदचारी ही होते थे। ऋग्वेद में ग्राम शब्द के दो अर्थ मिलते हैं, एक देहात व दूसरा समूह। इसलिए ग्रामणी शब्द ग्राममुखिया या सैन्य का अधिकारी इन दोनों अर्थों में आते होंगे। वैसे तो पुरोहित का काम यज्ञयागादिक करना था। किन्तु देवताओं को ठीक तरह से यागहवि देने से वे संतुष्ट होकर युद्ध में विजय प्रदान करते हैं ऐसी लोगों की भावना थी। इसलिए युद्ध के समय युद्ध-भूमि पर आकर देवताओं की प्रार्थना करना पुरोहित का कर्तव्य था। राजा पुरोहितों को कितना मानते थे यह विश्वामित्र व वसिष्ठ के उदाहरणों से हमें

विदित हो सकता है। इन कारणों से पुरोहित का असर राजशासन पर भी पड़ता था।

उस समय राजा सरदारों की कमेटी का केवल अध्यक्ष रहता था। इसलिए उसके अधिकार विस्तीर्ण नहीं थे। सभा व समिति उस पर कैसे नियंत्रण करती थी, यह भी हमने सातवें अध्याय के प्रारम्भ में दिखाया है। उस समय कुछ राज्य गणतंत्रात्मक थे, उनके बारे में हमने छठे अध्याय में विवेचन किया है।

खंड २

(संहिता, ब्राह्मण व उपनिषद् काल की राज्य-व्यवस्था)

इस काल में राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। अनेक विश् या जन या कबीले एक राज्य में सम्मिलित होने लगे। कुरु-पांचालों का एक राज्य हुआ व उसी तरह और 'जन' भी सम्मिलित हुए होंगे। हो सकता है कि इस समय एक राज्य का विस्तार सामान्यतः आधुनिक कमिश्नरी के बराबर हुआ होगा। कभी-कभी राजाओं को 'महाराज', 'सम्राट्' ऐसी पदवी दी जाती थी। कुछ राजा बड़े विजेता थे और विजय के पश्चात् वाजपेय, अश्वमेध इत्यादि यज्ञ करते थे। किन्तु ऐसे 'सम्राटों' के राज्य का विस्तार कितना विशाल था, यह कहना कठिन है।

इस काल में राज्य शब्द से एक विशिष्ट भूभाग निर्दिष्ट होने लगा। वह काल चला गया था जब कुरु, पांचाल, द्रुह्यु, अनु इत्यादि कबीलों का राज्य उन कबीलों के साथ स्थलांतर करता था।

अथर्ववेद व शतपथ ब्राह्मण में राजा के निर्वाचन का उल्लेख आता है; किन्तु नृपनिर्वाचनप्रणाली का लोप हो रहा था, जैसा कि पाँचवें अध्याय में बताया जा चुका है। कभी दस पीढ़ियों तक आनुवंशिक राजवंशों का उल्लेख आता है जैसे सृंजय वंश के बारे में पहले पुरोहित राजा का अभिषेक करता था मगर पीछे राज्यारोहण समारोह बड़े ठाट-बाट से होने लगा। उस समारोह के समय राजा योग्य कपड़े पहन कर आता था व व्याघ्रचर्म पर बैठता था। ऐसा विश्वास था कि व्याघ्रचर्म के संपर्क से राजा व्याघ्र के समान अजेय हो जायगा। पीछे रथों की दौड़ (Race) होती थी, जिसमें राजा ही सर्व प्रथम आता था। मवेशियों के हरण के लिए 'एक मामूली हमले का आयोजन भी किया जाता था।

राजा व मंत्रिमंडल

राजपद का महत्व बढ़ता जा रहा था इसलिए राजा को दैवी समझने की प्रथा का आरम्भ हुआ। अथर्ववेद में परीक्षित राजा को मर्त्यलोक का देव बताया है व शतपथ ब्राह्मण राजा को प्रजापति का प्रत्यक्ष प्रतीक मानता है। अभिषेक के समय पुरोहित राजा को अदण्ड्य याने दंड के परे करता था। मुख्य सेनापति राजा ही था। सैन्य के सफल व यशस्वी संचालन के कारण ही इन्द्र देवताओं का राजा बना, ऐसा विधान ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। राजा वैश्यों व ब्राह्मणों को अपनी इच्छा के अनुसार निकाल दे सकता था, ऐसा जो वर्णन आता है उससे भी हम राजशक्ति की वृद्धि का अनुमान कर सकते हैं। हो सकता है कि उस समय लोग राजा को राज्य की सब जमीन का मालिक मानते हों; कम से कम उसकी निजी जमीन्दारी बहुत बड़ी थी। कर वसूल करने की प्रथा पूर्ण प्रस्थापित हो चुकी थी। कभी-कभी राजा अधिक कर भी लगाता था। वैश्यों पर करों का बोझा विशेष था। ऐसा विधान किया है जिससे उनका राजा की इच्छा के अनुसार शोषण किया जा सकता था। युद्ध की लूट में राजा का हिस्सा सबसे बड़ा था। सभा व समितियों के लोप से राजा की सत्ता विस्तृत हुई थी। न्यायदान में भी अब वह हाथ बँटाता था।

इस समय अनेक राज्याधिकारियों का उल्लेख आता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि राज्यकार्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया था। रत्नियों की एक समिति राज्य-संचालन में राजा की मदद करती थी, जिसमें कुछ राजा के रिश्तेदार, कुछ दरबारी व कुछ उच्चाधिकारी रहते थे (देखिए अध्याय ८)। रत्नियों में जो संग्रहीता था वह कोषाधिकारी होगा व जो भागधुक था वह कर वसूलने वाला मुख्याधिकारी या 'अर्थशास्त्र' का समाहर्ता (२.५-३) होगा। इस समय के दूसरे उच्चाधिकारियों में सेनापति, रथाधिकारी, प्रतीहारी व ग्रामणी का उल्लेख करना उचित होगा। रत्नियों में का अक्षावाप राजा का जुआ खेलते समय का मित्र होगा।

हो सकता है कि राज्य के कमिश्नरी के बराबर होने के कारण जिलाधीश, नगराधिकारी-जैसे अधिकारी भी अस्तित्व में आये होंगे, किन्तु उनका उल्लेख नहीं मिलता। ग्रामणी ग्राम का मुखिया था। स्थपति भी एक अधिकारी था, किन्तु उसका कार्यक्षेत्र अज्ञात है। कल्पना की गयी है कि वह गवर्नर (प्रांतपति) या मुख्यन्यायाधीश होगा, किन्तु इसके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं है।

ग्रामणी या गाँव के मुखिया के हाथों में फौजी व दीवानी दोनों अधिकार थे। उसके पद का महत्व काफी था। वैश्यों की महत्वाकांक्षा यही होती थी कि उनको वह पद प्राप्त हो। ग्रामणी को आदेश देकर राजा गाँव पर अपनी हुकूमत चलाता था। लिपि का ज्ञान होते हुए भी लिखितादेश रूढ़ नहीं हुए थे। इसलिए राजा को स्वयं जाकर या दूतों के द्वारा अपने आदेश भेजना पड़ता था।

सभा व समिति

अथर्ववेद-काल के आखिर तक सभा व समिति के अधिकार विशाल थे। अथर्ववेद में राजा को सबसे बड़ा शाप यह दिया गया है कि उसके व उसकी समिति के बीच में संघर्ष चलता रहे। किन्तु आगे चलकर सभा-समिति के अधिकार कैसे संकुचित हुए, यह सातवें अध्याय में बताया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में सभा-समिति का उल्लेख शायद ही होता है।

इस समय के ग्रन्थों में राज्य के ध्येय व उद्देश्यों के बारे में चर्चा नहीं मिलती है। राजा का वर्णन 'धृतव्रत' माने व्रतों या नियमों का पालनेवाला ऐसा आता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि नियमों व परम्परा के अनुसार समाज-व्यवस्था रखना राज्य का ध्येय माना जाता था। सांपत्तिक व नैतिक क्षेत्रों में प्रजा को अग्रसर करना राज्य का कर्तव्य था। आदर्शभूत परीक्षित् राजा के राज्य के वर्णन के समय अथर्ववेद कहता है (२०.१२७) कि उसके राज्य में लोग सुख व संपत्ति का उपभोग करते थे व उनको सुरक्षा के बारे में बिलकुल आशंका न रहती थी।

इस समय थोड़े से गणतंत्र भी थे, जिनका उल्लेख वैराज्य (राजविरहित राज्य) शब्द से किया गया है। गणतंत्रों की समिति में विश्पति या जमीनदार सभासद रहते थे व वे अपना अध्यक्ष चुनते थे। यह अध्यक्ष वंशपरंपरागत होने से नृपतंत्र अस्तित्व में आ जाता था। जब अध्यक्ष बार-बार बदलते रहते थे, तब गणतंत्र का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता था।

राजा की सत्ता में वृद्धि, भोज्य, साम्राज्य, वैराज्य इत्यादि नये प्रकारों के राज्यों का प्रादुर्भाव और गणतंत्रों का उदय—ये इस काल-खंड की विशेषताएँ थीं।

खंड ३

(मगधसाम्राज्य का शासन, ई० पू० ६०० से ई० पू० ३२० तक)

इस कालखंड में मगध विस्तीर्ण राज्य बन गया। ई० पू० ४५० तक अंग, विदेह, काशी व कोशल देश मगध में सम्मिलित हो चुके। सिकंदर के अभियान के समय नंद साम्राज्य में पूरा उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल अंतर्भूत हो चुके थे। किन्तु इस विस्तीर्ण साम्राज्य का संचालन किस प्रकार होता था, इसका हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं है। बिंबिसार व अजातशत्रु के समय राज्य के प्रांतों के अधिकारी प्रायः राजपुत्र रहते थे। किन्तु केन्द्रीय सरकार गाँवों पर काफी नियंत्रण रखती थी। बिंबिसार ने एक समय अपने राज्य के सारे गाँवों के मुखियों की एक सभा बुलायी थी। नंद नृप अपने लिए सम्राट्, एकराट् ऐसी उपाधियाँ लेते थे। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि उनके राज्य में सत्ता का केन्द्रीयकरण हुआ था। तथापि नंदसाम्राज्य में सूबे, कमिश्नरियाँ, जिले ऐसा प्रादेशिक विभाजन जरूर रहा होगा, जैसे कि नंदों के उत्तराधिकारी मौर्यों के साम्राज्य में था। नंदसाम्राज्य में न्याय का निर्णय करने वाले उच्च अधिकारियों को वोहारिक महामात्र, बड़े सेनाधिकारियों को सेनानायक महामात्र व शासन-सुव्यवस्था रखने वाले अधिकारियों को सब्बतथक महामात्र कहते थे। नंदसाम्राज्य की आय बहुत बड़ी थी व उनकी सेना में ३००० हाथी, २०००० घुड़सवार व २,००,००० पादचारी सैनिक थे।

खंड ४

(मौर्यकालीन राज्य-शासन)

वैदिककालीन राज्य-शासन का चित्र कितना अस्पष्ट है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। वैसी ही स्थिति तदुत्तर काल में थी। किन्तु मौर्यसाम्राज्य के शासन का चित्र हमें काफी स्पष्ट रूप में मिलता है। आधुनिक जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए जितनी साधन-सामग्री आवश्यक है उतनी हमें इस समय भी नहीं मिलती। मगर उपलब्ध सामग्री से हमें उस राज्य-शासन की जितनी सर्वांगीण कल्पना आती है, उतनी कल्पना दूसरे किसी भी काल के राज्य-शासन के बारे में नहीं होती। अर्थशास्त्र व अशोक के अभिलेख हमें इस विषय में बहुमूल्य सहायता देते हैं। मेगस्थनीज का वृत्तांत भी काफी उपयोगी है।

गणतंत्र

सिंकदर के अभियान के समय पंजाब, सिंध, कोशल व उत्तर बिहार में अनेक गणतंत्र राज्य करते थे। किन्तु अर्थशास्त्र में उनकी विशेष चर्चा नहीं की गयी है। केवल एक ही अध्याय में उनमें फूट डाल कर उनका कैसे विनाश किया जा सकता है, इसका वर्णन आया है। यह बहुत संभव है कि मौर्यसाम्राज्य में बहुसंख्य गणतंत्र विलीन हुए होंगे। इसलिए अर्थशास्त्र उनके बारे में विशेष वर्णन नहीं करता। संभव है कि कुछ गणतंत्र सामंतों के समान अधीनता स्वीकार कर करद राज्यों के रूप में बचे भी होंगे। मौर्यसाम्राज्य के प्रांतीय शासक या राज्यपाल उन पर नियंत्रण रखते होंगे। गणतंत्रीय राज्यपद्धति का वर्णन छठे अध्याय में किया जा चुका है।

नृपतत्र

मौर्यकाल में प्राय: सर्वत्र नृपतंत्र ही वर्तमान था व राजपद आनुवंशिक हुआ करता था। उस समय के किसी भी ग्रंथ या विदेशी वृत्तांत में राजा के निर्वाचन का उल्लेख नहीं आता। राजा का ज्येष्ठ पुत्र प्राय: उसका उत्तराधिकारी होता था। उसकी राज्यशास्त्र व युद्धशास्त्र में योग्य शिक्षा के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता था। वैसे तो वह वेद व धर्म-शास्त्र का भी थोड़ा सा अध्ययन करता था; किंतु उसके अध्यापक यह देखते थे कि वह दंडनीति व वार्ताशास्त्र (economics) में विशेष पारंगतता प्राप्त करे। शासनलेख में शब्दयोजना कैसी की जाय, राज्य का जमा-खर्च कैसे रखा जाय, युद्ध के समय विजय-प्राप्ति के लिए सैन्य-संचालन किस तरह से किया जाय इत्यादि विषयों में उसे विशेष शिक्षा दी जाती थी। उसे यह उपदेश विशेष रूप से दिया जाता था कि वह वयोवृद्ध मंत्रियों से सलाह लेकर उनके अनुभव का लाभ उठावे (अर्थशास्त्र १. ५)। महाभारत व अर्थशास्त्र में राजा के आवश्यक गुणों व प्रशिक्षण का विशेष वर्णन आता है। मालूम होता है कि राज्यशास्त्रियों को यह चिंता थी कि जो नृपतंत्र अधिकाधिक रूढ़ व लोकप्रिय होता जा रहा था, उसका अध्यक्ष सर्वगुण संपन्न हो।

यदि अर्थशास्त्र (१. २१) में वर्णित राजा के टाइम-टेबुल पर हम दृष्टि-क्षेप करें, तो यह स्पष्ट होता है कि राजा पूरे दिन राजकार्य में व्यग्र रहता था व

उसको विश्रांति, निद्रा व मनोरंजन के लिए बहुत ही थोड़ा समय मिल पाता था। मंत्रिमंडल की सभा में भाग लेना, अधिकारियों को मुलाकात के लिए समय देना, गुप्तचरों के प्रतिवेदन (Report) को सुनना, सैन्य के परेड का निरीक्षण करना, मुख्य न्यायाधीश के हैसियत से अपीलें सुनना इत्यादि राज्य-कार्यों में उसका समय बीत जाता था। उत्साह-शक्ति राजा के लिए विशेष आवश्यक समझी जाती थी व दीर्घसूत्रता विनाशकारी (नाथि हि मे तोसो उत्थानम्हि'—अशोक) 'मुझे शायद ही पूर्ण संतोष होता कि मैंने जितना आवश्यक था उतना राज्यकार्य किया' ऐसा अशोक अपने छठे शिलालेख में कहता है, और वह प्रतिवेदकों (Reporters) को यह इजाजत देता है कि वे तुरंत आकर उसे अपना वृतांत कहें, चाहे वह स्नानागार या अंतःपुर में भी क्यों न हो। विशाल मौर्यसाम्राज्य के कार्यक्षम संचालन का मुख्य श्रेय सम्राट् की उत्साहशक्ति व बिना विलंब निर्णय करने की पद्धति को देना उचित होगा।

राजा ही सत्ता का केन्द्र था, सत्ता की कुंजी सेनापतित्व व कोशाधिपतित्व में थी व वह राजा के हाथ में थी। वह मंत्रियों से सलाह लेता था, किंतु मंत्रि-मंडल का मत उस पर बंधनकारक नहीं था। प्राणिवध रोकने या नये सुधार जारी करने के आदेश वह निकाल सकता था। किंतु ऐसा होते हुए भी राजा निरंकुश शासक नहीं था। प्रजाकल्याण के लिए यह हमेशा प्रयत्नशील रहता था; प्रजासुख व प्रजाहित में अपना सुख व हित है (अर्थशास्त्र १. १९) ऐसी उसकी भावना थी। अशोक ने अपने आदेश में कहा है कि सब प्रजा उसकी संतान है, व उसके ऐहिक व पारलौकिक कल्याण व प्रगति के लिए प्रयत्नशील रहना उसका कर्तव्य है।

राज्यसंचालन में इस समय रानियाँ भाग लेती हुई नहीं दीखती हैं। गुप्त व गुप्तोत्तर काल में यह प्रथा रूढ़ हुई।

उस समय दुनिया में मौर्यसाम्राज्य एक अत्यंत बलिष्ठ साम्राज्य था। इस लिए यह स्वाभाविक ही है कि उसका राजदरबार एक भव्य चित्र दिखाता था। पाटलिपुत्र का दरबारहॉल १५० फुट लंबा व १२० फुट चौड़ा था। उसके पत्थर के स्तंभ करीब-करीब ३३ फुट ऊँचे थे। स्तंभों का पॉलिश अत्यंत चमकीला था। उसके समीप में तालाब या नहर थी। दरबार में राजा के समीप शरीर-संरक्षक-दल रहता था। यात्रा या शिकार के समय उसमें २४ हाथी भी सम्मिलित होते थे। यात्रा का मार्ग बड़ा आकर्षक व भव्य था। रास्ते सुगंधित किये जाते

थे व चपरासी चाँदी के धूपदान में धूप जलाते हुए आगे चलते थे। रास्ते पर अनाधिकारी लोगों का प्रवेश निषिद्ध था। राजमहल में अनेक गुप्त कमरे व जमीन के नीचे खुदे हुए मार्ग थे जिसमें षड्यन्त्रों को निष्फल किया जा सके।

मंत्रिमंडल

मंत्रिमंडल राज्ययंत्र का एक महत्व का भाग था। जैसे एक चाक से रथ नहीं चल सकता (अ. शा. १. ३) वैसे ही केवल राजा से राज्यकार्य अच्छी तरह से चलना अशक्य है। स्वाभाविक ही मंत्रिमंडल में मुख्यमंत्री का पद बड़े महत्व का था। किंवदंती के अनुसार कौटिल्य के हाथ में बहुत अधिकार थे। मुख्यमंत्री राधगुप्त ने अशोक की संघ को अनुचित दान देने की प्रवृत्ति को सफलतापूर्वक रोका; आखिर में सम्राट् को केवल एक आँवला संघ को दान देकर संतुष्ट रहना पड़ा।

मंत्रिमंडल के सदस्य कितने होने चाहिए इस विषय में मौर्यकाल में ऐकमत्य नहीं था। मानव, बार्हस्पत्य व औशनस शास्त्रों की परंपरा क्रमशः १२, १० व २० मंत्रियों के पक्ष में थी। मंत्रियों की संख्या इस तरह से निश्चित करना कौटिल्य उचित नहीं मानते थे, आवश्यकता के अनुसार उसको बढ़ाना या घटाना चाहिए, ऐसा उनका मत था। अर्थशास्त्र १. १५ में वे कहते हैं "थोड़े मंत्री रहने से राजा को पर्याप्त सहायता न मिलने की संभावना है; इन्द्र को सहस्राक्ष इसलिए बताया है कि उसके मंत्रिमंडल की संख्या एक हजार थी।" किंतु कौटिल्य यह भी मानते हैं कि मंत्रिमंडल बड़ा होने से गोपनीय बातों का गुप्त रखना कठिन होगा। इसलिए कौटिल्य यह तरीका बताते हैं कि यद्यपि मंत्रिमंडल में अनेक मंत्री हों तथापि राजा को चाहिए कि वह केवल तीन-चार मंत्रियों से ही सलाह ले जो उस विषय से संबंद्ध हों। मौर्यसाम्राज्य में मंत्रिमंडल के अलावा एक कैबिनेट भी था जिसके सदस्य युवराज, मुख्यमंत्री, सेनापति, कोषमंत्री या वित्तमंत्री व पुरोहित थे।

विविध मंत्रियों का कार्यक्षेत्र (Portfolio) क्या था इसके बारे में न अर्थशास्त्र में कुछ कहा गया है न अशोक के शिलालेखों में ही! हो सकता है कि विभागों के अध्यक्ष ही मंत्रिमंडल के बहुसंख्य सभासद् थे, इसलिए उनके कार्यक्षेत्र का पृथक् विवरण अर्थशास्त्र में नहीं आया।

मंत्रिमंडल पूरे राज्य-शासन का संचालन करता था। उसका यह काम था कि वह प्रचलित राजनीति व राज्यकार्यों का उचित समय पर निरीक्षण करे, व उनके लिए पर्याप्त धन-जन का आयोजन करे। किस समय में कौन नीति अपनानी है या छोड़नी है, इसके लिए भी वह परामर्श करता था। नवनीति-निर्धारण करते समय मंत्रिमंडल बहुत सतर्क रहता था (अर्थशास्त्र १.१५), यह स्वाभाविक तौर से उचित समझा जाता था कि मंत्रिमंडल के सदस्य-जैसे बड़े अधिकारी दरबार के महत्व के समारोह के समय उपस्थित रहें। जब विदेशी राजदूत दरबार में राजा से मिलने के लिए आते थे या विजय या पुत्रजन्म के समय समारोह किया जाता था, तब मंत्रिमंडल के सदस्य हमेशा दरबार में अपने-अपने स्थान ग्रहण करते थे।

यह अपेक्षा थी कि हरएक मंत्री मंत्रिमंडल की सभा में स्वयं भाग ले। किन्तु यदि कोई मंत्री उपस्थित न रह सकता था तो वह अपना मत लेख द्वारा भेजता था। मंत्रिमंडल की सभा निश्चित अवसर पर होती थी किंतु यदि महत्व का काम आकस्मिक रूप में उपस्थित हो, तो जरूरी सभा बुलायी जा सकती थी। यदि एक मत न हो सके तो बहुमत के अनुसार निर्णय किये जाते थे। किन्तु राजा को यह अधिकार था कि वह अल्पमतवाली नीति को भी स्वीकार करे, यदि ऐसा करने से उसके ख्याल में राज्य का हित हो।

राजा की अनुपस्थिति में भी मंत्रिमंडल की बैठक निश्चित काल पर होती थी ऐसा अशोक के छठे शिलालेख से मालूम होता है। राजा के अनुपस्थित होने के कारण जटिल या महत्त्व के प्रश्नों का निर्णय करना मंत्री पसंद नहीं करते थे। अशोक का आदेश था कि ऐसे प्रश्न उसके पास तुरन्त विचारार्थ भेजे जायँ। कभी-कभी राजा अपने दौरे में मौखिक आदेश देता था। ऐसे आदेश मंत्रिमंडल के विलोकनार्थ आते थे। यदि उनमें कुछ फिर विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती, तो मंत्रिमंडल राजा के सामने उनको फिर भेजता था।

मंत्रिमंडल व केन्द्रीय सरकार का यह भी काम था कि प्रांतों की राज्य-व्यवस्था समान सिद्धांतों पर अधिष्ठित हो। इस ध्येय से अशोक ने अपने आदेशलेख प्रकाशित किये थे व उसके अधिकारी भी अपने दौरे में इस ओर हमेशा ध्यान रखते थे।

प्रांतीय-शासन

मौर्य-साम्राज्य का विस्तार हिंदुस्तान व पाकिस्तान से भी अधिक था। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि उसके अनेक प्रांत या सूबे हों। अर्थशास्त्र में प्रांतों के नामों का उल्लेख नहीं है। किन्तु अशोक के लेखों से यह ज्ञात होता है कि तक्षशिला, तोसली (कलिंग में) व ब्रह्मगिरि (मैसूर में) में तीन राज्यपाल राज्यसंचालन करते थे। बौद्ध वाङ्मय में उज्जयिनी का भी प्रांतीय राजधानी के रूप में उल्लेख आता है। सौराष्ट्र या काठियावाड़ में काम करने वाले राज्यपाल का उल्लेख एक उत्तरकालीन शक शिलालेख में आया है। उसकी राजधानी गिरिनार थी। पूर्व पंजाब व उत्तरी उत्तरप्रदेश में भी एक राज्यपाल होगा, जिसकी राजधानी अहिच्छत्र होगी। काशी-कोशल का भी एक राज्यपाल होगा, जिसकी राजधानी कौशांबी होगी। महाराष्ट्र व बंगाल के लिए भी स्वतन्त्र राज्य-पाल होंगे। इस तरह मौर्य-साम्राज्य के ९-१० प्रांत थे, जो अलग-अलग राज्यपालों के हाथ सुपुर्द किये गये थे।

अशोक के ब्रह्मगिरि के राज्यपाल की पदवी कुमार थी। बौद्ध परंपरा के अनुसार अशोक ने उज्जयिनी व तक्षशिला में राज्यपाल का काम किया था व कुमार कुणाल ने तक्षशिला में। इससे यह मालूम होता है कि बड़े-बड़े या महत्व के प्रांतों के राज्यपाल कभी-कभी राजकुमार हुआ करते थे। चन्द्रगुप्त के समय सौराष्ट्र का राज्यपाल वैश्य पुष्यगुप्त था व अशोक के समय पार्थियन अधिकारी तुषाष्प। इससे यह विदित होता है कुछ राज्यपाल अधिकारियों में से चुने जाते थे। यह भी संभव है कि पंजाब व सिंध में कुछ राज्यपाल करद गणतंत्रों के अध्यक्षों में से नियुक्त किये गये हों।

प्रांतीय राज्यपालों को सलाह देने के लिए एक प्रांतीय मंत्रिमंडल भी रहता था। जब अशोक तक्षशिला के विद्रोह का शमन करने गया, तब उसे वहाँ के लोगों ने कहा कि उनका विद्रोह सम्राट् के खिलाफ न था किंतु प्रांतीय मंत्रियों के खिलाफ, जो उन पर जुल्म करते थे। ब्रह्मगिरि व तोशलि शिलालेखों में सम्राट् अशोक ने जो आदेश प्रकाशित किये हैं वे केवल राजपुत्र-राज्यपाल के नाम से नहीं हैं, किंतु समंत्रिपरिषद् राजपुत्र-राज्यपालों के नाम से हैं। कलिंगदेशीय शिलालेख भी राज्यपाल व महामात्रों के संयुक्त नाम से हैं ; प्रायः महामात्रों का ही मंत्रिमण्डल बनता था। इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच

सकते हैं कि प्राय: प्रांतीय राज्यपाल भी मंत्रिमंडल की सहायता से ही राज्य-संचालन करते थे।

प्रांतीय राज्यपालों का काम शांति सुव्यवस्था रखना, केंद्रीय सरकार के कर वसूलना, केंद्रीय सरकार की नीति के अनुसार सामंतों पर निन्त्रण रखना, पड़ोसी कबीलों व राज्यों की नीति पर निगरानी करना इत्यादि था। वे समय-समय पर प्रांत की अंत:स्थिति पर केन्द्रीय सरकार को प्रतिवेदन भेजते थे व उसके आदेश के अनुसार अपनी नीति निश्चित करते थे। प्रांतीय सरकार को कितनी स्वायत्तता थी, यह कहना कठिन है।

कमिश्नरियाँ, जिले, नगर व ग्राम

प्रांतों का विभाजन कमिश्नरियों में किया गया था, व कमिश्नरियों का जिलों में। कमिश्नरियों के मुख्याधिकारी 'प्रादेशिक' थे व जिलों के रज्जुक[१]। शिलालेख के 'प्रादेशिक' व अर्थशास्त्र के 'प्रदेष्टार:' एक ही श्रेणी के अधिकारी दीखते हैं। कमिश्नरी में के कर वसूलना विविध विभागों के कामों पर नियंत्रण रखना, न्यायदान के विभाग पर निगरानी करना इत्यादि काम प्रादेशिक या प्रदेष्टा करते थे। उसकी सलाह के लिए एक कमेटी थी या नहीं, यह विदित नहीं है।

चौथे स्तंभ-लेख में रज्जुकों के कार्यों का विवरण मिलता है। लाखों लोगों पर उनका अधिकार था, इसलिए वे जिलाधीश से कम दरजे के नहीं थे। उनका सर्वप्रथम काम जमीन-कर वसूलना था; किन्तु वे न्यायदान का भी कार्य करते थे, जैसे कि कलेक्टर अंग्रेजी-शासन-पद्धति में। फौजदारी अपराधों के विषय में अशोक ने उनको विशेष स्वायत्तता दी थी। यदि उचित समझें, तो वे अपराधियों की सजा को घटा सकते थे। अपनी संतानों के समान लोगों के कल्याण के लिए उनको सदा प्रयत्नशील रहना था। कर वसूलना, रास्तों की मरम्मत करना,

१ अशोक के तृतीय शिलालेख में पहले युक्त, पश्चात् रज्जुक व तत्पश्चात् प्रादेशिक निर्दिष्ट किये गये हैं। इसलिए यह मानना उचित है कि प्रादेशिक रज्जुकों से भी बड़े अधिकारी थे। रज्जुक लाखों लोगों का कामकाज देखते थे इसलिए वे जिलाधिकारी व प्रादेशिक उनसे बड़े याने कमिश्नर होंगे।

व्यापार के संवर्द्धन के लिए अनुकूल परिस्थिति रखना, बाँध-नहर इत्यादि का प्रबंध करना रज्जुकों का कार्य था। सारनाथ, रूपनाथ व ब्रह्मगिरि के लेखों से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस क्षेत्र के रज्जुक मुख्याधिकारी थे उसका नाम आहार था।

जिला या आहार 'स्थानीयों' में विभाजित था जिसमें प्रायः ८०० गाँव होते थे। एक स्थानीय में दो 'द्रोणमुख' होते थे जिनमें प्रायः ४०० गाँव अंतर्भूत रहते थे। २०० गाँवों के विभाग को 'खार्वटिक' कहते थे, व उसमें दस-दस गाँवों के २० 'संग्रहण' होते थे। इन विभागों के अधिकारियों को वसूली (Revenue), शासनीय (Executive) व न्यायविषयक अधिकार रहते थे। छोटे दरजे के कर्मचारियों को युक्त कहते थे व दस गाँवों के अधिकारी को गोप।

ग्रीक इतिहासकारों के कथनानुसार पंजाब में अनेक नगर थे जिनका संचालन उनके मुख्य अधिकारी करते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार उनका नाम नागरिक था व शिलालेखों के अनुसार 'नगर वियोहारिक' माने 'नगर व्यवहारिक'। कर-वसूली करना, शांति-सुव्यवस्था रखना, व न्यायदान करना उनका काम था। होटलों व सरायों पर उनकी विशेष निगरानी रहती थी जिससे विदेशी प्रवासियों व बदमाशों के आवागमन ठीक तरह से विदित हों। व्यापार, उद्योग-धंधे इत्यादि के निरीक्षक (इन्सपेक्टर) नगराध्यक्ष के अधीन रहकर काम करते थे। यदि कोई नागरिक रास्ते पर कूड़ा फेंके, या अपनी बेफिक्री से शहर में आग फैलावे तो उसे कड़ा दंड दिया जाता था। नगर में अनेक मोहल्ले होते थे। नगर का एक न्यायालय (कोर्ट) भी रहता था, जहाँ न्यायाध्यक्ष को मदद देने के लिए गैर-सरकारी पंच होते थे। पाटलिपुत्र ऐसे बड़े नगरों में नगराध्यक्ष की मदद करने के लिए तीस सभासदों की एक समिति रहती थी, जिसकी पाँच उपसमितियाँ होती थीं। उनके कार्यक्षेत्र आठवें अध्याय के अंत में दिखाये गये हैं। संभव है कि तक्षशिला, त्रिपुरी, उज्जयिनी ऐसे बड़े नगर अपने नाम के सिक्के भी निकालते हों।

शहरों की रक्षा के लिए प्राकार व खंदक थे। पाटलिपुत्र का खंदक ६०० फुट चौड़ा व ३० फुट गहरा था। संभव है कि उसमें गंगा या सोन का पानी छोड़ा जाता था। शहर के चारों ओर एक ऊँची लकड़ी व मिट्टी से बनी हुई दीवाल थी, जिसमें ६४ दरवाजे व ५७० बुर्ज (Towers) थे। दो बुर्जों में

२३५ फुट का फासला था। इसलिए उनसे सैनिक बीच में आने वाले शत्रुसैन्य पर अच्छी तरह बाणवर्षा कर सकते थे।

ग्रामणी गाँव का शासन देखता था। उसकी 'ग्रामवृद्धों' की कमेटी मदद करती थी। उसके दफ़्तर में गाँव में कितने घर थे, उनकी आबादी कितनी थी, विभिन्न खेतों का विस्तार कितना था, उनके मालिक कौन थे, उनमें कौन-कौन धान्य बोये जाते थे, उनसे कितना कर वसूलना था इत्यादि विषयों का पूरा वृत्तांत रहता था। ग्रामवृद्ध या पंच छोटे-छोटे झगड़ों का निपटारा करते थे; बड़े झगड़ों को हल करने के लिए तीन सरकारी अधिकारी व तीन गैरसरकारी पंचों का एक न्यायालय रहता था (अर्थशास्त्र, २.३५)।

शासन-विभाग

शासन-विभागों के विषय में अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण (विभाग) में विशेष वर्णन आता है। राजमहल का विभाग 'सौधगेहाधिप' के अधीन रहता था। उसे पाकशाला पर कड़ी निगरानी करनी पड़ती थी, जिससे राजा के अन्न में विष प्रयोग न हो। महल का फर्निचर, बगीचे इत्यादि का प्रबंध भी उसी को करना पड़ता था। दौवारिक नाम का अधिकारी महल-प्रवेश के लिए अनुमति-पत्र (Passport) देता था, उसके बिना कोई भी अनधिकारी प्रवेश न कर सकता था। राजा के संरक्षण के लिए एक अंगरक्षक-दल हमेशा तैयार रहता था।

मौर्य-सेना में सैनिक ६,००,०००, हाथी ९,००० व घुड़सवार ३०,००० थे। इसलिए मौर्य सेना-विभाग स्वाभाविक ही विशाल था। सैन्य में ऊँटों व गधों का भी एक दल रहता था (अ. शा. ९.११)। लड़ाकू सैनिकों के अलावा हजारों मजदूर व इंजीनियर भी सैन्य में रहते थे। घायलों को उठाने के लिए व उनका उपचार करने के लिए शुश्रूषकों व चिकित्सकों का भी प्रबंध था (अ. शा. १०.४)।

मौलिक सैनिक आनुवंशिक क्षत्रिय-पेशे के होते थे। दूसरे सिपाही संघ या गणों में से भी भरती किये जाते थे। उपजीविका के साधन के रूप में भी बहुत लोग सैनिक काम करते थे। जो राजा उनको उचित तनखाह देता था उसी की नौकरी करते थे। धनुष, बाण, तलवार, भाला इत्यादि शस्त्रों से लड़ाई की जाती था। युद्धरथ को चार घोड़े जोतते थे व उसमें ६ आदमी बैठते थे। उनमें से दो

घोड़ों को चलाते थे, दो ढाल धरते थे व दो बाणों की वर्षा करते थे (कर्टियस ७.१४)। घुड़सवार प्रायः भाले से लड़ता था। हरएक घुड़सवार के पास दो भाले रहते थे।

लड़ाई के समय पदातिदल (Infantry), घोड़ादल व हस्तिदल के सैनिकों की एक संयुक्त इकाई (Unit) बनाई जाती थी, जिसमें परस्पर अधिक से अधिक सहकार्य रहे। 'पादिक' अधिकारी के मातहत न केवल २०० पदाति किन्तु १० हाथी, १० रथ व ५० घुड़सवार भी होते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार १० पादिकों पर का अधिकारी सेनापति व दस सेनापतियों पर का अधिकारी नायक था (१०.६)। किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि ओहदों के ये नाम सर्वत्र रूढ़ नहीं थे। खुद अर्थशास्त्र (२.३३) में इतर सर्वसेना के मुख्य को सेनापति कहा है।

मेगस्थनीज़ के अनुसार सैन्य की व्यवस्था करने के लिए तीस वरिष्ठ अधिकारियों की एक कमेटी थी। पदातिदल, घोड़ादल, रथदल, हस्तिदल, यातायात-विभाग व नौसेना का काम देखने के लिए छः अलग-अलग उपसमितियाँ थीं व प्रत्येक में ५ मेम्बर होते थे। अर्थशास्त्र में इन उपसमितियों का उल्लेख नहीं है। किन्तु विविध सेनाविभागों के अध्यक्षों के कार्य बताये गये हैं। रथाध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्ति-अध्यक्ष के कार्य उनके नामों से ही विदित हो जाते हैं। दुर्गपाल किलों का इन्तजाम करता था व आयुधागाराध्यक्ष शस्त्रास्त्रों का। सरहद के रक्षण के लिए जो 'अन्तपाल' नियुक्त किये जाते थे, वे सेनाविभाग से ही संबद्ध थे। प्रवेशानुमति-विभाग (Passport Department) की भी वैसी ही स्थिति थी। गुप्तचर-विभाग आजकल के समान सेना का एक महत्वपूर्ण अंग था, जिसमें संन्यासी, जादूगर, ज्योतिषी, नर्तकियों इत्यादि के रूप में अनेक लोग नियुक्त किये जाते थे।

परराष्ट्र या विदेश विभाग मौर्यकाल में अत्यंत विस्तृत था। उसे सारे पश्चिम एशिया के राज्यों के बारे में नीतिनिर्धारण करना पड़ता था। उस समय विदेशीय दूत पाटलिपुत्र के दरबार में रहते थे, जैसे सेल्यूकस के मेगस्थनीज़ व डेइमॅकस। मौर्यों के राजदूत भी ऑंटिओकस, टोलेमी, ऑंटिगोनस मगस और अलेक्जेंडर—इन राजाओं के दरबार में रहते होंगे। उनका उल्लेख नहीं मिलता किन्तु उनकी सहायता से अशोक के धर्मप्रचारक पश्चिम एशिया में अपना धर्मोपदेश का काम करते होंगे। राजदूतों की तीन श्रेणियाँ थीं : (१) निसृष्टार्थ

दूत, जिनको पूरे अधिकार दिये जाते थे; (२) परिमितार्थ दूत, जो दिये हुए आदेश से बाहर नहीं जा सकते थे; (३) शासन दूत, जो विशिष्ट काम के लिए ही भेजे जाते थे। परराष्ट्रनीति जब अधिक देश सम्मिलित करने के उद्देश्य से प्रभावित होती थी तब उसको लोभविजयप्रेरित कहते थे, जब अधिक द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा से प्रभावित रहती थी तब उसको अर्थविजयप्रेरित, जब केवल अपना अधिराज्य मान्य कराने के लिए प्रयत्न किया जाता था, तब वह नीति धर्मविजय-नीति कहलाती थी। विदेशियों पर देखरेख (Supervision) रखने के लिए व उनको बीमारी में दवादारू देने के लिए जो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, वे भी परराष्ट्र-विभाग के कर्मचारी थे।

मालविभाग (Revenue Department) समाहर्ता के अधीन रहता था। वह जमीन-महसूल, नहर-कर, चुंगी, दूकान-कर, जंगल व खानों की आमदनी पर देखरेख रखता था। जमीन-महसूल १६ से २५ प्रतिशत रहता था। बुद्ध की जन्मभूमि होने के कारण जब अशोक ने लुंबिनी ग्राम को जमीन-कर में रियायत दी थी तब उसका अनुपात १२½% हो गया था। पुरानी खानों का ठीक इंतजाम करना, नयी खानों का पता लगाना, सरकारी जमीन की खेती का प्रबंध करना, वर्षा के पानी को नाप कर उसका रेकर्ड रखना इत्यादि काम भी माल-विभाग के अधीन थे।

कोष-विभाग का अधिकारी कोषाध्यक्ष या संनिधाता था। राज्य को कर के रूप में न केवल सोना, चाँदी या मुद्राएँ मिलती थीं, किन्तु अन्नधान्य, ईंधन, तेल इत्यादि भी। इसलिए कोषाध्यक्ष का काम न केवल हिसाब-किताब करना व चाँदी-सोने को सुरक्षित रखना था, किन्तु उसे पुरानी धान्यादि-सामग्री बेच कर उसकी जगह नयी सामग्री इकट्ठी कर कोष में रखनी पड़ती थी। इस विभाग का एक कनिष्ठ अधिकारी गोप गाँव की जनसंख्या व जानवर-संख्या का भी रेकर्ड रखता था। मौर्य-राज्य में समुचे राष्ट्र की जनसंख्या निर्धारण करने का जो आयोजन किया जाता था, उसका भी प्रबंध माल या कोष विभाग से ही किया जाता था।

वाणिज्य व उद्योग विभाग मौर्यकाल में बड़े महत्व का था। उसके द्वारा चीजों का थोक व खुदरा दाम निश्चित किया जाता था। आवश्यक वस्तुओं के आयात का प्रबंध करना, निषिद्ध वस्तुओं को मना करना, सरकारी कारखानों का माल बाजार में भेजना, जनता का नुकसान रोकने के लिए तोल व नाप

की निगरानी करना, चुंगी-कर को निश्चित करना, उससे मंदिरादिकों को छूट देना, दारू के उत्पादन व बिक्री का आयोजन करना, मांसविक्रय पर निगरानी रखना, बन्दरगाहों की ठीक व्यवस्था करना, नदी-नौकानयन का इन्तजाम का करना—ये सब कार्य इस विभाग के अधीन थे। कताई व बुनाई का आयोजन करना भी इसी विभाग का काम था। रुई लोगों में बाँटी जाती थी व उनसे सूत खरीदा जाता था, जिसका पीछे कपड़ा बनाया जाता था। हो सकता है कि टकसाल भी इसी विभाग की देख-रेख में काम करती हो।

न्याय-विभाग का कार्य न्यायदान करना था। दीवानी अदालतें (न्यायालय) 'धर्मस्थानीय' (कोर्ट) कहलाती थीं। वे कर्जा, इकरार, खरीद, बिक्री, विवाह, दायभाग, सीमाविवाद इत्यादि के मुकदमों का निर्णय करती थीं। फौजदारी अदालतों को 'कंटक-शोधन' (कोर्ट) कहते थे। वे चोरी, हत्या, स्त्रीसंग्रहण (Sex offences) इत्यादि के मुकदमों पर विचार करती थीं। मुख्य न्यायालय राजधानी में था, जिसका प्रमुख स्वयं राजा व उसकी अनुपस्थिति में प्राड्विवाक होता था। प्रांतों में कमिश्नरियों में व जिलों में उनके अपने-अपने न्यायालय होते थे; जिनपर मुख्यन्यायालय नियंत्रण रखता था। धर्मस्थानीय न्यायालयों में गैरसरकारी पंच भी न्यायदान में सहाय्य देते थे। ग्रामों में ग्राम-पंचायतें छोटे मामलों में न्यायदान करती थीं।

जेल या कारागृह का प्रबंध शायद न्याय-विभाग द्वारा ही होता था। प्रायः छोटे अपराधों के लिए जुर्माना लगाया जाता था। बड़े अपराधों के लिए कारावास दिया जाता था। मृत्युदंड प्रचलित था। अहिंसावादी अशोक भी उसे न रोक सका। उसने मृत्युदंडित अपराधियों को केवल तीन दिनों की रियायत दी थी, जिस अवधि में उसके पारलौकिक कल्याण के लिए उसके रिश्तेदार दान-धर्मादि कर सकें। राज्याभिषेक के उपलक्ष में कैदी रिहा किये जाते थे। इन कैदियों में प्रायः घोर कर्मवालों का अंतर्भाव न होता था।

धर्म-विभाग का अध्यक्ष राज-पुरोहित था। वैदिक व स्मार्त यज्ञ कर के राजा की ऐहिक उन्नति व पारलौकिक कल्याण का साधन करना उसका मुख्य कार्य था। राजा के दान-धर्म के विषय में भी इस विभाग को सलाह देनी पड़ती थी। जिन धर्म-महामात्रों की नियुक्ति अशोक ने सर्वप्रथम की थी, वे भी इसी विभाग के अधीन काम करते थे। धर्म-संप्रदायों में पारस्परिक प्रेम-संवर्द्धन करना, सदाचार को बढ़ावा देना, दरिद्रों, वृद्धों, व अनाथों की मदद

करना, कैदियों के कुटुम्बों की देखभाल करना, मालिक व मजदूरों के झगड़े का निपटारा करना इस विभाग का काम था[१] ।

मौर्य राज्य-शासन का क्षेत्र कितना विस्तीर्ण था, यह ऊपर दिखाया गया है। उसको चलाने के लिए योग्य उच्च-अधिकारियों की बड़ी तदाद में आवश्कता थी। डायोडोरस, स्ट्रैबो व एरियन के कथन के अनुसार उच्च कर्मचारियों का एक विशेष वर्ग (Class) होता था। इन्हीं में से राज्यपाल, मंत्री, अमात्य, कोषाध्यक्ष, प्रदेष्टा, रज्जुक इत्यादि अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इस वर्ग के लोग संख्या में थोड़े थे, किंतु चारित्र्य, योग्यता व विद्वत्ता के कारण उनका सम्मान किया जाता था। किसी वर्ग या जाति से ये लोग नहीं चुने जाते थे, जैसा कि ग्रीक लेखकों ने कहा है। किंतु इन अधिकारियों का ही एक वर्ग बन गया था। उसका जाति-प्रथा से कोई भी संबंध नहीं था। अर्थशास्त्र में इस वर्ग के लोग अमात्य नाम से संबोधित किये गये हैं। अपने उच्च कुल, प्रगाढ़ शिक्षा, तीव्र बुद्धि, अदम्य उत्साह-शक्ति, शीघ्र निर्णय-शक्ति व उत्कृष्ट नेकी के लिए वे मशहूर थे। मंत्री, अध्यक्ष[२] व सचिवालय के उच्चाधिकारी[३] इनमें से चुने जाते थे। प्रांतों के न्यायाधिकारी[४] भी अमात्यों में से लिये जाते थे। कौटिल्य के अनुसार अमात्य व्यसन या समस्या राज्य के लिए बहुत कठिन विपत्ति थी, चूँकि उनके जिम्मे ही राज्य के विविध ध्येयों को साध्य करने का काम रहता था[५]। कोटिल्य के 'अमात्य' व ग्रीक ग्रंथकारों के सलाहगार (Councillors) एक ही श्रेणी के अधिकारी थे। उनकी तुलना ब्रिटिश जमाने के आई. सी. एस. श्रेणी के अधिकारियों से की जा सकती थी।

ऐसा मालूम होता है कि अर्थशास्त्र के महामात्य व अशोक-लेख के महामात्र विभिन्न न थे। अशोक के समय केन्द्रीय या प्रांतीय मंत्रिमंडल के सदस्य

---

१ अशोक शिलालेख न. ७ व १२, स्तंभलेख ७ ।

२ अमात्यसंपदोपेताः सर्वाध्यक्षाः...। अर्थशास्त्र. २-९

३ तस्मादमात्यसंपदोपेतः......लेखकः स्यात्। वही, २. १०

४ धर्मस्थास्त्रस्त्रयोऽमात्याः...व्यवहारिकानर्थान् कुर्युः। वही, ३-१

५ अमात्यमूलाः सर्वारंभाः। जनपदस्य सिद्धयः...व्यसनप्रतीकारः शून्यनिवेशोपचयो दण्डकरानुग्रहस्य। वही, ८. १

जिलाधीश, नगरव्यवहारिक ये सब महामात्र रहते थे। जब उनकी नियुक्ति धार्मिक-क्षेत्र में की जाती थी, तब उनको धर्ममहामात्र कहते थे, जब सरहद के कबीलों पर तब अंतमहामात्र, जब स्त्रीकल्याण-कार्य पर तब स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र। इस अंत्यपदवी से यह विदित होता है कि महामात्र व अध्यक्ष एक ही श्रेणी (Cadre) के नौकर थे।

केवल मौर्य राज्य-शासन के अधिकारियों की वेतनश्रेणी हमें अभी तक विदित है। अर्थशास्त्र (५-३) के अनुसार मुख्यमंत्री, मुख्यसेनापति, व मुख्य पुरोहित का मासिक वेतन ४००० पण था। राजमाता व पट्टरानी भी उतना ही पाती थीं। दौवारिक, अंतःपुराध्यक्ष, समहर्ता व संनिधाता का मासिक वेतन २००० पण था। मंत्रिमंडल के इतर सभासद, विभागीय अध्यक्ष, सैन्याधिकारी नायक व अंतपाल १००० पण पाते थे। हस्तिदल, स्थलदल व घोड़ादल के अधिकारियों को ६६६$\frac{2}{3}$ पण मिलता था व सामान्य सिपाही को ४१$\frac{2}{3}$ पण।

ऊपर दिया हुआ मौर्य-शासन का वर्णन प्रायः अशोक-पूर्वकालीन है। अब हम अशोक ने उसमें कौन-कौन परिवर्तन किये इसकी चर्चा करेंगे (१) राजा, प्रजा का पिता है, इस सिद्धांत पर अशोक ने विषेश जोर दिया। वह अपने को प्रजा का पिता व अधिकारियों को धात्री (Midwives) मानता था। प्रजा का ऐहिक व पारलौकिक कल्याण संपादन करके ही राजा प्रजाऋण से मुक्त होता है। ऐसी उसकी धारणा थी। (२) अहिंसा में दृढ़ विश्वास होने के कारण उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्धनीति का त्याग कर दिया। भगवान बुद्ध ने शाक्य व कोलियों में युद्ध रोकने का सफल प्रयत्न किया था किन्तु युद्ध के विरुद्ध उन्होंने आवाज नहीं उठायी थी। ई० पू० चौथी सदी का जैनधर्मीय नन्द राजा महापद्म लड़ाई से परावृत्त न हो सका था। तत्कालीन संसार में अत्यन्त प्रबल सेना का नायक होते हुए भी अशोक ने कलिंगयुद्ध के बाद युद्धनीति का त्याग किया, यह उसके लिए भूषणास्पद है। यदि वह चाहता,

---

१ ये पण चाँदी के थे या ताँबे के, यह नहीं दिया गया है। यदि वे ताँबे के होंगे, तो मुख्यमंत्री का वेतन २५० चाँदी के पणों के बराबर होगा जिनकी क्रयशक्ति युद्धपूर्वकाल के ६०० रुपयों के बराबर होगी। यदि वे चाँदी के पण होंगे, तो मुख्यमंत्री का वेतन युद्धपूर्वकालीन ९६०० रुपयों के बराबर होगा।

तो चोल, पांड्य, केरल इत्यादि स्वतन्त्र दक्षिणी राज्यों को सैन्य की शक्ति से आतंकित कर सकता था। (३) आलस्य का त्याग करके राजा को हमेशा उद्योग-व्यापृत होना चाहिए, यह भी अशोक का सिद्धांत था। सतत राज्य-शासन में व्यग्र रहते हुए भी उसकी कभी यह धारणा न होती थी कि मैंने पर्याप्त कार्य किया है। (४) उसने अपने अधिकारियों को यह आदेश दिया था कि वे तीन या पाँच सालों में एक दफे दौरे पर जा कर प्रजा की स्थिति का अवलोकन करें व उनकी शिकायतें (कठिनाइयाँ) सुनें। विकेन्द्रीकरण की नीति से यदि शासन में विषमता उत्पन्न हुई हो, तो उसका भी निराकरण दौरा करके किया जा सकता था। (५) अहिंसा का पुजारी होते हुए भी अशोक ने मृत्यु-दंड को बन्द नहीं किया। उसने केवल मृत्युदंडित कैदियों को तीन दिनों की रियायत देने की प्रथा शुरू की जिसमें वे धर्मचिंतन में अधिक काल बिताएँ व उनके रिश्तेदार उनके पारलौकिक-कल्याण के लिए कुछ अधिक दान-धर्म करें। (६) नैतिक उन्नति व धार्मिक प्रगति बढ़ाने के लिए उसने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की। (७) किन्तु अशोक केवल नैतिक प्रगति से संतुष्ट नहीं था। वह प्रजा की आर्थिक प्रगति भी चाहता था। इसलिए उसने रास्ते, कुएँ, नहर इत्यादि के बारे में भी विशेष ध्यान दिया। (८) राजा की जवाबदेही केवल मानवी प्रजा से संबद्ध है ऐसी उसकी धारणा नहीं थी। पशुकल्याण के लिए भी उसको कार्य करना आवश्यक था, ऐसा उसका मत था। इसलिए उसने कई पशु-चिकित्सालय खोले थे। अशोक केवल ध्येयवादी नहीं था, व्यवहार से क्या सफल हो सकेगा, इसका भी वह विचार करता था। इसलिए उसने प्राणिहत्या बंद नहीं की थी, केवल महीनों की पूर्णिमा, अमावस्या ऐसे पर्व के दिनों पर ही उस पर रोक लगायी थी।

मौर्य शासन-पद्धति सर्वरूपेणकल्याण के ध्येय से प्रभावित थी। सर्व वर्गों की प्रजा का सर्वांगीण हित साध्य करना उसका ध्येय था। विविध वर्गों के विरुद्ध हितसंबंधों का समन्वय करने में वह व्यस्त रहती थी। यदि मजदूर ठीक तरह से व उचित मात्रा में काम न करे, या चोरी करे, या कच्चे माल का नाश करे, तो उसको दंड मिलता था। किन्तु यदि मजदूरों के दोष के बिना काम बंद रहे तो मालिक को मजदूरी देनी पड़ती थी (अ. शा. ३.१४)। व्यापारी नफा बढ़ाने के लिए माल की कीमत नहीं बढ़ा सकते थे। किन्तु कच्चे माल की कीमत, उत्पादन खर्च, चुंगी इत्यादि पर ध्यान देकर सरकार चीजों का दाम

निश्चित करती थी। यदि व्यापारी जाली तोल या नाप काम में लावें, तो उनको कड़ा दंड दिया जाता था (अ. शा. २.१६ व १६ । बनावटी माल बेचना भी अपराध था (अ. शा. ६-२) । किन्तु व्यापारियों की सुविधाओं के लिए सरकार रास्ते ठीक रखती थी, वहाँ डकैती न होने देती थी, यदि हो तो क्षातिपूर्ति करती थी। जमीन-महसूल लेने वाली सरकार बाँध, नहर, इत्यादि का भी प्रबन्ध करती थी। यदि ग्रामनिवासी लोककल्याणकारी कार्य करें, तो उनको कुछ सालों तक करों में रियायत मिलती थी। रुग्णशाला, बाँध इत्यादि लोकोपयोगी कार्यों के लिए लकड़ी, पत्थर इत्यादि चीज़ें मुफ्त दी जाती थीं।

मौर्य-शासन अनाथ व दरिद्र की भी मदद करता था। अनाथ बालक, वृद्ध व रुग्णों को सरकार कुछ द्रव्य सहाय्य देती थी। गर्भवती स्त्रियों को भी, यदि आवश्यकता हो, तो सहायता दी जाती थी (अ. शा. २ १)। पालक के विदेश जाने से जो स्त्रियाँ असहाय होती थीं, उनको सूत कातने के लिए रुई दी जाती थी, व सूत मिलने के बाद उनको उसका दाम दिया जाता था। अपने कुटुम्ब के पोषण का उचित प्रबन्ध न करने वाले को संन्यास आश्रम लेने की इजाजत न मिलती थी (अ. शा. २. १)।

सरकार सार्वजनिक आरोग्य के लिए काफी सतर्क रहती थी। प्रत्येक घर के मालिक को नाली के पानी के लिए व कूड़ा रखने के लिए उचित प्रबन्ध करना आवश्यक था (अ. शा ३.८)। रास्ते पर कूड़ा, गन्दी चीज या मृत पशु का शरीर फेंक देना अपराध था (अ. शा. २.३५)। अन्न, तेल, घी, नमक, औषध इत्यादि में बनावट करने के लिए दण्ड दिया जाता था (अ. शा. ४.२)। संक्रामक रोग रोकने के लिए पूरा प्रबन्ध किया जाता था। अकाल के समय सरकारी गल्ले का उपयोग किया जाता था, जिसमें अकाल-ग्रस्त गरीबों को पर्याप्त सहायता मिल सके (अ. शा. ४.३)। गाँव या नगर को आग या बाढ़ से बचाने के लिए सरकार सतर्क रहती थी (अ. शा. ४.३)।

प्रजा की नैतिक उन्नति में बाधा न हो, इसलिए सरकार जुएबाजी, मद्यपान व वेश्यागमन पर नियन्त्रण रखती थी। शिक्षण व शास्त्रों की उन्नति के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था।

इन कार्यों के संपादन के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता थी। इसलिए सरकार हमेशा अपनी आमदनी बढ़ाने की कोशिश करती रहती थी। खानों,

जंगलों व कारखानों से आय बढ़ाई जाती थी, वैसे ही उर्वरा जमीन को कृषियोग्य करने से भी आमदनी बढ़ाई जाती थी। आर्थिक प्रगति के लिए प्रस्तुत भारत सरकार के समान मौर्य सरकार अपने निजी प्रयत्न पर तथा उद्योगपतियों के काम पर निर्भर रहती थी। उसकी आर्थिक नीति आजकल के समान 'संमिश्रित' (Mixed economy) थी। मजदूरों की भलाई के लिए उद्योगपतियों पर कुछ रोकें भी लगाई जाती थीं।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि मौर्य शासन-पद्धति न केवल कार्यक्षम थी, किंतु उस युग के मानदंड से पुरोगामी भी थी। प्राचीन इतिहास में मौर्य-कालीन शासन पद्धति दूसरी शासन-पद्धतियों से अधिक कार्यक्षम थी।

अध्याय १६

राज्यशासन का ऐतिहासिक सर्वेक्षण : भाग २

[मौर्योत्तर काल]

●

खंड १

(अंधकार युग : ई० पू० २०० से ३०० ई० तक)

ई० पू० २०० से ३०० ई० तक हिन्दुस्तान में अनेक राज्य हुए किंतु उनकी शासन-पद्धति के संबंध में हमें थोड़ा ही ज्ञान है। इस काल-खंड में अनेक एतद्देशीय राजवंश राज्य करते थे जैसे ऐल, शुंग, कण्व व सातवाहन। अनेक विदेशी राज्य भी थे जैसे इंडो-बॉक्ट्रियन, इंडो-सीथियन, इंडो-पार्थियन व कुषाण। विदेशी राजा थोड़े ही समय में हिन्दू संस्कृति से प्रभावित हो जाते थे। इसलिए उनकी शासन-पद्धति हिंदू शासन-पद्धति से विशेष भिन्न नहीं थी। रुद्रदामन् के गिरिनार शिलालेख से हमें हिंदू संस्कृति के प्रभाव की रूपरेखा विदित होती है। इस लेख में वह शक राजा अभिमान से कहता है कि उसने शब्दार्थन्यायादि विद्याओं का अध्ययन किया था व 'स्फुटलघुकांतशब्दयुक्त' संस्कृत गद्य व पद्य लिख सकता था। उसके अधिकारी अमात्यों के गुणों से विभूषित थे और वह स्वयं प्रजा द्वारा निर्वाचित हुआ था। इससे स्पष्ट है कि विदेशी होते हुए भी रुद्रदामन् ने हिंदू नीतिशास्त्र के सिद्धांत अपनाये थे और वह इसलिए प्रत्नशील रहता था कि उसकी शासन-प्रणाली हिंदू सिद्धांतों के अनुकूल हो।

हिंदू शासन-प्रणाली पर विदेशियों का भी थोड़ा असर पड़ा था। विशाल साम्राज्य के अधिपति होते हुए भी चंद्रगुप्त, अशोक इत्यादि ने अपने लिए केवल राजा की पदवी ली; किंतु कनिष्क अपने को 'महाराजाधिराज देवपुत्र' कहता था। अशोक की पत्नी कारुवाकी की पदवी केवल रानी थी किंतु शकों में

रानियों को महादेवी, अग्रमहिषी इत्यादि पदवियाँ दी जाती थीं। कुषाण राजाओं की देवपुत्र पदवी यह दिखाती है कि इस समय राजा के देवत्व की कल्पना दृढ़मूल होने लगी थी। मथुरा में कुषाणों का एक देवकुल भी था, जिसमें मृत राजाओं की बड़ी मूर्तियाँ रखी जाती थीं व संभवतः पूजी भी जाती थीं। यह प्रथा इस समय रोमन साम्राज्य में भी प्रादुर्भूत हुई थी। इस काल-खंड में लिखी हुई मनुस्मृति में राजा का वर्णन 'महती देवता' कहकर किया गया है।

सीथियन शासन-प्रणाली में द्वैराज्य की पद्धति विशेष लोकप्रिय थी। हिन्दुस्थान में भी वह अज्ञात न थी (अध्याय २ देखिए); किंतु वह बहुत विरल थी। सीथियन व पार्थियन राजवंशों में वह दृढ़मूल थी। स्पलिरिसस् व अॅझेस्, हगान व हगामश, गोंडोफर्निस व गॅड्, मिलकर द्वैराज्य पद्धति से राज्य करते थे। पश्चिम हिंदुस्थान के सीथियन वंश में महाक्षत्रप की वृद्धावस्था में युवराज क्षत्रप बनता था, व उसे भी अपने नाम से सिक्के निकालने का अधिकार रहता था, द्वैराज्य में युवराज की अपेक्षा युवक शासकों को अधिक अधिकार थे, यह इससे सिद्ध होता है।

इस कालखंड में राजा के अधिकार बढ़ रहे थे। उन पर नियंत्रण करने के लिए वैदिक युग की सभा या समिति जैसी कोई संस्था न थी। केन्द्र में राजा व उसके मंत्रियों के हाथों में सत्ता थी व मंत्री राजा के प्रति जिम्मेदार थे। सीथियन शासन-पद्धति में मंत्रियों के मतिसचिव व कर्मसचिव ऐसे दो वर्ग थे। उनके कार्य-क्षेत्र में क्या भेद था, यह मालूम नहीं है। मंत्रियों में से केवल कोष्ठागारिक व भांडागारिक का उल्लेख अभिलेखों में मिलता है[1]। दूसरे पदों के भी मंत्री अवश्य होंगे, किंतु उनका उल्लेख नहीं मिलता। शासनकार्यालय यथापूर्व काम करता था व केन्द्रीय सरकार के आदेश प्रांतीय सरकार व जिलाधीशों को पहुँचाता था। प्रांताधिकारी अपनी समस्याएँ व कठिनाइयाँ केन्द्रीय सरकार के पास भेजते थे। उसपर विचार होने के बाद केन्द्रीय सरकार के आदेश शासनालय प्रांताधिपादिकों के पास भेजता था।

प्रांत, जिले व नगर की शासन-पद्धति यथापूर्व थी। किन्तु विदेशी राजाओं ने अधिकारियों के पदों के नाम बदल दिये थे। सेनापति को ग्रीक-राज्य में स्ट्रॅटेगॉस व प्रांताधिपों को सीथियन-राज्य में क्षत्रप कहते थे। क्षत्रपों के ऊपर महाक्षत्रप होता था। ये नये नाम हिन्दुस्तान में रूढ़ नहीं हो सके।

1 एपि. इंडिका, भाग २०. ३८; भांडारकर की सूची, नं. ११४१

इस कालखंड में शासन-यंत्र में विशेष परिवर्तन नहीं हुए। उच्चाधिकारियों को महामात्र व रज्जुक ही कहते थे। सातवाहनों के राज्य में नासिक में एक श्रमणमहामात्र था। शुंगों के राज्य में मध्य-भारत में और चुटु सातकार्णियों के राज्य में कर्णाटक में रज्जुक नामक अधिकारी विद्यमान थे[1]। अमात्यों में से ही उच्चपद के अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। महाक्षत्रप नहपाण का मंत्री अयम[2], व रुद्रदामन् का सौराष्ट्र का प्रांताधिपति कुपलैप[3] दोनों ही अमात्य थे। सातवाहनों के राज्य में राजा के सेक्रेटरी व कोष के अधिकारी अमात्य थे[4]। गोवर्धन व मामल जिले के अधिकारी भी अमात्य ही थे[5]। बनवासी में राजा के द्वारा जिस तालाब व विहार का दान किया गया था, उसका निर्माण करने का काम अमात्य खदसति को सुपुर्द किया गया था[6]। स्थपति (Engineer) होते हुये भी वह अमात्य श्रेणी में था। मौर्यकाल में अमात्य जिस तरह सर्व प्रकार के पदों पर नियुक्त किये जाते थे वैसी ही स्थिति अब भी थी।

प्रांत का निर्देश राष्ट्र या देश से होता था व जिलों का आहार व विषय से। किन्तु इस विषय में एक ही पद्धति रूढ़ नहीं थी। एक लेख में जिसका सातवाहनी आहार नाम से उल्लेख है, उसी का उल्लेख दूसरे में सातवाहनी राष्ट्र के नाम से किया गया है[7]। प्रांतपति को राष्ट्रपति या राष्ट्रिक कहते थे। वह कभी-कभी अमात्यों में से चुना जाता था व कभी-कभी सेनापतियों में से। क्षत्रपों के राज्य में सौराष्ट्र का प्रांताधिप कुलैप अमात्य था व मालवा का प्रांताधिप श्रीधर महादंडनायक। जिलाधीशों के पद का नाम नहीं मिलता है। उनका उल्लेख अमात्य शब्द से किया गया है। किन्तु वह शब्द उस श्रेणी को निर्दिष्ट करता था जिस नौकर-श्रेणी के वे सदस्य थे, न कि जिलाधीश के पद को। अमात्य श्रेणी के अधिकारियों को प्रायः सैनिक-शिक्षा भी दी जाती थी।

---

१ ल्यूडर्स की सूची, नं. ४१५. ११९५

२ वही, नं. ११७४

३ वही, नं. ९६५

४ वही, नं. ११४७

५ वही, न. ११०५, ११२५

६ वही, नं. ११८५

७ मायकडोनी लेख, ए. इंडि. १४.१५५

इस समय भी शासन-प्रणाली का सबसे छोटा विभाग गाँव था। उसके मुखिया को ग्रामणी, ग्रामिक, ग्रामेयक या ग्रामयोजक कहते थे। ग्राम-महत्तरों की एक समिति शासनकार्य में उसे सहायता देती थी।

रुद्रदामन् के शिलालेख में तीन प्रकार के करों का उल्लेख है—भाग, शुल्क व बलि। प्रणय (शक्ति की भेंट) व विष्टि (बेगारी) से जुल्मी राजा कभी-कभी प्रजा को सताते थे। कर नकद या धान्य के रूप में दिये जाते थे। सैन्य व राजमहल के लिए आमदनी का बड़ा भाग खर्च किया जाता था। किंतु मंदिर व विहार के प्रति दान में व विद्वानों की सहायता में पर्याप्त खर्च किया जाता था जैसा कि नहपाण के दामाद उषवदात के अभिलेखों से विदित होता है।

मौर्य-साम्राज्य के पश्चात् इस कालखंड में गणतंत्रों का फिर उदय हो गया। सिक्कों से पता चलता है कि ई० पू० १५० के लगभग, कुणिंद, यौधेय, अर्जुनायन व मालव गणतंत्रों ने स्वातंत्र्य प्राप्त किया। किन्तु गणतंत्रों के अध्यक्ष, मंत्री, सेनापति इत्यादि अधिकारी अनुवंशिक होने लगे थे। नांदसा यूप लेख से प्रमाणित होता है कि जिस श्रीसोम ने मालवों का शकों के पंजे से छुटकारा किया था उसका वंश तीन पीढ़ियों तक[1] राज्यशकट की धुरी चला रहा था। कुछ गणतंत्रों के अध्यक्ष महाराज भी कहलाने लगे थे, जैसे कि मध्य भारत के सनकानीकों के अध्यक्ष। दूसरे गणतंत्रों में, जैसे कि मालवों में—महाराज पदवी अध्यक्ष को न दी जाती थी, किन्तु उसका पद अनुवंशिक बन गया था। गणतंत्रों के अध्यक्षों को अपने नाम से सिक्के निकालने की इजाजत नहीं थी। मालव गण व यौधेय गण के सिक्कों पर 'मालवानां जयः', 'यौधेयगणस्य जयः', ऐसे अभिलेख मिलते हैं, जो सिद्ध करते हैं कि सिक्के गण के नाम से निकाले जाते थे न कि उसके अध्यक्ष के नाम से।

इस कालखंड की शासन-पद्धति का वर्णन अधूरा है। कारण यह है कि इस समय की आधारभूत शिलालेखादि सामग्री बहुत अपर्याप्त है। खेद की बात है कि इस समय के किसी राजा ने अशोक के लेखों के समान लेख नहीं खुदवाये, न किसी ग्रंथकार ने अर्थशास्त्र के समान ग्रन्थ ही लिखा। इस समय मेगस्थनीज् के समान कोई यात्री नहीं आया, जिसने शासन-पद्धति का वर्णन लिख छोड़ा हो। किन्तु हम यह अनुमान कर सकते हैं कि सातवाहन या कुषाण ऐसे विशाल

---

१ समुद्धृत्य पितृपैतामहीं धुरम्। नांदसा लेख, एपि. इंडि. २७.२५२

साम्राज्य की शासन-पद्धति मौर्यों की पद्धति से बहुत अंशों में मिलती-जुलती ही होगी तथा इस समय भी मौर्यकाल के समान लोककल्याण-कार्य के लिए काफी पैसा खर्च किया जाता होगा।

खंड २

गुप्तयुग की शासन-पद्धति

(३०० ई० से ६०० ई० तक)

अब हम गुप्तकालीन शासन-पद्धति का वर्णन करेंगे। इस कार्य के लिए हमने मुख्यतया गुप्तों के शिलालेखों का उपयोग किया है। यथास्थान समकालीन इतर राजवंशों के अभिलेखों का उपयोग भी किया गया है।

गणतन्त्र

इस कालखंड में गणतंत्रों का धीरे-धीरे लोप हो गया। पंजाब व राजस्थान में पहले के समान इस समय भी कुणिंद, यौधेय, अर्जुनायन, मालव इत्यादि गण थे। प्रार्जुन, सनकानीक, काक व अभीर गणतंत्र मध्य-भारत में थे। वे आकार में बहुत छोटे थे। लिच्छवियों का प्राचीन गणतन्त्र इस समय नृपतन्त्र बन गया था। गुप्त-साम्राज्य में मिल जाने से उसका ३५० ई० के लगभग अन्त हो गया। यौधेय गण का अध्यक्ष ही सेनापति रहता था। उसका निर्वाचन होता, किन्तु उसको 'महाराज' पदवी से पुकारते थे[१]। किसी भी गणतत्र का अध्यक्ष अपने नाम से सिक्के नहीं चला सकता था।

लगभग ४०० ई० समय गणतंत्रों का अन्त हो गया। इस घटना के कारण छठे अध्याय के अंत में दिये गये हैं।

नृपतंत्र

गणतंत्रों का लोप होने के कारण प्रायः नृपतंत्र ही इस कालखंड में प्रचलित था। सम्राट् के लिए महाराजाधिराज पदवी लोकप्रिय हुई। यह पदवी कुषाणों की राजातिराज पदवी से संबंधित थी। गुप्तवंश के गुप्त व घटोत्कच अपने

---

१ यौधेयगणपुरस्कृतस्य महाराजमहासेनापतेः...। कॉर्पस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, भाग ३, २५२।

को महाराज कहते थे। प्रथम चन्द्रगुप्त ने जब अनुगंग-प्रयाग-साकेत देश मगध में मिलाया, तब उसने इस पदवी का उपयोग करना आरंभ किया। पहले तीन-चार मौखरि राजा छोटे थे, इसलिए महाराज शब्द से उल्लिखित होते थे। जब ईशान वर्मा के समय मौखरि-राज्य विस्तीर्ण व बलशाली हुआ, तब मौखरि-राजा महाराजाधिराज पदवी लेने लगे। दक्षिण हिन्दुस्तान में यह पदवी रूढ़ नहीं हुई। केवल पल्लववंश के कुछ राजा महाराजाधिराज या धर्ममहा- राजाधिराज पदवी लेते थे।

राजा के देवत्व की कल्पना इस कालखंड में अधिकाधिक लोकप्रिय हुई। 'लोकधाम्नः देवस्य' माने भूतलनिवासी देव कहकर समुद्रगुप्त का वर्णन किया गया है[1] व 'लोकपाल' माने दैवी संरक्षक कहकर कदंब व सालकासन राजाओं का[2]। किन्तु देवत्व के कारण राजा को निरंकुश होने का अधिकार प्राप्त होता है, ऐसी धारणा नहीं थी। अपने में देवत्व होते हुए भी राजा के लिए वृद्ध-सेवा करना व योग्य-शिक्षा पाना अत्यंत आवश्यक था। शिलालेखों में अधार्मिक, प्रजापीड़क, व अहंमन्य राजाओं की कड़ी आलोचना की गयी है[3]। राजा की शिक्षा के बारे में गुप्त-शिलालेखों से कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं होता, किंतु कदंब-अभिलेखों में कहा गया है कि यह आवश्यक है कि राजा कसरत करके शरीर सुदृढ़ बनावे, अश्वारोहण, गजारोहण इत्यादि में प्रावीण्य प्राप्त करे, व शास्त्रों के अध्ययन से अपनी बुद्धि को प्रगल्भ बनावे व ज्ञान को विशाल करे[4]। इस तरह से शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात् प्रायः ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाते थे। दूसरे राजपुत्रों की प्रांतों के राज्यपाल-पद पर नियुक्ति होती थी। कुमारगुप्त का संभवतः छोटा भाई गोविन्दगुप्त मालवा का राज्यपाल था।

---

१ कॉर्पस, इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, ३.८

२ इ. अँ. ५. १५., एपि. इं. ८. २३४

३ आविर्भूतावलेपैरविनयपटुभिर्लंघिताचारमार्गैः ॥
मोहादैदंयुगीनैरपशुभमतिभिः पीड्यमाना नरेन्द्रैः कॉ. इ. इं., ३. १४५

४ अनेकशास्त्रार्थतत्वविज्ञान विवेचनविनिविष्टविशालोदारमतिः हस्त्यश्वा-रोहण प्रहरणादिष्पु व्यायामिकीषु भूमिषु यथावत्कृतश्रमः ।
इ. अँ., ७. ३७.

अनेक राजपुत्रों में राज्य बाँटने की प्रथा को राज्यशास्त्री पसन्द नहीं करते थे। मालूम पड़ता है कि स्कंदगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य का विभाजन हुआ व वाकाटक प्रथम प्रवरसेन के पश्चात् वाकाटक-साम्राज्य का। किन्तु ऐसा होने से दोनों साम्राज्य कमजोर बन गये।

गुप्त साम्राज्य में युवराज का स्वतंत्र शासनालय रहता था। अपने पिता की संमति से वह प्रांतपालों को भी आदेश भेज सकता था, ऐसा प्रतीत होता है। राजा की वृद्धावस्था में युवराज को ही शासन-संचालन की जिम्मेदारी लेनी पड़ती थी, जैसे कि स्कंदगुप्त को प्रथम कुमारगुप्त के राज्यकाल के अंत में करना पड़ा।

रानियाँ व राजकन्याएँ राज्यसंचालन में हाथ बँटाती हुई नहीं दीखतीं। प्रथम चन्द्रगुप्त की रानी कुमारदेवी संभवतः सहाधिकारिणी (Regnant Queen) थी। किन्तु यद्यपि उसका नाम पति के नाम के साथ सिक्कों पर आता है, तथापि वह प्रत्यक्ष शासनकार्य करती हुई नहीं दीखती है। द्वितीय चन्द्रगुप्त की रानी भी ऐसा शासनकार्य नहीं करती थी। किंतु राजा नाबालिग हो, तो विधवा राजमाता राजसंचालन का भार सँभालती थी, जैसे वाकाटक-वंशीय रानी प्रभावती गुप्ता ने किया था।

राजा के अधिकार

शासन-विषयक, सेना-विषयक व न्याय-विषयक सब अधिकार राजा में केंद्रित थे। उसकी सहायता करने के लिए एक मंत्रिमंडल अवश्य था, किंतु अंतिम निर्णय राजा लेता था। महत्व के युद्धों में राजा ही सेनापतित्व करता था, जैसे कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण-विजय में, चन्द्रगुप्त ने शकों के साथ लड़ाई में व स्कन्दगुप्त ने पुष्यमित्रों के विद्रोह के समय किया था। बड़े व महत्व के स्थानों पर राजा ही नियुक्तियाँ करता था व वे अधिकारी उसी के प्रति जिम्मेदार रहते थे। वह केन्द्रीय शासनालय की देखभाल करता था व प्रांताधिपों को आदेश भेजता था। वही उत्तम राजसंचालन के लिए या उत्कृष्ट ग्रंथ या कला कार्य के लिए पारितोषिक या पदवी देता था। इस प्रकार सब सेना अपने हाथों में रखते हुए भी राजा प्रत्यक्ष व्यवहार में निरंकुश शासक न था। प्रत्यक्ष व्यवहार में मंत्रिमंडल व उच्चाधिकारियों के हाथों में पर्याप्त सत्ता रहती थी। वे प्रजा के प्रति जिम्मेदार न थे, तथापि यह अपेक्षा की जाती थी कि वे राजा पर पर्याप्त

नियंत्रण रखें, यदि वह परंपरागत आचारों या विधिनियमों के विरुद्ध आचरण करे। ग्राम-पंचायतों व नगर-सभा को भी काफी अधिकार सुपुर्द किये गये थे। विदेशनीति निर्धारित करने व युद्ध प्रारंभ करने को छोड़कर और सब शासन-विषयक व्यवस्थाएँ वे कर सकती थीं। इन स्वयं-शासित स्थानीय संस्थाओं में गैरसरकारी प्रतिनिधिओं का प्राबल्य था। केन्द्र में वेदकालीन सभा या समिति के समान कोई लोकपक्षीय पार्लमेंट न थी, तथापि स्थानीय संस्थाओं के हाथों में पर्याप्त अधिकार होने के कारण प्रजा को विशेष कठिनाइयाँ नहीं झेलनी पड़ती थीं। इस काल की स्मृतियाँ व अभिलेख राजा को प्रजाहित व प्रजापालन के निमित्त सदैव प्रयत्नशील रहने के लिए सचेत करते हैं[1]। राजा प्रायः इस उपदेश का पालन करते थे। चीनी यात्री फाहियान ने कहा है कि (गुप्त साम्राज्य में) लोग सुखी व समृद्ध थे व सरकारी जुल्म के विषय में प्रायः उनकी शिकायतें नहीं रहती थीं[2]।

केंद्रीय सरकार

केन्द्रीय सरकार के विषय में हमें गुप्त-अभिलेखों से विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। कदंब, पल्लव व वाकाटक शासन-प्रणाली में शासनालय का एक सर्वाध्यक्ष रहता था। अनुमानतः वैसी ही प्रथा गुप्त-साम्राज्य में भी रही होगी। शासनालय में अनेक विभाग रहते थे। प्रत्येक की अपनी मुद्रा या मुहर रहती थी, जिससे संदेश अंकित किये जाते थे। कुमारामात्य, दंडनायक, बलाधिकृत, युवराज इत्यादि के दफ्तरों की मुहरें हमें प्राप्त हुई हैं। मामूली बातों का निर्णय अकेला मंत्री करता था। महत्व के मामले मंत्रिमंडल के सामने में रक्खे जाते थे, जिसका अध्यक्ष राजा था। सरकारी आज्ञाएँ प्रायः लिपिबद्ध रहती थीं। यदि राजा दौरे पर हो, तो उसे कभी-कभी मौखिक आदेश देने पड़ते थे। राजा का सेक्रेटरी उनको लिपिबद्ध करके केन्द्रीय शासनालय को भेजता था

---

१ प्रजासंरंजनपरिपालनोद्योगसंततसमदीक्षितस्य। इ. अॅ. ५. ३१, ए. इ. ७. २३५ भी देखिए।

२ लेग्गे—ए रेकर्ड आफ़ बुद्धिस्ट किंग्डम, अध्याय १६
स्कंदगुप्त का जूनागढ़-शिलालेख, (कॉ. इ. इं. ३. ५८) श्लोक ६, २१. ३.

'प्राइवेट सेक्रेटरी' के लिए जो 'रहसि नियुक्त' शब्द रूढ़ था, वह बिल्कुल अँग्रेजी शब्द के समानार्थक है। राजा से मुलाकात के लिए जो लोग आते थे उनको प्रतीहारी राजा के सामने प्रवृष्ट करता था।

सेना-विभाग का विशेष महत्व था। वह राजा या युवराज के अधीन रहता था। सैन्य में अनेक महासेनापति रहते थे, जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहकर सैन्य-संचालन में राजा की मदद करते थे। उनके नीचे महादण्ड नायक रहते थे। हो सकता है कि उनका दर्जा आजकल के लेफ्टीनेन्ट जनरल की बराबरी का हो। सैन्य के रण-भांडागारिक (Quarter masters) भी थे; उनकी मुहरें मिली हैं। सैन्य में पादचारी सैनिकदल, अश्वदल व हस्तिदल होते थे। अश्वदल के अधिकारियों को अश्वपति व महाश्वपति तथा हस्तिदल के अधिकारियों को पीलुपति व महापीलुपति कहते थे। सिपाही झिलम पहनते थे, व धनुष, बाण, तलवार, भाला इत्यादि शस्त्रों से लड़ते थे। अभिलेखों में चिकित्सापथक (Ambulance corps) का उल्लेख नहीं मिलता, मगर वह सैन्य में जरूर रहता होगा। गुप्तकालीन सेना विभाग स्थूल रूप में मौर्यकालीन सेनाविभाग के समान ही था।

विदेश-विभाग के मंत्री का नाम गुप्तकाल में महासंधिविग्राहक था। वह सेना-विभाग की सलाह से अपना काम करता था। प्रथम चन्द्रगुप्त व समुद्रगुप्त के समय जब पड़ोसी राजाओं पर आक्रमण की नीति अपनाई गयी थी, तब उसका कार्य विशेष जिम्मेदारी का था। किन राजाओं के राज्य साम्राज्य में मिलाना आवश्यक है, किनको करद मांडलिकों के रूप में रखना इष्ट होगा, इत्यादि विषयों के निर्णय विदेशमंत्री, राजा व सेनापति से विचार-विमर्श के बाद करते थे। महासंधिविग्राहक के अन्दर अनेक संधिविग्राहक काम करते थे।

पुलिस-विभाग के मुख्याधिकारी के पद का नाम निर्दिष्ट नहीं किया गया है। पुलिस सुपरिंटेंडेंट के पद के अधिकारी शायद दंडपाशिक कहे जाते थे। उनमें से अनेक की मुहरें वैशाली में मिली हैं। सिपाही चाट व भट नामों से विदित थे।

माल-विभाग कर-वसूली का काम करता था। कुछ कर नकद में व कुछ अन्नधान्यादि के रूप में दिये जाते थे। अनेक जगहों पर सरकारी गल्ले का संग्रह करना आवश्यक हो जाता था। माल-विभाग ही जंगलों व खानों का इन्तजाम करता होगा। ग्राम व नगरों की सरहद में जो परती जमीन थी, उस पर

स्वामित्व ग्राम या नगर का होता था, न कि केन्द्रीय या प्रांतीय सरकार का।

न्याय-विभाग का निर्देश शिलालेखों में नहीं मिलता। नारद व बृहस्पति स्मृतियाँ, जो इस काल-विभाग में लिखीगयी थीं, यह स्पष्ट दिखाती हैं कि इस समय अनेक सरकारी व पंचायती अदालतें (न्यायालय) अच्छी तरह से न्यायदान करती थीं। प्रार्थी (complainant) किस तरह आवेदन-पत्र (Plaint) भेजता था, उसका प्रतिपक्षी उसे कैसे उत्तर देता था, गवाही के नियम कैसे थे, पुनर्निर्णय कब नहीं किया जाता था इत्यादि विषयों पर नारद और बृहस्पति के नियम अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत व स्पष्ट हैं। राजधानी में मुख्यन्यायाधीश (प्राड्विवाक काम करता था; प्रांतों व नगरों के अधिकारी उसके अधीन काम करते थे। अदालत के लिए इस समय न्याया-धिकरण, धर्माधिकरण, धर्मशासनाधिकरण इत्यादि शब्द रूढ़ थे। नालन्दा व वैशाली में उनकी अनेक मोहरें मिली हैं।

पुरोधा या पंडित धर्मविभाग का मुख्य था। उसका निर्देश अभिलेखों में नहीं आता। किन्तु उसके सहायक अधिकारी का उल्लेख विनय-स्थिति-स्थापक नाम से किया जाता था, जिसकी मोहरें मिली हैं। अशोक के धर्ममहामात्रों के समान विनय-स्थिति-स्थापक धार्मिक विधि, नीति-नियम पालन, धर्मादाय, मंदिर-व्यवस्था इत्यादि विषयों की देख-भाल करते थे। शिक्षण-विभाग भी शायद उनके अधिकार में रहता होगा।

वाणिज्य-उद्योग-विभाग पर भी एक मंत्री था। उसके नाम का निर्देश अभिलेखों में नहीं मिलता है। किन्तु इस विभाग के अधिकारी द्रांगिक अनेक अभिलेखों में निर्दिष्ट हुए हैं, रास्ते, धर्मशाला, नौकानयन इत्यादि विषय भी इस विभाग की जिम्मेदारी में थे।

उच्च श्रेणियों के अधिकारी

आई० सी० यस० या आई० ए० यस० के समान गुप्त-साम्राज्य में भी उच्चाधिकारियों की एक अलग श्रेणी थी। इन अधिकारियों के पद का नाम कुमारामात्य था। कुछ विद्वानों का यह मत था कि कुमारामात्य राजकुमारों के मंत्री थे। मगर वैसी स्थिति नहीं थी। समुद्रगुप्त का विदेशमंत्री हरिषेण व प्रथम कुमारगुप्त के मंत्री शिखरस्वामी व पृथ्वीषेण निस्संशय सम्राट् के दफ्तर में काम करते थे। तथापि उनकी पदवी कुमारामात्य थी। पुण्ड्रवर्धन विषय के

अधिपति (जिलाधीश) न सम्राट् के, न राजकुमार के दफ्तर में काम करते थे, तथापि वे भी कुमारामात्य कहलाते थे। महादण्डनायक भी कभी-कभी कुमारामात्य पदवी के भाजन थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि कुमारामात्य-पद के अधिकारी कभी जिलाधीश थे, कभी सचिव; आगे चलकर तरक्की पाकर वे कभी सेनापति, कभी मंत्री, कभी मुख्यमंत्री बन जाते थे। जैसा कि अमात्यों के विषय में मौर्यों व सातवाहनों के साम्राज्यों में होता था। इन अधिकारियों के पद का नाम पूर्वकाल के समान अमात्य होने के बजाय कुमारामात्य क्यों हुआ, यह कहना कठिन है। नौकरी के शुरू से ही (जब वे कुमार या तरुण थे) वे अमात्य-पद पर नियुक्त किये जाते थे, न कि किसी दूसरे नीचे पद पर। इसलिए शायद वे कुमारामात्य नाम से निर्दिष्ट किए जाते होंगे। मुहरों में युवराजपदीय-कुमारामात्य व परमभट्टारकपदीय कुमारामात्यों का उल्लेख मिलता है। जो कुमारामात्य युवराज या महाराजाधिराज के अधिकरण (दफ्तर) में काम करते थे, उनका निर्देश इन पदों से किया जाता था। कुमारामात्य नाम गुप्तकाल में सर्वत्र रूढ़ हुआ। इसका नतीजा यह हुआ कि गुप्तोत्तरकाल में उड़ीसा व काठियावाड़ में भी यह पदवी प्रयोग में आने लगी।

प्रांतों व जिलों का शासन

गुप्तकाल में प्रांत का नाम देश[1] या मण्डल था। सौराष्ट्र, मालवा व अंतर्वेदी (यमुना व गंगा के बीच का प्रदेश) इन तीन प्रांतों का निर्देश अभिलेखों में आया है। पंचाल, कोशल, काशी, मगध, वंग इत्यादि दूसरे प्रांत भी गुप्तसाम्राज्य में होंगे। जूनागढ़-शिलालेख से मालूम होता है कि स्वयम् सम्राट् प्रांतपालों की नियुक्ति करता था। अपने प्रांत में शान्ति-सुव्यवस्था रखना, कर वसूलना, परचक्र से प्रजा का संरक्षण करना, उनके प्रधान कार्य थे। बाँध, नहर, रास्ते इत्यादि का प्रबन्ध करके प्रजा को सुखी व समृद्धिशील करना उनका काम था। योग्य शासन से वे प्रजा में विश्वास उत्पन्न करते थे। प्रांताधिप अपने अधीन अधिकारियों की नियुक्ति कर पाते थे। केन्द्रीय सरकार के प्रायः सब विभागों की शाखाएँ प्रांतों में भी रहती थीं। मौर्यकाल के समान गुप्तकाल में प्रांतपालों का मंत्रिमण्डल रहता था या नहीं यह कहना कठिन है।

---

(१) सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तृन्। कॉ. इ. इ, ३. ६६

प्रांतों में अनेक भुक्तियाँ (कमिश्नरियाँ) रहती थीं। प्रत्येक भुक्ति में प्रायः दो या तीन विषय (जिले) होते थे। मगध-भुक्ति में गया व पाटलिपुत्र दो विषय थे। तीरभुक्ति में तिरहुत कमिश्नरी के सब जिले अन्तर्भूत थे। पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का विस्तार दिनाजपुर, बोगरा व राजशाही जिलों के बराबर था। भुक्तियों के मुख्याधिकारी 'उपरिक' थे, जिनकी नियुक्ति सम्राट् करता था। उपरिकों की कभी-कभी महराज पदवी होती थी। हो सकता कि ऐसे उपरिक भूतपूर्व राजवंश के वंशज होंगे। विषयपतियों की नियुक्ति कभी सम्राट करते थे कभी उपरिक। भुक्तियों व विषयों के अनेक अधिकरणों (दफ्तर) की मोहरें प्राप्त हुई हैं। विषय व ग्राम के बीच में कोई शासन-विभाग था या नहीं, यह मालूम नहीं है ऐसे विभाग मौर्यकाल व गुप्तोत्तरकाल में थे, इसलिए गुप्त-साम्राज्य में भी रहे होंगे। यह संयोग मात्र-ही समझा जायगा कि गुप्त-अभिलेखों में उनका उल्लेख नहीं हुआ है।

युक्त, नियुक्त, व्यापृत, अधिकृत 'इत्यादि नामों के अधिकारी विषयपति से नीचे के पदों पर काम करते थे, वे प्रांतों का ग्रामों से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता देते थे। सम्भवतः पुलिस, जंगल, वाणिज्य इत्यादि विभागों के अधिकारी विषयपतियों के देख-भाल में अपना काम करते थे।

दामोदरपुर के ताम्रपत्रों से विदित होता है कि विषयपति के अधिकरण (दफ्तर) का प्रबंध सुचारुरूप से होता था। वहाँ एक पुस्तपाल रहता था ; जो आदेश, लेख इत्यादि को ठीक तरह से सुरक्षित रखता था, जिसमें सरकार को विदित हो कि जमीन, मकान इत्यादि के मालिक कौन-कौन हैं व कौन-कौन अनाज बोए जा रहे हैं। परती जमीन के भी बेचने के समय केन्द्रीय सरकार को विषयपति के अधिकरण से पूछताछ करनी पड़ती थी। कभी-कभी ताम्रपत्रों पर विषय-अधिकरण की मुद्रा भी पायी जाती है। यह शायद इस कारण से होगा कि दान देने में उसकी सहमति का होना आवश्यक था।

गैरसरकारी ज़िलाबोर्ड

वैदिककाल के समान गुप्तकाल में केन्द्रीय सरकार में लोकप्रतिनिधियों की सभा या पार्लमेंट नहीं थी। लेकिन ज़िलों में ज़िलाबोर्ड के समान एक कमेटी रहती थी, जो गुप्तकाल का एक नया सुधार माना जा सकता है। इस

ज़िलाबोर्ड में प्रथम-श्रेष्ठी, प्रथम-सार्थवाह, प्रथम-कुलिक, प्रथम-कायस्थ इत्यादि सदस्य होते थे। फरीदपुर के तीसरे ताम्रपट्ट के अनुसार ज़िलाबोर्ड के करीब-करीब बीस सभासद् रहते थे, जिनमें से कुलस्वामी व सहदेव ऐसे ब्राह्मण व घोषचन्द्र व गोपचन्द्र ऐसे इतरवर्गों के सभासद् होते थे। ज़िलाबोर्ड के सभासदों को विषयमहत्तर कहते थे। उनकी कुछ मुहरें नालन्दा में मिली हैं।

गुप्त-अभिलेखों में यह नहीं कहा गया है कि ज़िलाबोर्ड के सभासद निर्वाचित होते थे या मनोनीत। प्रथम-श्रेष्ठी, प्रथम-कायस्थ इत्यादि नामों से यह सूचित होता है कि प्रायः बहुसंख्य सभासद् अपने-अपने धन्धों के प्रमुख या मुखिया होते थे। दूसरे सभासद् प्रायः ऐसे होते होंगे जो अपनेअनुभव व उम्र के कारण जनता के विश्वासभाजन हो चुके होंगे। आधुनिक प्रकार की निर्वाचित-पद्धति शायद नहीं थी।

ग्राम-पंचायतें व नगर-सभाएँ

ग्राम-व्यवस्था गाँव के मुखिया के अधीन थी। इसे ग्रामेयक या ग्रामाध्यक्ष कहते थे। लेखादिकों की जिम्मेदारी एक लेखक पर रहती थी, जो ग्रामेयक के अधीन होता था। ग्रामाध्यक्ष की मदद करने के लिए एक पंचायत होती थी। वाकाटक व पल्लव राज्यों में उसके सदस्यों को महत्तर कहते थे। शायद गुप्त-साम्राज्य में भी वैसी ही प्रथा थी। गुप्त-साम्राज्य में ग्राम-पंचायत को जनपद कहते थे। नालन्दा में अनेक जनपदों की मुहरें प्राप्त हुई हैं, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि ग्रामजनपदों के बाहर भेजे जाने वाले लेख-पत्र इत्यादि उनकी मुहरों से अंकित किये जाते थे। ग्राम-जनपद के सभासद् कैसे चुने जाते थे, इसका उल्लेख नहीं मिलता। सभासद् का महत्तर नाम सूचित करता है कि जो लोग अपने चरित्र, अनुभव व उमर के कारण सामान्य जनता के परमविश्वास-भाजन हुए थे, वे प्रायः सर्वसम्मति से जनपदों के सभासद् चुने जाते थे।

ग्राम-पंचायत सरकारी कर वसूलती थी, शांति-सुव्यवस्था का प्रबंध करती थी, लोगों के झगड़ों का निर्णय करती थी, सार्वजनिक कार्यों का आयोजन करती थी व नाबालिगों के हित की रक्षा करती थी। गाँव के निवासियों की जमीन का सीमानिर्धारण ठीक तरह से किया जाता था। प्रायः ग्राम के चारों ओर संरक्षण के लिए प्राकार व खंदक होते थे, जिनका प्रबंध करना भी ग्राम पंचायत का कर्त्तव्य होता था। ग्रामवासियों का मुख्य धंधा खेती था। बढ़ई,

लुहार, कुम्हार इत्यादि अन्य धंधों के लोग भी रहते थे। सामान्य जनता की आवश्यकतापूर्ति के लिए सुनार, तेली, व्यापारी इत्यादिक भी गाँव में होते थे।

मौर्यकालीन नगर-व्यवस्था के समान गुप्तकाल में नगर-व्यवस्था पुरपाल नामक अधिकारी करता था। वह प्रायः कुमारामात्य की श्रेणी का होता था। सम्भवतः उसकी मदद के लिए एक गैरसरकारी कमेटी होती थी जिसका स्वरूप व कार्य ग्रामपंचायत के समान था। गुप्तकाल के अभिलेख दिखाते हैं कि नगरवासी चाहते थे कि उनके नगर में एक अच्छा नगर-सभाभवन हो, व नगर के लिए पानी, मनोरन्जन इत्यादि का ठीक प्रबंध रहे[१]। नगरकमेटी इस विषय में योग्य प्रबंध करती थी। प्रायः नगरों के चारों ओर संरक्षण के लिए प्राकार व खन्दक रहते थे।

कर-व्यवस्था

यह खेद का विषय है कि गुप्त-अभिलेखों से कर-व्यवस्था की कोई जानकारी नहीं मिलती। समकालीन वाकाटक व कदम्ब राज्यों में जो कर वसूले जाते थे, वे प्रायः गुप्त-साम्राज्य में भी थे, ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं। करों में जमीन-कर या मालगुजारी मुख्य थी। उसको उस समय कई स्थानों में 'भागकर' व कई स्थानों में 'उद्रंग' कहते थे। लोगों को अनाज का छठे से चौथे भाग तक सरकार को कर रूप में देना पड़ता था। जमीनकर प्रायः नकद में नहीं लिया जाता था, इसे अनाज के रूप में लेते थे। दूसरा महत्व का कर चुंगी थी, जो नकद या माल के रूप में ली जाती थी। कपड़ा, तेल इत्यादि वस्तुओं पर उत्पादन-कर लगाया जाता था। परती जमीन, जंगल, खानों इत्यादि पर स्वामित्व सरकार का था व उनसे भी काफी आमदनी होती थी। जब राजकर्मचारी दौरे पर होते थे तब प्रजा को इनकी आवभगत (मराठी सरभराई) करनी पड़ती थी।

सिंहावलोकन

उपरिनिर्दिष्ट वर्णन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि गुप्तराज्य-व्यवस्था सामान्यतः ठीक प्रकार की थी। ज़िलों या गाँवों में होने वाली घटनाओं की खबर केन्द्रीय सरकार को रहती थी। राजा के मौखिक आदेश पूरी छानबीन

१ कॉ. इ. इं, ३. पृ. ७५.

के पश्चात् लिपिबद्ध किये जाते थे। जमीन का सीमानिर्धारण सावधानी से किया जाता था व मालिकों के नामों की सूची रक्खी जाती थी।

दीर्घकाल तक गुप्तसाम्राज्य में शांति-सुव्यवस्था थी व, विदेशियों के हमले रोके गये थे। जैसा कि प्राचीन यात्री फाहिएन ने लिखा है, लोगों के आवागमन पर निष्कारण प्रतिबन्ध नहीं थे। समाज-कंटकों का तत्काल दमन किया जाता था, किन्तु उनको अमानुषिक दंड नहीं दिया जाता था।

गुप्त-सरकार देश के सम्पत्ति-संवर्धन में भी सतर्क रहती थी। वह चुंगी व उत्पादन-कर वसूलती थी, किन्तु उसने अंतर्देशीय व्यापार के लिए यातायात का ठीक प्रबंध रखा था व विदेशीय व्यापार के लिए अंतर्राष्ट्रीय सुवर्ण-मुद्राचलन का आयोजन किया था। बाँध व नहर के द्वारा खेती को मदद दी जाती थी, व परती जमीन खेती के काम में लाने की कोशिश की जाती थी। गुप्त-सरकार का कार्य-क्षेत्र प्रायः मौर्य-सरकार के समान व्यापक था। हाँ, मौर्य-सरकार के कुछ विभागों का निर्देश गुप्तकाल में नहीं मिलता। किन्तु यह एक आकस्मिक (Accidental) अनुल्लेख दीखता है। इस विषय में टकसाल के अधिकारी लक्षणाध्यक्ष का अनुल्लेख उल्लेखनीय है। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि गुप्तों के साम्राज्य में लक्षणाध्यक्ष नहीं था। मौर्यों की अपेक्षा गुप्तों की मुद्राएँ अधिक सुन्दर व वैचित्र्य व नाविन्ययुक्त हैं; निस्संशय उनका आयोजन लक्षणाध्यक्ष व उसके सहायकों ने राजाओं की सलाह से किया होगा।

प्रजा के ऐहिक अभ्युदय के साथ नैतिक व पारलौकिक उन्नति के विषय में सरकार पर्याप्त परिश्रम करती थी। जगह-जगह धर्मस्थितिस्थापक नियुक्त किये गये थे। ब्रह्मदेय ग्रामों के दान लेने वाले ब्राह्मणों से अपेक्षा थी कि उनका चरित्र सब लोगों के लिए आदर्शभूत हो। सब धर्मों—हिन्दू, बौद्ध व जैन—को राज्याश्रय मिलता था। जातियों के पारस्परिक हितों का संघर्ष न होने देने के लिए सरकार प्रायः सतर्क रहती थी, ऐसा अनुमान हम कर सकते हैं।

राजा व मंत्रिमंडल का नियंत्रण करने के लिए किसी तरह की लोकसभा नहीं थी। किन्तु स्मृति-ग्रंथों के नियम जुल्मी शासन के रोकने के लिए पर्याप्त रूप में प्रभावशील थे। शासनाधिकारों का काफी विकेन्द्रीकरण करके जिला-दफ्तर को पर्याप्त अधिकार दे दिये थे। जिला-पंचायत में गैरसरकारी सभासद् कर्त्तव्यदक्ष व प्रभावशील थे व उनके हाथों में इतनी सत्ता रहती थी कि केन्द्रीय सरकार को अपने अधिकार की परती जमीन बेचने के समय भी उसकी

सम्मति लेनी पड़ती थी। ग्राम-पंचायत को भी कैसे विस्तीर्ण अधिकार थे, यह भी ऊपर दिखाया जा चुका है।

साधारणतः जनता नीतिमान्, सुखी व समृद्ध थी। शहरों में आबादी काफी थी। अनाथों व दरिद्रों के लिए रुग्णालयों में मुफ्त प्रबंध किया जाता था। शांति व सुव्यवस्था अक्षुण्ण रहने के कारण कला, वाङ्मय, तत्वज्ञान व विज्ञान में देश की अच्छी प्रगति हुई। इस तरह सरकारी नीति के फलस्वरूप लोगों की सर्वांगीण प्रगति हो सकी।

खंड ३

हर्षवर्धन की शासन-पद्धति (६०६—६४७ ई०)

गुप्तोत्तर युग में अनेक छोटे-मोटे राज्य भारत में बिखरे हुए थे। उनमें से हरएक की राज्य-पद्धति का वर्णन करना इस ग्रंथ में स्थलाभाव के कारण शक्य नहीं है। वैसा करना भी आवश्यक नहीं है, चूँकि इस समय राज्यशासन का ढाँचा करीब-करीब एक-सा हो गया था। अब हम पहले हर्षवर्धन की व तत्पश्चात् राष्ट्रकूटों की शासन-पद्धति का वर्णन करके पीछे जो शासन-पद्धति ७०० ई० से १२०० ई० तक उत्तर व दक्षिण भारत में थी उसका अलग-अलग संक्षेपतः निर्देशन करेंगे।

हर्षवर्धन के केवल दो शासन-पत्र मिले हैं। इसलिए उसकी शासन-पद्धति का स्वरूप निर्धारित करने में हमें बाणभट्ट का हर्षचरित व चीनी यात्री युआन च्वांग का प्रवास-वर्णन, इन दो ग्रंथों का विशेष सहारा लेना पड़ता है।

हर्ष की शासन-पद्धति मुख्यतः राजा पर ही अधिष्ठित थी। कौटिल्य व अशोक के समान हर्ष भी यह मानता था कि राजा को हमेशा शासन-संचालन में अग्रसर रहना चाहिये। युआन् च्वांग कहता है कि राजा हर्ष पूरे दिन कार्य में मग्न रहता था। उसका यह विधान कि राजा का $\frac{1}{3}$ समय शासन-संचालन में व $\frac{2}{3}$ समय धर्मकार्य में व्यतीत होता था, शायद हर्ष के शासन के अंतिम भाग में यथार्थ था। युवावस्था में जब वह अनेक राज्यों के परास्त करने में कई प्रकार के प्रयत्न कर रहा था, तब उसका इतना बड़ा समय धर्मकार्य के लिए रहना बिलकुल असम्भव था।

अशोक के समान हर्ष भी दौरे पर बारम्बार जाता था व अपने अधिकारी कैसे कार्य कर रहे हैं, लोगों की कौन-कौन सी शिकायतें हैं इत्यादि स्वयं देखता था। राजा न केवल नगरों का किन्तु देहातों का भी शासन परीक्षण करता था। राजा के दौरे प्रायः शीतकाल में होते थे। जहाँ वह कुछ समय ठहरता था, वहाँ उसके रहने के लिए कच्चे मकान बनाये जाते थे। ग्रामीण लोगों के राजा के दर्शन लेने में व उसको अपनी कठिनाइयाँ बताने में कुछ अड़ंगे नहीं लगाये जाते थे। प्रतीहारी राजा से मुलाकात कराता था। दौरे में जब राजा की सवारी निकलती थी तब उसके सामने सोने के वाद्यों के धारण करने वालों की लम्बी कतार रहती थी। राजा के प्रत्येक पदपर वाद्यों की झंकार होती रहती थी। राजा की सवारी का दृश्य भव्य व मनोहर होता था।

पूर्व प्रथा के अनुसार मंत्रिमंडल शासन-कार्य में राजा की मदद करता था। उसका उल्लेख अभिलेखों में नहीं मिलता। किन्तु युआन च्यांग ने मौखरि मंत्रिमंडल के कार्य का विस्तृत वर्णन किया है। जब मौखरि राजा ग्रहवर्मा की अकस्मात् मृत्यु हुई तब मुख्यमंत्री ने मंत्रिमंडल की एक विशेष बैठक बुलाई और कहा "मौखरि-राज्य का भवितव्य हमें आज निश्चित करना है। मेरा सुझाव है कि हम अब हर्षवर्धन को मौखरि-राज्य समर्पित करें। किन्तु मैं चाहता हूँ कि आप में से प्रत्येक इस विषय पर अपना निजी मत जो कुछ हो प्रगट करे।" जब मंत्रिमंडल ने मुख्यमन्त्री का प्रस्ताव स्वीकृत किया तब उसने हर्ष से कहा "आप अभी निस्संकोच इस मौखरि-प्रदेश पर भी राज्य करें। शत्रुओं ने मौखरि व वर्धन राज्यों का अपमान किया है। उनको पराजित कर आप अपमान का प्रक्षालन करें।" इस वृतांत से पाठक अब ठीक समझ सकेंगे कि मौखरि-राज्य में मंत्रिमण्डल के हाथों में, विशेषतः आपत्ति के समय कितनी विस्तीर्ण सत्ता थी। हर्ष मौखरियों का उत्तराधिकारी था। अतः उसके राज्य में भी मंत्रि-मंडल काफी शक्तिशाली होगा, ऐसा अनुमान गलत न होगा। खेद का विषय है कि इस सम्बन्ध में हमें प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

हर्ष की राजधानी में भी केन्द्रीय शासन-कार्यालय रहता था। शासन-विषयक आदेशों का मुख्याधिकारी महाक्षपटलाधिकृत था। उसका उल्लेख बाँस-खेरा ताम्रपट्ट में हुआ है। उच्चश्रेणियों के मंत्री जिलाधीश इत्यादि अधिकारी कुमारामात्यों में से ही सम्भवतः चुने जाते थे, ऐसा प्रतीत होता है। जिलाधीश इत्यादि के पास केन्द्रीय सरकार के शासनादेश ले जाने वाले अधिकारी

'दीर्घाध्वग' नाम से हर्षचरित (पृ० ८७) में निर्दिष्ट किए गये है। इस ग्रंथ में 'सर्वगत' नाम के अधिकारी का भी उल्लेख आता है। हो सकता है कि वह गुप्तचरदल का अधिकारी हो। यह दल मौर्यकाल में सर्वत्र संचार करता था। हर्ष-शासन में भी वह अज्ञात न होगा। यदि चुआन् च्वांग का कथन विश्वसनीय हो तो हमें मानना पड़ेगा कि मंत्री व उच्चअधिकारियों को नक़द वेतन के स्थान पर गाँव दिए जाते थे। नीच श्रेणियों के अधिकारी कभी नक़द वेतन पाते थे व कभी जमीन। इस प्रकार सामन्तवाद का बीजारोपण हर्ष के समय हुआ प्रतीत होता है।

केवल विदेश-विभाग व सैन्य-विभाग का उल्लेख प्रमाणभूत ग्रंथों में मिलता है। पहले विभाग के मुख्य को महासंधिविग्राहक कहते थे। हर्षचरित लिखे जाने के समय उस पद पर अवंति नाम का अधिकारी काम करता था। सैन्य में पदातिदल, अश्वदल, हस्तिदल, व उष्ट्रदल होते थे। युआन च्वांग के कथन के अनुसार हर्ष के अश्वदल में एक लक्ष घोड़े व हस्तिदल में ६०,००० हाथी थे। हस्तिदल सचमुच इतना मोटा न होगा, चूँकि जो मौर्य-साम्राज्य हर्ष के राज्य से चौगुना था, उसके हस्तिदल में भी केवल ९००० हाथी थे। सिंध, फारस व कम्बोज देशों से सैन्य के लिए घोड़े खरीदे जाते थे। पदातिदल में शायद अनेक लाख सैनिक होंगे। उसकी संख्या क्या थी यह नहीं दी गयी है। सैनिकों को चाट या भट कहते थे व उनके अधिकारियों को बलाधिकृत व महाबलाधिकृत। अश्वदल के अधिकारी बृहद्श्ववार नाम से विदित थे। सैन्य के मुख्याधिकारी की पदवी महासेनापति थी।

हर्ष का राज्य प्रांतों, कमिश्नरियों, ज़िलों इत्यादि में विभाजित था। हमको न प्रान्तों की संख्या ज्ञात है न उनके अधिकारियों की पदवी। हर्षचरित के 'दिशाप्रमुखेषु परिकल्पिता लोकपालाः' इस विधान में शायद प्रान्ताधिप लोकपाल नाम से अभिप्रेत है। प्रांत भुक्तियों में विभाजित थे। जिस अहिच्छत्रा भुक्ति का उल्लेख हर्ष के बाँसखेरा व मधुवन ताम्रपट्टों में आया है, उसमें सम्भवतः रोहिलखण्ड कमिश्नरी अंतर्भूत थी। भुक्ति कमिश्नरी के बराबर थी।

भुक्ति में अनेक 'विषय' रहते थे, जो ज़िला के बराबर थे। अहिच्छत्रा भुक्ति में कुंडग्रानी व ऊँगदीय विषय अंतर्भूत थे। विषय में अनेक 'पाथक' होते थे, जो प्रायः तहसील या तालुका के बराबर थे। हमें यह मालूम नहीं है कि ग्राम व पाथक के बीच में और कोई दूसरा शासन-विभाग था या नहीं। ग्राम-व्यवस्था

ग्रामाध्यक्ष के अधीन थी। अनेक 'करणिक' उसकी मदद करते थे। हर्ष के ताम्र-पट्टों में ग्राम-पंचायत का उल्लेख नहीं आता है। किन्तु इसको संयोग-मात्र ही समझना चाहिए।

हर्षकालीन कर-व्यवस्था का ठीक स्वरूप अज्ञात है। शासनपत्रों में तीन करों का उल्लेख आता है, —भाग, हिरण्य व बलि। भूमि-कर का उल्लेख 'भागकर' से हुआ है व नकद करों का 'हिरण्य' से। 'बलि' शब्द से किस प्रकार के कर निर्दिष्ट होते थे, यह कहना कठिन है। फेरी-कर लोगों से लिया जाता था। नाप व वजन के हिसाब से बाजार में वस्तुओं पर कर लगाया जाता था। युआन च्वांग के कथन के अनुसार लोगों पर करों का बोझा विशेष नहीं था। न उनसे बेगारी ली जाती थी। किन्तु इस पर पूरा विश्वास करना कठिन है। अनेक सालों तक हर्ष हमेशा युद्ध में फँसा था व उसका सैन्य विशाल था। इस लिए लोगों पर करों का बोझ भी हलका न होगा।

मौर्य-शासन में जनगणना या मर्दुमशुमारी की जाती थी। वैसी प्रथा हर्ष के समय नहीं थी, चूँकि युआन-च्यांग कहता है कि कुटुम्बों की गणना की किताबें न रक्खी जाती थीं। चीनी यात्री कहता है कि 'सरकार उदार है इसलिए सरकारी आवश्यकताएँ कम हैं। सर्वलोग अनुवंशिक धंधे चलाते हैं व पैतृक जमीन व सम्पत्ति से गुजारा करते हैं।' इससे प्रतीत होता है कि हर्ष-शासन-पद्धति में। लोगों पर विशेष नियंत्रण नहीं था व वे कानून के अंतर्गत रहकर पर्याप्त स्वतंत्रता का उपभोग कर सकते थे।

जैसा कि युआन-च्वांग ने कहा है। (भा. १ पृ. ३४३) हर्ष एक न्यायी व कर्तव्यतत्पर राजा था। राजा की आमदनी चार भागों में विभाजित की जाती थी। आमदनी का $\frac{1}{4}$ शासन कार्य के लिए, $\frac{1}{4}$ नौकरों के वेतन को लिए, $\frac{1}{4}$ विद्वानों को दान के लिए, व $\frac{1}{4}$ धर्मादाय व मंदिरो के लिए खर्च किया जाता था। इस विधान में थोड़ी अतिशयोक्ति है, किन्तु इससे हम शासन-पद्धति का सामान्य रूप जान सकते हैं।

मौय या गुप्त शासन की तुलना में हर्ष का शासन कम कार्यक्षम था, ऐसा प्रतीत होता है। यह तो सत्य है कि युआन च्वांग ने शाषन-पद्धति का पर्याप्त गुणगान किया है, व कहा है कि अपराधियों की संख्या बहुत कम थी। किन्तु यह अतिशयोक्ति है। ख़ुद युआन् च्वांग राजधानी के थोड़े फासले पर ही डाकुओं द्वारा पकड़ा गया था व यदि बलिदान के समय की आकस्मिक आँधी से डाकू न डरते तो उसकी बलि भी दे डालते। गुनाहों के लिए कड़ा दण्ड

दिया जाता था व कैदियों को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते थे। हजामत करने की उनको इजाजत नहीं थी। इस कारण उनके मस्तक पर जटा व मुख पर लम्बी दाढ़ी रहती थी। गुप्त-साम्राज्य की तुलना में खतरनाक अपराधों के लिए इस समय क्रूर दण्ड दिया जाता था, जैसे कर्ण या नासिका या हस्त या पाद का छेद। ऐसे अपराधियों को देश के बाहर भी निकालते थे या जंगल में छोड़ देते थे। क्रूर दण्डों के डर से अपराधियों की संख्या कम रहती थी। आर्थिक व भौतिक उन्नति के लिए सरकार सतर्क रहती थी। किन्तु उसकी कार्य-क्षमता, गुप्त-सरकार की तुलना में कम थी और उसमें मौर्यों के समान अनेक विध शासन विभाग भी न थे।

खंड ४

(राष्ट्रकूट-साम्राज्य की शासन पद्धति)

राष्ट्रकूट दक्षिण में ७५० ई० से ९९५ ई० तक राज्य करते थे। उनके अभिलेखों से उनकी शासन-प्रणाली का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है। किन्तु यहाँ उसका सांगोपांग वर्णन नहीं किया है, चूंकि इस समय भारत में शासन-पद्धति सर्वत्र एकरूप सी थी। पाठक इस शासन-पद्धति का विस्तीर्ण विवेचन मेरे ग्रंथ 'राष्ट्रकूटाज़ एण्ड देअर टाइम्स' (पृ० १३५ से २५८ तक) में पा सकते हैं।

सम्पूर्ण शासन-सत्ता का केन्द्र राजा था। महाराजाधिराज परमभट्टारक इत्यादि पदवियों से इस वंश के सभी राजा विभूषित थे। किन्तु उनमें से प्रत्येक की एक-एक विशिष्ट पदवी भी रहती थी। जैसे धारावर्ष, अकाल वर्ष (आकस्मिक सम्पत्ति की वर्षा करने वाला) सुवर्णवर्ष, विक्रमावलोक, जगत्तुंग इत्यादि। शासनालय राजधानी में होता था व राजदरबार भी प्रायः वहीं ही बैठता था, जब राजा दौरे पर न होता था। साम्राज्य की शक्ति व ऐश्वर्य राजदरबार में प्रतिबिम्बित थे। दरबार के बाहर प्रांगण में हस्तिदल, अश्वदल व पदातिदल के दस्ते अपने-अपने अधिकारियों के साथ पहरा देते थे। युद्धविजय में शत्रुओं से प्राप्त हुए हाथी, घोड़े इत्यादि का प्रदर्शन भी वहाँ किया जाता था, जैसे आजकल के संग्रहालय के बाहर शत्रुओं की तोपों का प्रदर्शन होता है। सामन्त व विदेशी राजदूत, पहले एक आसन्न कमरे में बैठाए जाते थे। योग्य व पूर्वनिश्चित समय पर राजप्रतीहारी उनको सिंहासन

के सामने प्रविष्ट करके राजा से मुलाकात करता था। राजा अपने ऐश्वर्यानुरूप मोती, रत्न, सुवर्ण इत्यादि के अलंकारों से विभूषित रहता था। उसके पास शरीररक्षक शस्त्रों से सुसज्जित रह कर पहरा देते थे। नर्तकियाँ भी दरबार के समय सुन्दर साड़ियाँ व अलकार पहिनकर हाजिर रहती थीं, जिससे दरबार की शोभा बढ़ जाती थी। उचित समय पर उनका गान, नाच व वाद्य-वादन होता था, जिसके लिए राजधानी के प्रतिष्ठित नागरिक भी कभी-कभी बुलाए जाते थे। सामन्त, विदेश-दूत, सैन्य व शासन-यंत्र के श्रेष्ठ अधिकारी, कवि, वैद्य, ज्योतिषी, श्रीमान् व्यापारी इत्यादि प्रतिष्ठित व्यक्तियों को दरबार में उचित स्थान दिए जाते थे।

राजपद अनुवंशिक था। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था। योग्य शिक्षा-दीक्षा के पश्चात उसका युवराजाभिषेक किया जाता था। किन्तु कभी-कभी ज्येष्ठ पुत्र के बयाज उसका छोटा भाई भी युवराज चुना जाता था। जैसे कि तृतीय गोविन्द के बारे में हुआ। लेकिन यह सामान्य परंपरा से सुसंगत नहीं था। युवराजाभिषेक के पश्चात् भी गोविन्द को अपने बड़े भाई से लड़ना पड़ा, जिसको अनेक राजाओं ने राज्य का योग्य उत्तराधिकारी समझ कर मदद पहुँचायी थी। कभी-कभी ज्येष्ठ पुत्र राज्यप्राप्ति के पश्चात् अपने छोटे भाइयों द्वारा, पदच्युत भी किए जाते थे। जैसे कि ध्रुव व चतुर्थ गोविन्द के बारे में हुआ।

प्रायः युवराज राजधानी में रहकर शासन-संचालन में हाथ बँटाता था। अभियान के समय वह सम्राट् के साथ जाता था। कभी-कभी ऐसे समय में उसे सेना का नेतृत्व भी दिया जाता था। ७७० ई० में वेंगियों के विरुद्ध लड़ाई का संचालक युवराज गोविन्द द्वितीय था। दूसरे राजपुत्र प्रायः प्रांताधिप बनाए जाते थे। राष्ट्रकूट शासन-पद्धति में राजपुत्रियाँ अधिकार-पद पर विराजमान नहीं दीखती हैं। इस विषय में हमें केवल एक ही अपवाद मिलता है; प्रथम अमोघवर्ष की पुत्री चन्द्रबेलब्बा रायचूर दोआब की शासनाधिकारिणी थी (८३७ ई०)। उत्तर-चालुक्यकाल में (९७५ ई० से ११५० ई० तक) राजवंशीय स्त्रियों की शासन-संचालन में भाग लेने की प्रथा रूढ़ हो गयी। प्रथम सोमेश्वर की एक रानी मैलादेवी तृतीय जयसिंह की भगिनी अक्कादेवी, षष्ठ विक्रमादित्य की पट्टरानी लक्ष्मी देवी चालुक्य शासन-प्रणाली में बहुत जिम्मेदारी के पद पर कार्य-संचालन करती थीं। राष्ट्रकूट काल में ध्रुव की रानी शील भट्टारिका स्वयं एक ताम्रपत्र दान करती हुई दीखती है, उसमें उसके पति का

नाम-निर्देश नहीं मिलता किन्तु यह अनिर्देश अनवधानता के कारण हुआ होगा। यह मानने के लिए कुछ ठोस प्रमाण नहीं है कि शील भट्टारिका राज्य करने वाली रानी (Regnant queen) थी, न कि केवल पट्टरानी।।

राजा यदि राज्यारोहण के समय नाबालिग होता था तो राजपालक (Regent) का कार्य प्रायः कोई पुरुष रिश्तेदार करता था न कि उसकी माता। ऐसे समय अनेक बार विद्रोह हुआ करते थे, इसीलिए यह प्रथा रूढ़ हो गयी। पुरुष रिश्तेदार वैधव्यपंकभग्न राजमाता की तुलना में अधिक सफलता से सैन-संचालन व विद्रोहशमन कर सकता था।

राष्ट्रकूट-सम्राट् मंत्रिमंडल की सहायता से राज्य करता था। मंत्रिमंडल में समकालीन शासन-पद्धति के समान मुख्यमन्त्री, विदेशमंत्री, मालमंत्री, कोष-मंत्री, मुख्यन्यायाधीश, मुख्यपुरोहित, मुख्यसेनापति इत्यादि रहते थे, ऐसा अनुमान करना गलत न होगा। आजकल के जमाने में मंत्री व उसके विभागाध्यक्ष अलग होते हैं। वैसी प्रथा प्राचीनकाल में सर्वत्र रूढ़ नहीं थी। मंत्रियों में कौन गुण व विशेषताएँ अपेक्षित थीं व वे कैसे चुने जाते थे, इस विषय में हमें सम्यक ज्ञान नहीं है। राजनीतिक व सैनिक योग्यता के कारण वे चुने जाते होंगे। बहुसंख्य मंत्री सैनिक अधिकारी थे। ध्रुव के विदेशमन्त्री डल्ल के समान कुछ मंत्री सामन्त या जागीर पाते थे[1]। प्रायः राजा का मंत्रियों पर पूरा विश्वास रहता था। वह उनको अपने दाहिने हाथ के समानप्रिय व उपयोगी समझता था[2]।

मौर्यकाल में अमात्य व गुप्तकाल में कुमारामात्य उच्च श्रेणी के अधिकारी थे। राष्ट्रकूटशासन-प्रणाली में ऐसे अधिकारी जरूर होंगे, किन्तु उनकी पदवी का ज्ञान अब तक हमें नहीं है। केन्द्रीय सरकार, प्रांतपालों व जिलाधीशों पर कैसा नियंत्रण करती थी, यह भी अब तक मालूम नहीं हुआ है। दौरे करने वाले अधिकारियों द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता होगा। आवश्यकता के अनुसार प्रांतपाल, जिलाधीश इत्यादि अधिकारी राजधानी में भी बुलाए जाते थे और वहाँ केन्द्रीय सरकार उनसे पूछताछ करती थी। गुप्तचर भी साम्राज्य में इतस्ततः बिखरे रहते थे। वे केंद्रीय सरकार को साम्राज्य की अंतःस्थिति व अधिकारियों की चाल के विषय में प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भेजते थे।

---

१ ए० इं० हि २, ८९.

२ तस्य यः मतिहस्तोऽभूत्प्रियो दक्षिणहस्तवत्। वही, ४.६०.

राष्ट्रकूट साम्राज्य के कुछ भागों पर केन्द्रीय सरकार स्वयं शासन करती व कुछ भागों पर माण्डलिक सामन्तों के द्वारा शासन होता था। गुजरात के राष्ट्रकूट जैसे महत्वपूर्ण मांडलिक आंतरिक शासन में प्रायः पूर्णाधिकारी रहते थे; उनके अधीन उनके उपसामंत भी थे, जिनको अल्पल्प अधिकार रहते थे। गाँवों या करों का दान करने से पहले उनको अपने नियंत्रक सामंत व सम्राट् की अनुमति लेनी पड़ती थी[1]। सामंतों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे निश्चित समय पर राजधानी में आकर अपनी राजनिष्ठा व्यक्त करें व यदि उनकी चाल या कार्य के कारण केंद्रीय सरकार के मन में आशंका आ गयी हो तो, उसका निवारण करें। निश्चित समय पर उनको सम्राट् की सरकार को उपायन (Tributes) देने पड़ते थे व उनके युद्ध के समय पूर्वनिश्चित संख्यक सैन्य भेजने पड़ते थे। कभी-कभी वे स्वयं आकर सम्राट् के युद्ध में सक्रिय व महत्वपूर्ण भाग लेते थे। वे सम्राट् के प्रतिनिधि को अपने दरबार में रखने के लिए बाध्य कियेजाते थे। वे स्वयं भी अपने एक दूत को सम्राट् की सरकार की नीति के विषय में समय-समय पर प्रतिवेदन (Report) भेजें[2]। यदि वे विद्रोह करें, तो उनको परास्त किया जाता था, व पराजय के पश्चात् उनको अनेक अपमान सहन करने पड़ते थे। उनको अपना कोष व सैन्य सम्राट् को अर्पित करना पड़ता था, और वह कभी-कभी उनको अपनी अश्वशाला की सफाई करने का अपमान कारक काम करने की सजा देता था।

राष्ट्रकूट-साम्राज्य का जो भाग सामंत-शासित नहीं था, वह राष्ट्र व विषयों में विभाजित था। राष्ट्र कमिश्नरी के बराबर था, व विषय ज़िले के बराबर। पुणक (पूना) विषय में एक हजार व कर्हाटक विषय में चार हजार गाँव थे। विषय अनेक भुक्तियों में विभाजित था, जिनमें प्रायः ८० से ७० गाँव रहते थे। दक्षिण भारत की राष्ट्रकूटकालीन 'भुक्ति' हर्षकालीन 'भुक्ति' की तरह कमिश्नरी के समान बड़ा शासन-विभाग न थी। भुक्ति में १० से २० गाँवों के चार-पाँच गुट रहते थे, जो महत्वपूर्ण गाँवों के नाम से सम्बोधित किये जाते थे[3]। सबसे छोटा शासन-विभाग गाँव था।

---

१ इं. ऍ. १२.१५; ए. इं. ९.१९५.

२ ए. इं. ६. ३३

३ अलतेकर—राष्ट्रकुटाज़. पृ. १३८

राष्ट्र चार-पाँच जिलों के बराबर था, व उसके अधिपति को राष्ट्रपति कहते थे। अपने विभाग की शासन-व्यवस्था व सेना का प्रबन्ध उसके अधीन रहता था। शांति-सुव्यवस्था रखना, कर वसूलना व सामंतों का नियंत्रण करना, उसके मुख्य काम थे। यदि कोई सामंत विद्रोह करे तो सेना के द्वारा उसको परास्त करने में वह विलम्ब नहीं कर सकता था[१]। राष्ट्रपति के पास आवश्यक संख्या में सैनिक रहते थे और प्रायः वह स्वयं उनका नेतृत्व करता था। कभी-कभी वह स्वयं सामंतो में से एक होता था। राष्ट्रपति के अधिकार गुप्तकालीन उपरिकों के प्रायः बराबर थे।

आधुनिक कमिश्नरों के समान राष्ट्रपति को माल-विभाग में बहुत कार्य करना पड़ता था। जमीन-महसूल योग्य समय पर उचित मात्रा में वसूलना, जमीन-मालिकों की सूची तैयार करना, देवदाय व ब्रह्मदाय में दान दिये हुए ग्रामों को इतर ग्रामों से अलग करना उनके काम थे। राजा की अनुमति के बिना वे ग्राम-जमीन, या करों का दान नहीं कर सकते थे। विषयपति, भोगपति इत्यादि अधिकारियों की नियुक्ति करने का भी उनको अधिकार नहीं था।

विषयपति को अपने विषय में व भोगपति को अपनी भुक्ति में राष्ट्रपति के समान अधिकार थे। उनमें भी कभी-कभी छोटे सामंत रहते थे।

उपरिनिर्दिष्ट पदों पर जो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे उनमें शासनकला में नैपुण्य व सैन्य-संचालन में कौशल्य की अपेक्षा की जाती थी। कभी-कभी ये पद अनुवंशिक होते थे; विशेषतः जब मूल अधिकारी के पुत्र अपने पिता के समय ही सम्राट के सामने अपनी योग्यता सिद्ध कर देते थे।

सम्राट्नियुक्त विषयपति व भोगपति अपना कार्य नाडगावुंडों या देश-ग्रामकूटों के सहयोग से करते थे। मुस्लिम व मराठा शासन-पद्धति में देशमुख व देशपांडे जैसे अनुवंशिक अधिकारी थे, वैसा ही नाडगावुंड व देशग्रामकूट भी इस समय थे। उनको भी वेतन के स्थान में इनाम या जागीर दी जाती थी[२]। विषयपति के साथ काम करने वाले ऐसे अनुवंशिक अधिकारी उत्तर भारत में नहीं थे।

---

१ अलतेकर—राष्ट्रकूटाज़., पृ० १७९

२ वही, पृ० १७८-९.

ग्राम-शासन की जिम्मेदारी ग्राम-मुखिया (ग्रामकूट) पर थी। एक लेखक उसकी मदद करता था। ग्राम में शांति या सुव्यवस्था रखना, ग्रामकूट का कर्त्तव्य था। उसके अधीन एक छोटी-सी स्वयंस्फूर्ति से काम करने वाली अवेतनीय ग्राम-सेना थी जो उसको ग्राम-संरक्षण में मदद देती थी। ग्राम में शांति-भंग चोरा आदिकों द्वारा उतना नहीं होता था, जितना सामंतों के विद्रोहों से या ग्रामों के झगड़ों से। ऐसे समय पर ग्रामकूट को स्थानीय सेना का नायकत्व करना पड़ता था व कभी-कभी अपने गाँव की रक्षा के लिए उसको युद्ध में अपने जीवन को भी समर्पित करना पड़ता था। गाँव के कर वसूलना व उनको सरकार के पास भेजना भी उसका कार्य था। वेतन के बजाय उसको इनाम जमीन मिलती थी। ग्राम में लेखक उसके अधीन अपना काम करता था।

ग्राम-शासन में ग्राम-निवासियों को पर्याप्त अधिकार थे। कर्नाटक व महाराष्ट्र में हरएक ग्राम में एक ग्राम-पंचायत रहती थी। गाँव के अनुभवी, वृद्ध व सच्चरित्र लोग (ग्राममहत्तर) प्रायः सर्वसम्मति से पंचायतों के प्रतिनिधियों को चुनते थे। उनका विधिविहित (formal) निर्वाचन नहीं होता था। तालाब, मंदिर, रास्ते, सत्र इत्यादि कार्यों के लिए पंचों की उप-समितियाँ रहती थीं, जो ग्रामकूट के सहयोग से अपना कार्य करती थीं। पंचायतें, ट्रस्टी (trustee) का काम भी करती थी। वह दाताओं से दान का द्रव्य या जमीन लेती थी, व इकरार करती थी कि उनकी इच्छा के अनुसार सत्रादिक चलाने में उसकी वार्षिक आमदनी का वह यावच्चन्द्रदिवाकरौ व्यय करेगी। गाँवों के जमीन-महसूल का एक पर्याप्त हिस्सा पंचायत को अपना कार्य करने के लिए मिलता था। गाँव-पंचायतें दिवानी मुकदमों का निर्णय करती थीं, जिसको कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी सरकार पर थी। शहरों की शासन-व्यवस्था गाँव की शासन-व्यवस्था से मिलती-जुलती थी।

'राष्ट्रमहत्तर' व 'विषयमहत्तर' का उल्लेख कभी-कभी राष्ट्रकूट-अभिलेखों में आता है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्र व विषय के मुख्य नगरों में राष्ट्रपति व विषयपति की मदद करने के लिए एक गैरसरकारी समिति रहती थी। यदि वह रहती होगी, तो उसका कार्य ग्राममहत्तरों के समान ही होगा। किन्तु यद्यपि राष्ट्रमहत्तरों या विषयमहत्तरों का उल्लेख मिलता है तथापि उनकी समिति का उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि इस अनुल्लेख का कारण केवल अनवधानता हो। यदि ऐसा हो तो गुप्तकालीन बंगाल में दामोदरपुर

ज़िले में जैसी एक ज़िला-पंचायत थी, वैसी ही राष्ट्रकूटों के राष्ट्रों व विषयों में भी एक गैरसरकारी समिति शासन-व्यवस्था में सहयोग देती थी व लोगों की इच्छा के अनुसार अधिकारियों का आंशिक नियंत्रण भी करती थी। इस विषय में निश्चित निर्णय पर पहुँचना इस समय कठिन है।

राष्ट्रकूट राजधानी में कोई लोकसभा राज्य-शासन का नियंत्रण करती हुई नहीं दिखाई देती। प्रायः वह अस्तित्व में न थी। यातायात के शीघ्र साधन के अभाव के कारण ऐसी सभा का संघटन करना उस समय आसान कार्य नहीं था। राष्ट्रकूट-शासन में लोकमत का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से गाँव व नगर, व संभवतः विषय या राष्ट्र में, पड़ता था। किन्तु यह हमें नहीं भूलना चाहिए कि इस समय ग्राम व नगर के अधीन आजकल की प्रांतीय सरकार के भी कुछ अधिकार रहते थे। इसलिए उस पर नियंत्रण रख कर लोग अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार पर भी कुछ दबाव डाल सकते थे।

राष्ट्रकूट-सम्राट् विजिगीषु होने के कारण हमेशा पड़ोसियों को जीतना चाहते थे। इसलिए उनका सैन्य विशाल व बलशाली था। सैनिकों की निश्चित संख्या कितनी थी, यह हमें ज्ञात नहीं है हर्ष के समान उनके सैन्य में भी पाँच लाख से कम सैनिक न होंगे। सैन्य का एक भाग राजधानी में रहता था। बनवासी के प्रांतपाल के अधीन एक दक्षिण दिशा का सैन्य रहता था, जिसका उल्लेख अभिलेखों में आया है। हो सकता है कि उत्तर व पूर्व दिशाओं के भी एक-एक अलग सैन्य-विभाग हों। इन सेना-विभागों के नायक प्रायः राज-पुत्र थे। उनका कर्त्तव्य था कि साम्राज्य को पड़ोसियों से बचावें व उन पर उचित समय पर स्वयं अभियान करें। पदातिदल के लिए सैन्य विख्यात था, किन्तु उसमें घुड़सवार भी पर्याप्त थे। मौलिक दल में सैनिक-वंशपरंपरा के सिपाही रहते थे, जो अपने लोकोत्तर शौर्य के लिए प्रसिद्ध थे। सामंतों के दस्ते भी सैन्य में अभिमान के समय मिलाए जाते थे। सैनिक वंश के सिपाही अपने-अपने गाँवों में बचपन में ही पर्याप्त शिक्षा पाते थे। जब वे सैन्य में भर्ती किए जाते थे, तब उनको अधिक शिक्षा दी जाती थी। कुछ भूतपूर्व सैनिक अधिकारी स्वयं लोगों को शिक्षा देकर उनको प्रभावी सैनिक बनाते थे व पीछे सरकारी सैन्य में उनकी भरती की जाती थी। इस कार्य के लिए उनको सरकार से वेतन या पारितोषिक मिलता था। रण-भांडागार-विभाग अपना कार्य व्यापारियों के सहयोग से करता था। सैन्य में सब जातियों के लोग थे, जिनमें ब्राह्मण व

जैन भी अंतर्भूत थे। यह एक उल्लेखनीय बात है कि राष्ट्रकूटों के प्रसिद्ध सेनानियों में अनेक जैन थे, जैसे बंकेय, श्रीविजय, भारसिंह इत्यादि। शायद वे समझते थे कि आत्यंतिक अहिंसातत्व का पालन संन्यासियों के लिए था न कि गृहस्थों के लिए।

राष्ट्रकूट साम्राज्य की आमदनी के स्रोत सामंतों द्वारा मिलने वाली बलि (Tribute), सरकारी जंगल, जमीन, खानों इत्यादि से होने वाली आमदनी व विभिन्न प्रकार के कर थे। सरकार खेतीवाली जमीन पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करती थी। यदि कोई जमीन-मालिक सरकारी मालगुजारी लगातार कुछ वर्षों तक नहीं चुकाता था, तो उसकी जमीन सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती थी।

मुख्य कर मालगुजारी थी जिसको उद्रंग या भोगकर कहते थे। वह २५ प्रतिशत से ३३ प्रतिशत तक था व दो या तीन किश्तों में प्रायः अनाज के रूप में वसूल किया जाता था। ब्रह्मदाय व देवदाय जमीन पर कर की दर कम थी। अकाल के समय कर में छूट दी जाती थी। व्यापार की वस्तुओं पर जो कर लिया जाता था उसको भोगकर कहते थे। उसका कुछ भाग स्थानीय अधिकारियों को वेतन के बदले में मिलता था।

चुंगी व उत्पादन कर भी लिए जाते थे—कभी नकद में व कभी अनाज आदि के रूप में। दौरे के अधिकारियों के भोजनादिक का खर्च ग्रामवासियों को देना पड़ता था।

खंड ५

(हर्षोत्तरकालीन उत्तर भारतीय शासन-पद्धति[१])

७०० ई० से १२०० ई० तक के कालखंड की शासन-पद्धति का वर्णन करने के लिए अभिलेखों की प्रचुर सामग्री मिलती है। उत्तर हिन्दुस्तान में इस कालखंड में अनेक राजवंश राज्य करते थे। उनकी शासन-पद्धति का जो शुक्रादि-नीतिशास्त्रकार हुए, उनके ग्रंथों का भी उपयोग किया गया है।

---

१ यह खंड मेरी पुत्री डाक्टर सौ. पद्मा उदगाँवकर के प्रबंध के कुछ अंशों के आधार पर लिखा गया है—लेखक

राजपद इस समय अनुवंशिक था। राजा के निर्वाचन की कल्पना लोगों को कितनी विचित्र व विक्षिप्त दीखती थी, यह कल्हण की राजतरंगिणी से विदित होता है। पहले भी युवराज राजा के द्वारा चुना जाता था; किन्तु इस कालखंड में युवराज-अभिषेक का वर्णन अनेक अभिलेखों में मिलता है। गाहडवाल अभिलेखों से हमें विदित होता है कि कैसे मदनपाल, गोविन्दचन्द्र व आस्फोटचन्द्र अपने-अपने पिता के द्वारा चुने गये थे। पालवंश में त्रिभुवनपाल व राज्यपाल के युवराजाभिषेक के उल्लेख मिलते हैं। पुत्र के अभाव में छोटा भाई या भतीजा युवराजपद पर बैठाया जाता था। स्त्रियों का केवल निजी अधिकार से राज्य चलाने का अधिकार प्रायः समाज को मान्य नहीं था। काश्मीर की सुगंधारानी व उड़ीसा के कर-राजवंश की त्रिभुवनमहादेवी-रानी, दंडमहादेवी-रानी व धर्ममहादेवी-रानी निजी अधिकार की रानियाँ (Regnant Queens) नहीं थीं, केवल अभिभाविका या संरक्षिका थीं। केवल काश्मीर की दिद्दा नामक रानी ने स्वयं अकेले बाईस वर्षों तक राज्य किया। किन्तु राजसिंहासन प्राप्त करने के लिए इस अदम्य उत्साह वाली स्त्री को भी अनेक सालों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी व षड्यंत्र करके तीन राजाओं को परलोक भेजना पड़ा। राजा का देवत्व अब सर्वमान्य हो चुका था। उसको परमेश्वर का अवतार भी मानते थे। राजस्थान के लंतिगदेव राजा ने अपनी मूर्ति को प्रस्थापित करने के लिए एक मन्दिर भी बनवाया था[१]।

इस समय में भी विधिपूर्वक राज्याभिषेक होता था, किन्तु उसका स्वरूप पौराणिक था, न कि वैदिक। कृत्यकल्पतरु के राजधर्म कांड में उसका विस्तृत वर्णन मिलता है। कुछ वैदिक मंत्रों का पाठ होता था; किन्तु उनका राज्याभिषेक-विधि से विशेष संबंध नहीं था। इस समय समाज का विश्वास फलज्योतिष पर विशेष था। इसलिए योग्य मुहूर्त निश्चित करने में विशेष खबरदारी ली जाती थी। अभिषेक से पहले राजा का शरीर अनेकविध मृत्तिकाओं से मर्दित किया जाता था। हाथी के दंतों के द्वारा उत्खनित मृत्तिका राजा के दाहिने हाथ को लगायी जाती थी, साँड के शृंगों से उत्खनित मृत्तिका उसके बायें हाथ को लगायी जाती थी। ऐसा करने से राजा के भुजदंड हाथी व साँड के समान बलवान हो जाएँगे। मृत्तिकामर्दन के पश्चात् राजा का चारो वर्णों

१. ए. इं., ९.७९

के लोग अभिषेक करते थे। अभिषेक के लिए जल अनेक पवित्र नदियों से लाया जाता था। ऐंद्री-शांति, ग्रह-शांति, वैनायकी-शांति इत्यादि धार्मिक विधियाँ अरिष्ट-निवारण के लिए की जाती थीं। इनके पश्चात् गणेश, ब्रह्मा, शिव, विष्णु इत्यादि देवताओं का पूजन होता था। धार्मिक विधि समाप्त होने के बाद राजा व्याघ्रचर्म से ढके हुए सिंहासन पर विराजमान होता था। छत्रधारी उसपर छत्र धरता था व चौरीधारी चौरी। प्रतिष्ठित नागरिक उससे मिलकर भेंट समर्पित करते थे। अंत में राजा का राज्याभिषेक का जुलूस नगर-भ्रमण के लिए निकलता था। इस अवसर पर कैदी जेलखाने से मुक्त किये जाते थे।

अभिषेक-वर्णन में राजा द्वारा शपथविधि का निर्देश नहीं मिलता है। वह प्रथा अब बंद हो चली थी। फलस्वरूप राज्याभिषेक का वैधानिक (Constitutional) महत्व लुप्त हो गया था।

अभिलेखों में युवराजाभिषेक का उल्लेख कभी-कभी आता है। एक अभि-लेख में गाहडवालवंशीय युवराज जयचन्द के 'युवराजाभिषिक्त' होने का उल्लेख हुआ है[1]।

धार्मिक विधि-संस्कारों का महत्त्व बढ़ जाने के कारण राजा कभी-कभी वार्द्धक्यावस्था में गद्दी का त्याग करके संन्यास लेते थे। पालवंशीय प्रथम निग्रहपाल, चंदेल्लवंशीय जयवर्मन, प्रतिहारवंशीय भल्लादित्य व भोट, चौलुक्यवंशीय दुर्लभराज, कन्नौज का वर्मवंशीय अम्म इत्यादि राजाओं ने इस प्रथा को अपनाया था। कुछ स्मृतियों में वृद्धावस्था की अंतिम सीमा पर रहने वाले को शरीरत्याग की अनुमति दी है। जैनधर्म को भी सल्लेखना व्रत के अंतर्गत यह मान्य था। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर चेदि राजा गांगेयदेव व चंदेल्ल राजा धंगेय ने प्रयाग में त्रिवेणी पर जलसमाधि ली थी।

उत्तर भारत में रानियाँ या राजकुलस्त्रियाँ राजकाज में भाग नहीं लेती थीं। कभी-कभी रानियाँ अपने नाम से भूमिदान करती थीं; किन्तु इसलिए वे राजा की अनुमति पहले ही ले लेती थीं, जैसा कि गोविन्दचन्द्र की रानी नयनकेलि देवी ने किया था[2]।

---

१ ए. इं., ४. पृ. ११८
२ ए. इं., ४. पृ. १०८

युवराज शासन-कार्य में बहुत दिलचस्पी लेता था। उसे भूमिदान करने का भी अधिकार रहता था[१]। सेवदी अभिलेख से ज्ञात होता है कि महाराजाधिराज अश्वराज व युवराज कटुकराज दोनों राज्य करते थे। ऐसी स्थिति राजा की चरमवृद्धावस्था में उत्पन्न होती थी। छोटे राजपुत्र प्रांतपाल नियुक्त किये जाते थे।

शासन-कार्य में मंत्रिमण्डल अपना हाथ बँटाता था। अष्टम अध्याय (पृ० १६३) में हमने दिखाया है कि राजा मंत्रियों का कैसा सम्मान करते थे व उनकी सलाह के अनुसार राज्यसंचालन करते थे। काश्मीर में एक मंत्री ने राजा को बचाने के लिए आत्महत्या की थी। किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो दिखाते हैं कि कुछ राजा मंत्रियों की सलाह नहीं मानते थे। पालवंश के मदनपाल ने मंत्रियों के उपदेश का अनादर किया, जिसके फलस्वरूप उसका विनाश हुआ। कामुक राजाओं की विचित्र लीलाओं से मंत्रिमण्डल कभी-कभी संतस्त्र हो जाता था। राजा की प्रेयसियाँ कभी-कभी अस्पृश्य जाति की होती थीं; तब भी उस परंपराप्रधान-काल में मंत्री कुछ नहीं कर पाते थे। राजा व मंत्रिमंडल के संबंध में परस्पर विरुद्ध उदाहरण मिलने के कारण यह कहना कठिन है कि इस समय पूर्व युग की तुलना में मंत्रिगण अधिक निर्बल थे या नहीं। राजा व मंत्रिमंडल का परस्पर सापेक्ष महत्व प्रायः उनकी वैयक्तिक योग्यता व स्वभाव पर निर्भर रहता था।

पूर्वकालीन स्मृतियों व अभिलेखों में मंत्रियों में अपेक्षित गुण इस समय भी आवश्यक समझे जाते थे। अनुवंशिक मंत्रित्व के उदाहरण अनेक मिलते हैं। चंदेल-शासन में प्रभास मंत्री के सात वंशज कैसे पाँच विभिन्न राजाओं के मंत्री थे, यह आठवें अध्याय में दिखाया है। पाल-अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गर्ग व उसके चार वंशज—दर्भपाणि, सोमेश्वर, केदार मिश्र व गौरव मिश्र—राजा धर्मपाल व उसके तीन उत्तराधिकारियों के मन्त्री थे। संभव है कि ऐसे और भी अनेक उदाहरण होंगे, जो हमें अब अज्ञात हैं। इस समय मंत्रिमण्डल की कार्य-पद्धति कैसी थी, यह शुक्रनीति के आधार पर आठवें अध्याय में पहले ही दिखाया गया है। इसलिए यहाँ उसकी पुनरुक्ति न करेंगे।

इस समय के अभिलेखों में खोल, हिरण्यसमुदायिक इत्यादि अधिकारियों

---

१ इं. ऍ., १४. १०१-४. ए. इं., ४, ११८.

के नये पद दिखायी देते हैं। किन्तु उनका कार्यक्षेत्र क्या था, यह ज्ञात नहीं है। विषय या ज़िले के उपविभागों के अनेक नाम पाये जाते हैं; जैसे वीथि, वृत्ति, चतुरिका, पत्तला इत्यादि। इनमें से पत्तला तहसील के बराबर था। किन्तु इतरों के विस्तार के बारे में हमें ठीक ज्ञान नहीं।

शासनालय (सेक्रेटेरियट) की कार्य-पद्धति यथापूर्व चलती थी। ताम्र-पट्टदान-पद्धति अधिकाधिक रूढ़ होने के कारण उसकी ओर शासनालय को सतर्क रहना पड़ता था। पुराने ताम्रपट्टों के लेख जब अस्पष्ट होते थे, तब शासनालय को उनकी जगह नये ताम्रपट्ट देना आवश्यक होता था (ए. इं. १६-१५)। कभी-कभी लोग जाली ताम्रपट्ट भी बना लेते थे। शासनालय के अधिकारी उनकी जाँच करके उनको अनधिकृत व निरुपयोगी पुकारते थे। किंतु एक ऐसा भी उदाहरण मिलता है कि जहाँ घूस लेकर एक शासनालय के अधिकारी ने स्वयं जाली ताम्रपट्ट बनाया था। उसकी जाँच करने के लिए एक दूसरा अधिकारी नियुक्त किया गया, जिसने षड्यंत्र का भंडाफोड़ किया (ए. इं. १४. १८२)।

सामंतवाद या सरंजामी-पद्धति (Feudalism) इस कालखंड में अत्यधिक रूढ़ हुई। अपने रिश्तेदारों[1] व अधिकारियों को राजा अधिक संख्या में इनाम देने लगे, जैसे कि काश्मीर में अवंतिवर्मन ने किया[2]। परमार, चौलुक्य व चाहमान राजाओं ने भी वही नीति अपनायी थी। चाहमान पृथ्वीराज के १५० सामंत थे, कलचुरि कर्ण के १३६ व चौलुक्य कुमार पाल ७२[3]। अनेक अधिकारी भी, जब उनका पद अनुवंशिक होता था तब सामंत बनने लगे। छोटे राज्यों में इतनी बड़ी संख्या में सामंत होने के कारण राजा सामंतों के राजा हुए, न कि प्रजा के। सामंतों की शक्ति बढ़ गयी व राजा की घट गयी।

---

१ रानी, युवराज, छोटे कुमार इत्यादि को जो जमीन इनाम दी जाती थी उसको गाहडवाल-शासन में 'राजकीय भोग' व चाहमान-शासन में 'ग्रासभूमि' कहते थे। छोटे राज्य में ये इनाम छोटे थे; कुमार लखनपाल व अभयपाल की जमीनदारी केवल एक गाँव की थी (ए. इं. ११. ५०)

२ विभज्य बंधुभृद्भ्यः पार्थिवो बुभुजे श्रियम्। राजतरंगिणी, ५. २१

३ प्रबंध चिंतामणि, पृ. ३३

इस परिस्थिति में प्रजा की स्थिति अधिक दयनीय हुई। एक ८४ गाँवों का सामंत भी अपना खर्चीला दरबार रखता था व उसका विदेशमंत्री भी रहता था[१]। अनेक सामंतों के खर्च का बोझ प्रजा को सहन करना पड़ता। कर बढ़ते गये। प्राणिहत्या के लिए जो दंड कुमारपाल ने निश्चित किया था उसका प्रमाण उसके सामंतों ने बढ़ाया। कुछ सामंत इस अपराध के लिए राजवंशियों से केवल १ द्रंम व सामान्य प्रजा से पाँच द्रंम दंड लेने लगे। इससे सामंतों की मनमानी पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। गरीब प्रजा को एक ही अपराध के लिए राजा व सामंत ये दोनों दंड देने लगे। सामंत आपस में लड़ते थे व अपने राजा के साथ भी लड़ते थे। वे अपने राजा के शत्रुओं के साथ पूछे बिना संधि करने लगे व उसके मित्रों के साथ युद्ध। मानसोल्लास, कल्पतरु इत्यादि ग्रंथों में सामंतों के करद व अकरद ऐसे दोनों विभाग किये गये हैं। करद सामंत राजा को मासिक या सालाना कर देते थे, अकरद सामंत अपनी इच्छा के अनुसार कभी देते थे कभी नहीं। फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार कमजोर होने लगी व शक्तिशाली सामंत शिरजोर। इस कारण विदेशियों के हमले विशेष प्रयास के बिना सफल हुए।

शुक्रनीति (२. १४०) के आधार पर हम इस समय के सेना-विभाग का अधिक विस्तृत वर्णन दे सकते हैं। सैन्य का संघटन अत्यंत शिथिल था। कुछ दस्ते केन्द्रीय सरकार के थे, कुछ सामंतों के। कुछ दस्ते अपने-अपने अधिकारी लेकर आते थे, कुछ दस्तों पर केन्द्रीय सरकार को अधिकारी नियुक्त करना पड़ता था। सैनिक-शिक्षण कुछ हद तक ग्रामों में दिया जाता था और आगे वह सैन्य-भरती के पश्चात् पूरा किया जाता था। कुछ सैनिक अपने अपने शस्त्र लेकर आते थे, दूसरों को सरकार द्वारा शस्त्रास्त्र दिये जाते थे। मालव, खश, कर्णाट, लाट इत्यादि प्रांतों के सैनिक शौर्य के लिए प्रसिद्ध थे। जो राजा उनको अधिक वेतन देता था, उसके सैन्य में वे लड़ते थे।

दस सैनिकों पर गौल्मिक, सौ पर शतानीक, हजार पर सहस्त्रानीक व दस हजार पर आयुतिक नाम के अधिकारी केंद्रीय-सैन्य में नियुक्त किये जाते थे। सैन्य का एक दफ़्तर रहता था, जिससे शस्त्रास्त्र, भोजन-सामग्री, तंबू, यातायात-साधन, वेतन, इत्यादि की व्यवस्था की जाती थी। किन्तु ऐसा सुसंघटित

---

१ प्राकृत व संस्कृत शिलालेख, पृ. २०५-७

सैन्य संपूर्ण सेना का केवल एक भाग था व सामंतादिकों के सैन्य में मिलाये जाने से उसका संघटन प्रभावकारी नहीं रह पाता था।

किलों के इन्तजाम पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बहुसंख्य राजा मुसलमानी अभियान के समय किले का आश्रय लेते थे व वहाँ से युद्ध चलाने का प्रयत्न करते थे।

शासन-पद्धति के शेष अंगों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, चूँकि वहाँ कुछ नाविन्य या वैशिष्ट्य नहीं था। सामान्यतः शेष भागों में शासन-पद्धति हर्ष के समान ही थी।

खंड ६

(दक्षिण हिंदुस्तान की शासन-पद्धति[1])

दक्षिण हिंदुस्तान में पल्लव, चोल, केरल, पांड्य, होयसल, विजयनगर इत्यादि राज्य थे। किंतु उनके केन्द्रीय व प्रांतीय शासन-विभाग, मंत्रिमंडल इत्यादि विषयों पर हमें अभी तक विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। कुछ अभिलेख स्थानीय शासन व पंचायतों का विस्तृत विवरण पेश करते हैं, जो हमने पहले ही ग्यारहवें अध्याय में (पृ. २०० पर) दे दिया है। उसकी पुनरुक्ति करने का कोई कारण नहीं है।

राजा के अधिकार, कर्त्तव्य व जिम्मेदारी के विषय में दक्षिण व उत्तर भारत में कुछ भेद नहीं था। पंचम अध्याय में किया हुआ विवेचन दक्षिण भारत के लिए भी सामान्यतया लागू होगा।

मंत्रिमंडल की आवश्यकता बताते हुए 'कुरल' कहता है कि जिस राजा पर मंत्रिमंडल का नियंत्रण नहीं रहता है वह दूसरे के षड्यंत्र के बिना ही नष्ट हो जाता है। अर्थात् सामान्यतः सर्वत्र मंत्रिमंडल रहता था। एक भूमिदान के समय एक कदंब राजा ने अपने मंत्रिमंडल की सलाह ली थी[2]। वैकुंठ पेरुमाल अभिलेख

---

१ अधिक विस्तृत विवरण के लिए डाक्टर टी० वी० महालिंगम् कृत साउथ इंडियन पॉलिटी देखिए।

२ जर्नल आफ़ दी बॉंबे ब्रांच आफ़ दी रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, ९, २७५, २८४

में पल्लव-राजा नंदिवर्मन् के मंत्रिमंडल का उल्लेख मिलता है[1]। चालुक्य-राजा जगदेक मल्ल का एक मंत्री कालिदास नाम का था। वेंगी के चालुक्यों के अभिलेखों में मंत्री व प्रधानों का उल्लेख बारंबार आता है। मणिमेखलइ व शिलप्पडिकरम् ग्रंथों में जिन १८ उच्च अधिकारियों का उल्लेख आता है वे भी प्रायः मंत्रिमंडल के सभासद् होंगे।

मंत्रिमंडल के सदस्य आपस में शासन-विभागों का कैसा बँटवारा करते थे, उनकी कार्यसंचालन की पद्धति किस प्रकार की थी इत्यादि विषयों पर दक्षिण भारतीय अभिलेख कुछ प्रकाश नहीं डालते। प्रधान-सेनापति व पुरोहितों का कार्यक्षेत्र उनके नामों से ज्ञात होता है। जैसा कि उत्तर भारत में कभी-कभी होता था, दक्षिण भारत में भी एक मंत्री अनेक विभागों का काम करता था। प्रधानमंत्री ही कभी-कभी विदेशमंत्री भी होता था। होयसल राजा नरसिंह के समय उसका प्रधानमंत्री लोकमय सेनामंत्री भी था।

कुरल, आमुक्तमाल्यद इत्यादि ग्रंथों में मंत्रियों की योग्यता के विषय में जो विवेचन है, वह कामंदक, शुक्र इत्यादि नीति-ग्रंथों के विचारों से मिलता-जुलता है। आमुक्तमाल्यद ग्रंथ मन्त्रियों के विषय में सशंक है। उसके अनुसार राजा को हमेशा सतर्क रह कर यह देखना चाहिए कि मन्त्रियों के सुझाव मान्य करने के कारण अनावश्यक व अफलदायक खर्च तो नहीं बढ़ रहा है। मंत्रियों पर भी गुप्तचर रखने की आवश्यकता इस ग्रंथ में प्रतिपादित की गयी है। विभागाध्यक्ष के विषय में भी शायद यह खबरदारी ली जाती थी।

मन्त्रियों के चारित्र्य, व्यक्तित्त्व व शासनपटुता पर उनका महत्व निर्भर था। तब भी कृष्णदेवराय के समान प्रतापी राजा मंत्रियों की सलाह को ठुकरा कर युद्ध की घोषणा करता था, जैसे उसने बीजापुर-युद्ध के समय किया था। किन्तु एक जगह पर कृष्णदेवराय स्वयं कहता है 'मैं सिंहासन पर बैठा हूँ; किन्तु सारे राज्य का संचालन मन्त्री कर रहें हैं। मुझे कोई नहीं पूछता[2]।"

उच्चाधिकारियों को अमात्य कहते थे। उनका उल्लेख सातवाहन व पल्लव अभिलेखों में आया है। वे कभी जिलाधीश का काम करते थे कभी शासनालय का। उनमें से ही प्रायः कुछ मंत्री चुने जाते थे।

---

१ साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स, ४. १३५

२ जर्नल ऑफ़ तेलुगु अकेडमी, २, पृ. ३०

चोल-राज्य में शासनालय कैसे काम करता था, उसका वर्णन हम पहले ही कर चुके हैं (अध्याय ६ पृ० १६०) । इतर प्राचीन राज्यों के विषय में हमें शासनालय का ज्ञान नहीं है। अब्दुररसाक ने विजयनगर-शासनालय का अच्छा वर्णन किया है "राजमहल की दाहिनी ओर दीवानखाना (शासनालय) है। उसकी इमारत भव्य व विशाल है। मुख्य हॉल चालीस खंभों का है। उसकी बगल में २० फुट लंबा व १८ फुट चौड़ा बरामदा है, जिसमें दफ़्तर रखे जाते हैं व कर्मचारी लेखनादि कार्य करते हैं[१]।" पल्लव, चोल इत्यादि का शासनालय इसी प्रकार का, किंतु संभवतः थोड़ा-सा छोटा होगा।

राजा की मौखिक आज्ञाओं को तिरुवक्केलवी नाम के अधिकारी लिपिबद्ध करते थे। 'नोम्मंदिर ओलवी' का काम मंत्रिमंडल के निर्णयों को लिखना था। शासनालय का एक विभाग केंद्रीय-सरकार के आदेशों को जिलाधीश, ग्राम-पंचायतों इत्यादि के पास भेजता था, व दूसरा विभाग अधीन अधिकारी जो पूछ-ताछ करते थे उसका जवाब देता था। 'करनम' नाम के अधिकारी दौरे पर जाकर शासनकार्य की निगरानी करते थे। खेती की जमीन का नाप अत्यन्त सावधानी से लिया जाता था। बृहदीश्वर मन्दिर के एक लेख से पता चलता है कि वेली का १/५२,४२८,८००,००० अंश भी करनिर्धारण करने के लिए ठीक तरह से नापा जाता था (सा. इं. इ. २.६२)।

अब हम राज्य के शासनीय विभागों पर विचार करेंगे। ईसा की तीसरी सदी तक राज्य छोटे होते थे। सातवाहन-साम्राज्य विस्तृत था, किन्तु उसका प्रान्तों में विभाजन हुआ था या नहीं, यह कहना कठिन है। आहार या ज़िले से बड़े विभाग का उल्लेख सातवाहन-अभिलेखों में नहीं आता। रथिक, महारथिक, भोजक व महाभोजक सातवाहन-साम्राज्य के सामंत थे, न कि प्रांताधिप। पल्लव, कदंब व गंग, राज्य छोटे थे। उनके समय में प्रांतीय सरकार का विकास नहीं हो पाया। चोल-साम्राज्य में ६ मण्डल थे, व हरएक मण्डल दो या तीन ज़िलों के बराबर था। इसलिए ये मण्डल कमिश्नरियों के बराबर थे, न कि प्रांतों के बराबर। मण्डल 'वलनाडुओं' में विभाजित किया जाता था व वलनाडु 'नाडुओं' में। नाडु को कुर्रम् या कोट्टम् भी कहते थे। नाडु व ग्राम के बीच मेलाग्राम

---

१ इलियट व डौसन, भाग ४, पृ० १०७

नाम का विभाग था, जिसमें प्रायः ५० ग्राम तक अंतर्भूत होते थे। अभिलेखों में 'स्थल' नामक विभाग का भी उल्लेख आता है, जिसमें कभी ५३, कभी २६, कभी १४ तो कभी ११ ग्राम होते थे। उत्तर हिन्दुस्तान में भी इस प्रकार के छोटे शासन-विभाग होते थे, यह हमने दिखाया है (पीछे पृ० २६१)।

मण्डलाधिपति कभी राजकुमार थे व कभी उच्चाधिकारी। पराजित राजाओं को भी कभी-कभी यह पद दिया जाता था, किन्तु उन पर केंद्रीय-सरकार का पर्याप्त नियंत्रण रहता था। मण्डलाधिपतियों का सैन्य रहता था व जब उनका पद अनुवंशिक हो जाता था, तब वे सामंत बन जाते थे।

सामंतों पर केन्द्रीय-सरकार का नियंत्रण रहता था। उनकी राजधानियों में केन्द्रीय-सरकार का एक-एक प्रतिनिधि रहता था जो ब्रिटिश सरकार के रेज़िडेंट के समान निरीक्षण व नियंत्रण का काम करता था। सामंत राजद्रोही विचारों को प्रश्रय देता है या नहीं, उससे अपेक्षित सैनिक दस्ते उचित समय पर भेजे जाते हैं या नहीं इत्यादि विषयों पर वह विशेष ध्यान देता था। सामंतों के प्रतिनिधि भी सम्राट् के दरबार में होते थे, जो सम्राट् की सरकार का रुख सामंतों को लिख भेजते थे। सामंत को स्वयं जाकर राजनिष्ठा व्यक्त करनी पड़ती थी व राज्याभिषेक, विवाह, पुत्रजन्म इत्यादि सुअवसरों पर भेंट देनी पड़ती थी।

दक्षिण भारतीय शासन में ग्रामसभा या पंचायतों का एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान था। किंतु उनका पल्लवपूर्वकालीन इतिहास प्रायः अज्ञात है। पल्लव-शासन में राजा के आदेश, 'ग्रामेयक' या 'मुतक' को भेजे जाते थे। हरएक ग्राम में लोग 'मनरम्' में मिलकर ग्रामशासन-विषयक प्रश्न हल करते थे। 'मनरम्' प्रायः किसी विशाल वृक्ष की छाया में होता था। पल्लव-पूर्वकालीन अभिलेखों में शायद ही ग्रामसभा का उल्लेख आता है। नवीं सदी से हमें ग्राम-सभा के विषय में अधिकाधिक ज्ञान मिलने लगता है। ब्राह्मणप्रधान ग्रामों की पंचायत को 'सभा' कहते थे। ब्राह्मणेतर-प्रधान ग्रामों की पंचायत को 'ऊर'। इन दोनों के विषय में भी सविस्तर वर्णन आ चुका है (अध्याय ११ पृ. २००)।

दक्षिण भारत में भी राजा मुख्य न्यायाधीश था। मणुनीतिकंड चोल के समान कुछ राजा राजमहल के द्वार पर एक 'न्याय घंटा' रखते थे। अपने अन्याय के परिमार्जन के लिए कोई भी व्यक्ति इस घंटे को बजा सकता था।

उसकी अवाज़ सुनकर राजा स्वयं बाहर आकर न्याय करता था। राजा की मदद करने के लिए न्यायाधीश भी रहते थे। प्रांत व ज़िले में, प्रांतपाल व ज़िलाधीश जैसे अधिकारी राजा के प्रतिनिधि-समान थे; वे भी न्याय करते थे। सरकारी अदालतों के अलावा गैरसरकारी पंचायतें भी थीं, जिनको संगमकाल में 'मनरम्' या 'अवैक्कुलग्' कहते थे। विजयनगर-साम्राज्य में भी गैरसरकारी अदालतें थीं। उनका वर्णन अध्याय १२ पृ. २२० पर किया गया है।

दक्षिण भारत में भी मालगुजारी मुख्य कर थी। धान, ईख इत्यादि बागाईत[१] अनाज पर वह ५० प्रतिशत थी; अरहर, मकाई, ज्वार इत्यादि जिराइत अनाज पर २५ प्रतिशत। सभा या ऊर को यह कर वसूल करना पड़ता था। यदि उचित समझे तो सभा किसी व्यक्ति को यह कर माफ कर सकती थी। किंतु ऐसी परिस्थति में वह कर इतर गाँववालों में बाँटा जाता था। ग्रामसभा सदा के लिए भी यह कर माफ कर सकती थी। ऐसी परिस्थिति में वह ऐसी रकम लेती थी जिसके व्याज से वार्षिक कर सरकार को दिया जा सके। ग्रामसभा के सभासद् कर वसूलने के लिए व्यक्तिशः जिम्मेदार माने जाते थे। यदि उचित मात्रा में कर-वसूली न हो, तो केंद्रीय सरकार के अधिकारी उनको पानी या तेज धूप में खड़ा रहने की सजा दे सकते थे।

स्मृतियों में यह आदेश है कि बढ़ई, लुहार इत्यादि धंधों के लोग सरकार के लिए महीने में एक या दो दिन मुफ़्त काम करें। उनसे शायद दूसरा कर नहीं लिया जाता था। किंतु दक्षिण भारत के तामिल अभिलेख यह दिखाते हैं कि वहाँ ऐसे धंधे के लोगों से कर वसूला जाता था। मालूम पड़ता है कि बेगारी का रूपांतर आगे चल कर करों में हुआ था।

बाजार, शहर या ग्राम का द्वार, नदी के घाट ऐसे स्थानों पर चुंगी ली जाती थी।

ऐसा मालूम पड़ता है कि नवीं-दसवीं सदी में दक्षिण हिंदुस्तान में भी करों का बोझ क्रमशः बढ़ता जा रहा था। एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है

---

१ मराठी में चावल, खाने का पान इत्यादि जिन पदार्थों में कुएँ, नहर इत्यादि से विशेष मात्रा में पानी देना आवश्यक होता है, उनको बागाईत अनाज व इतर अनाजों को जिराइत अनाज कहते हैं।

कि राजराज के समय जुल्मी कर न देने के कारण एक स्त्री को दिव्य (ordeal) करने की सजा हुई व उसने ऊब कर आत्महत्या कर ली[१]। किंतु कभी-कभी सब ग्रामवासी जुट कर अन्यायी करों का प्रतीकार भी करते थे व अपने उद्देश्य में सफल भी होते थे। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तीसरे राजराज के समय में पाँच नाडुओं के ग्रामीणों ने यह निश्चय किया कि अन्यायपूर्ण करों का वे मिलकर विरोध करें[२]। प्रथम कुलोत्तुंग के काल में लोगों ने यह तय किया कि कूपसिंचित क्षेत्रों पर उपज का $\frac{1}{3}$ कर उचित है व इतर क्षेत्रों पर $\frac{1}{5}$[३]। एक दूसरा अभिलेख कहता है, 'अन्यायी करों से हम भाग जाने का विचार कर रहे थे। किंतु कुछ समय विचार करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे कि हम सरकार द्वारा इस कारण पीसे जाते हैं कि हम मिलकर विरोध नहीं करते। अब हमने निश्चय किया है कि हममें से कोई भी अन्यायी कर नहीं देगा[४]। यदि सरकार लोगों की न मानती तो लोग देश या गाँव छोड़ देने की धमकी देते थे। कृष्णदेवराय-जैसा प्रबल सम्राट् भी ऐसी घटना नहीं चाहता था। आमुक्तमाल्यद में वह कहता है, 'उस राज्य की कभी भी तरक्की न होगी, जिसके अधिकारी करों से ऊब कर भागनेवाली प्रजा को वापस नहीं बुलाते (४. ३७)।

इन उदाहरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नवीं सदी से करों का बोझ कभी-कभी असह्य हो जाता था। यदि राजा बलशाली हो, तो वह अपने कर तलवार के जोर से वसूलता था। यदि प्रजा मिलकर प्रतिकार करती, तो उसके प्रयत्न अनेक बार सफल हो जाते थे।

किंतु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि अभिलेखों में जैसे करों में जबरदस्ती के उदाहरण मिलते हैं, वैसे ही अकाल, बाढ़ इत्यादि के समय छूट के भी। १४०२ ई० में कावेरी नदी में बड़ी बाढ़ आ गयी। फलस्वरूप दोनों ओर

---

१ साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट १९०७, परिच्छेद ४२

२ साउथ इंडियन इन्स्क्रिप्शन्स, भाग ६, न. ४८, ५०, ५८

३ एपिग्राफिया कर्नाटिका, भा. १०, मुबा. ४९ अ.

४ साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट, १९१८, परिच्छेद ६८

की जमीन पर बालू छा गयी व उसमें खेती करना अशक्य हो गया। उस समय सरकार ने लोगों की मदद की। करों में छूट दी गयी व कर-वसूली भी कुछ समय तक स्थगित कर दी गयी[1]। यदि अराजकता, विदेशी हमला या गृह-युद्ध के कारण किसी गाँव को क्षति पहुँचती, तो लोगों को करों में रियायत दी जाती थी। दुर्भाग्य से हमारे पास यह जानने का कोई उपाय नहीं है कि लोगों को करों के बोझ से सतानेवाले शासक संख्या में अधिक थे या रियायत देने वाले।

दक्षिण हिंदुस्तान की सरकारों के खर्चों की मदें उत्तर हिंदुस्तानीय राज्यों की सरकारों के खर्चों की मदों से विभिन्न न थीं। राजपरिवार व दरबार पर काफी खर्च होता था। सेना का खर्च विशाल था, चूँकि भिन्न-भिन्न राज्यों में हमेशा युद्ध होते रहते थे। आमुक्तमाल्यद (४. २६२) में कृष्णदेवराय का इस विषय में मत दिया गया है। वह कहता है कि सैन्य के हाथी, घोड़े, खच्चर इत्यादि खरीदने में व उनके खिलाने में, सैनिकों की तनखाह में, ब्राह्मणों व मंदिरों को दान देने में और राजा के आमोद-प्रमोद में जो पैसा लगता है, उसको खर्च कहना अनुचित है। चोल व पांड्य राज्यों में नौकादल भी रहता था; उसके लिए भी खर्च करना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में, जैसा कि शुक्रनीति में बताया गया है, सैन्यखर्च आमदनी के ५० प्रतिशत से शायद ही कम होगा। अभिलेखों से पता चलता है कि अनेक मंदिरों को सरकार भूमि देती थी। मंदिरों में उच्चशिक्षण की पाठशालाएँ भी होती थीं, जहाँ विद्वान ब्राह्मण व विद्यार्थियों को वृत्तियाँ दी जाती थीं। अनेक विशाल मंदिर दक्षिण भारत के गौरव के विषय हैं, किन्तु उनके बनाने में पर्याप्त सम्पत्ति का खर्च हुआ होगा। इन सब कारणों से दक्षिण भारतीय सरकारों का खर्च व प्रजा का करों का बोझ पर्याप्त बड़ा हुआ होगा। आर्यावर्त की अपेक्षा दक्षिण हिंदुस्तान में आज असली वेदविद्या अधिक दृढ़ मूल है; उसका श्रेय भी सरकारों के इस विषय में मुक्तहस्त से खर्च करने की नीति को देना पड़ेगा।

ज्यादातर सरकारी अधिकारियों को मासिक वेतन की जगह इनाम में जमीन दी जाती थी, जिसकी आमदनी से वे अपना गुजारा करते थे।

---

१ साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट, १९२३, न. ६२९

सरकारी आमदनी का चौथा भाग 'गुप्त' निधि में रखा जाता था, जो केवल राष्ट्रीय आपत्ति के समय उपयोग में लाया जाता था। इन निधियों के कारण ही मुसलमानों के अभियान के समय दक्षिण भारत में अपार संपत्ति मिल सकी।

शेष विषयों में दक्षिण भारतीय शासन-पद्धति उत्तर भारतीय शासन-पद्धति से मिलती-जुलती थी।

अध्याय १७

गुणदोष-विवेचन

●

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति का वर्णन व विवेचन अब पूरा हो गया है। हमने राज्य और उसका स्वरूप, ध्येय तथा कार्यों के विषय में प्राचीन भारतीयों के विचारों, आदर्शों और शासन की विभिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। विभिन्न राज्यों की शासन-पद्धतियों का भी चित्रण हो चुका है। अब हम प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति का गुणदोष-विवेचन करेंगे। ऐसा करने में हमें पूरी निष्पक्षता से काम लेना पड़ेगा।

पर हमें यह भी न भूलना चाहिये कि प्राचीन शासकों और संस्थाओं की परीक्षा ऐसे मानदंड से नहीं करनी चाहिये जिसका उस समय कहीं अस्तित्व भी न था। हमें हिंदू राज्यतंत्र के विषय में धारणा स्थिर करते समय उस समय के वातावरण और परिस्थिति का भी ध्यान रखना होगा। प्राचीनकाल की इस समीक्षा से वर्तमान और भविष्य के उपयोग की जो बातें प्रकट होंगी उनका भी हमें उल्लेख कर देना है।

प्राचीन भारत में गण-राज्य, उच्चजन-तंत्र, द्वैराज्य और नृपतंत्र आदि विविध शासन-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, पर अंत में नृपतंत्र का ही सर्वत्र प्रचार हुआ। यह घटना प्राचीन भारत में ही नहीं घटी, प्राचीन यूरोप में भी ऐसा ही हुआ। प्राचीन ग्रीस और इटली में भी नृपतंत्र और साम्राज्य ने गण-राज्यों को विनष्ट किया था। प्रतिनिधि शासन की पद्धति प्राचीनकाल में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों ही देशों को ज्ञात न थी अतएव गणराज्य या प्रजातंत्र तभी तक कायम रह सकते थे जब तक राज्य का विस्तार थोड़ा हो और लोकसभा के सदस्य, जो अधिकतर उच्चवर्ग के होते थे, एक स्थान पर एकत्र हो सकें। प्राचीन ग्रीस और रोम के प्रजातंत्र-राज्यों की भाँति यहाँ के गणराज्यों में भी सत्ता साधारण जन के हाथ में न होकर क्षत्रिय, या कहीं-कहीं ब्राह्मण जैसे छोटे

से विशेषाधिकारी वर्ग के ही हाथों में रहती थी। हिंदू राज्यतंत्र ऐसे समाज में काम कर रहा था जहाँ जाति-प्रथा वर्तमान थी और *शासनकार्य* क्षत्रियों का कार्य और कर्तव्य माना जाता था; कुछ हद तक ब्राह्मण भी इस कार्य में उनकी सहायता करते थे। अतः प्राचीन भारतीय गणराज्यों में प्रतिनिधि चुनने या *मतदान* (*franchise*) का अधिकार साधारण जन को नहीं दिया जा सकता था। परंतु वर्तमान युग जन्मना जाति द्वारा कार्य-विभाजन का सिद्धांत स्वीकार नहीं करता अतः आज सब को मताधिकार देना होगा। हमारे नये विधान ने वह दिया भी है।

यह लोकतंत्र का युग है और हाल में भारतवर्ष (ई. स. १६५१ में) स्वतंत्र प्रजातंत्र हो चुका। अतः हमें उन कारणों को जान लेना चाहिये जिससे प्राचीन भारतीय गणराज्यों का विनाश हुआ। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में लोकतंत्र-पद्धति छोटे राज्यों में ही सफलतापूर्वक चल सकती थी। इसके लिए शासक वर्ग का एक बिरादरी का होना भी आवश्यक था। इस प्रकार के गणतंत्र विस्तृत प्रादेशिक राज्य का रूप न धारण कर सके। परंतु अब वैज्ञानिक यातायात ने दूरी की कठिनाई हल कर दी है, प्रतिनिधि शासन-पद्धति का आविष्कार और सर्वत्र प्रचार हो चुका है। जातीय राज्य का अध्याय भी कब का बीत चुका है और राष्ट्रीय भावना का विकास हो चुका है। अतएव अब कोई कारण नहीं कि भारत में प्रजातंत्र-पद्धति क्यों न सफलतापूर्वक चल सके।

प्राचीन गण-राज्यों के विनाश का एक कारण राजा को देवता मानने और राजभक्ति की भावना का अत्यधिक प्राबल्य प्राप्त करना भी था। जब गणराज्य के अध्यक्ष, सेनापति और शासन-परिषद् के सदस्यों के पद भी अनुवंशिक होने लगे तब इनमें और नृपतंत्र में अंतर करना कठिन हो गया। अब राजा के देवत्व का सिद्धांत मर चुका है और यह वर्तमान युग में लोकतंत्रात्मक भावनाओं के विकास या संस्थाओं की स्थापना में बाधक नहीं हो सकता। राजवंशों के कुछ लोग चुनाव में भाग लेकर निर्वाचन द्वारा लोकसभाओं में प्रविष्ट हुए हैं व उनमें से कुछ मंत्री, उपमंत्री, पार्लमेंटरी सेक्रेटरी इत्यादि पदों पर काम भी कर रहे हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास और राज्यतंत्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे गणराज्य तब तक फलते-फूलते रहे जब तक उनकी सभाओं के सदस्यों में

एकता और मेल रहा। उनमें आपसी झगड़े की प्रवृत्ति बराबर वर्तमान रही। कुछ गणराज्यों में केंद्रीय-सभा के प्रत्येक सदस्य को राजा की उपाधि दे दी जाती थी। ये सदस्य किसी को भी अपना नेता मानने को तैयार न थे क्योंकि इसमें वे अपनी हेठी मानते थे। पड़ोसी राजा गणराज्यों की सभाओं के सदस्यों में फूट डालने के लिए अपने चर भेजते थे। गणसभाओं में अक्सर गुट और दल बन जाते थे जो एक दूसरे को नीचा दिखाने की सदा चेष्टा किया करते थे और इस प्रकार बाहरी शत्रु को अपने घर में हस्तक्षेप का मौका देते थे। प्राचीन भारत के बहुत से गणराज्य पड़ोसी राजाओं के षड्यंत्र से आपस में फूट हो जाने के कारण नष्ट किये गये। अक्सर गणसभा का एक दल पराजित होकर दूसरे पक्ष को नीचा दिखाने के लिए बाहरी शत्रु को आमंत्रण देता था और अपने राज्य के नाश का कारण बनता था। प्रजातंत्रवादी नवभारत के लोकसभा-भवन (पार्लमेंट) के सिंहद्वार पर लिच्छवि गणराज्य के विषय में कहे गये भगवान् बुद्ध के वाक्य स्वर्णाक्षरों में अंकित रहने चाहिये। बुद्ध का कथन था कि,— 'लिच्छवी गणराज्य तब तक फलता-फूलता रहेगा जब तक उसके परिषद् के सदस्य बार-बार एकत्र होकर मंत्रणा करते रहेंगे, वृद्ध अनुभवी और योग्य पुरुषों का आदर और सम्मान करते रहेंगे, राज्य का कार्य मेल-जोल और एकमत से करते रहेंगे और अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए झगड़ने वाले दलों को उत्पन्न ही न होने देंगे।'

पीछे उल्लिखित कारणों से अंत में नृपतंत्र ही सर्वत्र प्रचलित हुआ। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि हमारे आचार्यों के सम्मुख जो आदर्श थे उनसे ऊँचे आदर्श आधुनिक युग भी नहीं रख सकता। राजा धृतव्रत—माने नियम, व्यवस्था, न्याय और सदाचार के व्रत का पालन करने वाला था, वह नियमों के परे नहीं, नियमों का अनुगामी था। उसका पद अपनी प्रजा के विश्वस्त (trustee) से भी अधिक जिम्मेदारी का था, विश्वस्त का कर्तव्य तो सुपुर्द कार्य से व्यक्तिगत लाभ न उठाना ही था, पर प्राचीन भारत के आदर्श के अनुसार राजा को राज्य की भलाई के लिए अपने निजी सुख, सुविधा और लाभों को भी तिलांजलि देनी पड़ती थी। देवत्व का अधिकारी राजा का व्यक्तित्व नहीं, उसका पद था। राजा कभी गलती नहीं कर सकता और ईश्वर के सिवा किसी को उससे जवाब तलब करने का अधिकार नहीं, यह सिद्धांत प्राचीन भारतीय आचार्यों को सम्मत नहीं था। इस बात पर बराबर जोर दिया जाता

था कि राजा को साधारण मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है अतः उसे राजकार्य की समुचित शिक्षा मिलनी चाहिये जिसके अभाव में उससे अनेक गलतियाँ अवश्य होंगी। राजपद की दिव्यता के सिद्धांत का उद्देश्य उसका गौरव बढ़ाकर राजसत्ता के प्रति आदर उत्पन्न करना था न कि राजाओं में निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

पर यह भी मानना होगा कि व्यवहार में बहुत से राजा इस ऊँचे आदर्श का निर्वाह न कर पाते थे। किंतु प्राचीन भारत में अत्याचारी और निरंकुश शासकों की संख्या मध्ययुगीन यूरोप से कदापि अधिक न थी। फिर भी इस पर विचार करना चाहिये कि किन कारणों से राजत्व का यह ऊँचा आदर्श कार्यान्वित न हो पाता था।

इसका सबसे प्रधान कारण राजा के अधिकारों पर किसी लौकिक और वैधानिक रोक-थाम की व्यवस्था का अभाव था। मध्यकालीन यूरोपीय विचारकों की भाँति हमारे बहुसंख्यक आचार्यों ने यह तो कभी नहीं कहा कि ईश्वर के सिवा अन्य कोई राजा से जवाब तलब नहीं कर सकता, फिर भी व्यवहार-क्षेत्र में नरक के भय के अतिरिक्त राजा को निरंकुशता से रोकने का कोई साधन न था। हमारे आचार्यों ने यह भी सलाह दी थी कि अत्याचारी राजा का राज्य छोड़ कर जनता अन्यत्र चली जाय और प्राचीन लेखों से इस सामूहिक राज्य-त्याग द्वारा राजा के होश ठिकाने आने के कुछ उदाहरण भी मिलते हैं। पर यह उपाय व्यवहार में अत्यंत कठिन है और इसका प्रयोग करना आसान नहीं। प्राचीन आचार्यों ने अत्यंत गंभीर स्थिति में अत्याचारी राजा के वध की भी अनुमति दी है। पर इसके लिए क्रांति या जनविप्लव आवश्यक है, नित्य के शासन में ज्यादती रोकने के लिए यह उपाय बिलकुल बेकार है। प्राचीन भारतीय राज्यशास्त्री राजा की निरंकुशता को रोकने का कोई लौकिक, वैधानिक और व्यावहारिक उपाय न निकाल सके इसमें कुछ संदेह नहीं है।

इसका प्रधान कारण वैदिककाल की लोकसभा या समिति का बाद के युग में तिरोहित हो जाना है। जब तक यह संस्था वर्तमान थी, नित्य के शासन-कार्य में राजा पर एक अंकुश रहता था। वैदिक वाङ्मय से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा तभी तक अपने सिंहासन पर रह सकता था जब तक उसकी समिति का उससे विरोध न हो। विरोध होने पर समिति की ही बात प्रायः मानी जाती थी और राजा को या झुकना पड़ता या राजत्याग करना पड़ता था।

पर उत्तर-वैदिककाल में धीरे-धीरे केंद्रीय लोकसभा विलुप्त हो गयी। इस-लिए नहीं कि जनता में लोकतंत्र की भावना कम हो गयी बल्कि इसलिए कि राज्यों के अधिकाधिक विस्तार के कारण लोकसभा का अधिवेशन दुष्कर होता गया। यदि चंद्रगुप्त, अशोक या हर्षवर्धन ने केंद्रीयसमिति पुनस्थापित की होती तो सदस्यों को अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए राजधानी पहुँचने में कई सप्ताह लग जाते, वैसे ही, और पुनः अपने-अपने घर लौटने में उतना ही समय लग जाता। प्रतिनिधि-निर्वाचन की पद्धति उस काल में एशिया या यूरोप में कहीं भी ज्ञात न थी।

हिन्दुस्तान के स्वतंत्र होने के समय १९४७ में अनेक राजवंश राज्य करते थे और उनके राज्यों में वैधानिक नृपतंत्र का प्रयोग हो सकता था। किन्तु देश में रक्तहीन क्रांति अत्यन्त द्रुतगति से हुई और ९५ से भी अधिक प्रतिशत राजा अपने-अपने राज्य भारतीय गणतन्त्र में सम्मिलित करने को राजी हुए। चार-पाँच सालों तक चार-पाँच राजा अपने-अपने राज्य के वैधानिक राजप्रमुख बनकर राज्यशासन करते थे, किन्तु राज्य-पुर्नरचना-समिति के निर्णय के फलस्वरूप उनका अनुवंशिक राजप्रमुखत्व नष्ट हो गया। इस प्रकार भारत में वैधानिक राजपद्धति के दिन भी समाप्त हो चुके।

बड़े राज्यों में केंद्रीय लोक-सभा का कार्य करना असंभव देख कर प्राचीन भारतीय आचार्यों ने जनता के हित के रक्षार्थ शासनकार्य में अधिकाधिक विकेंद्रीकरण करने की व्यवस्था की थी। ज़िला, ग्राम और नगर शासन को व्यापक अधिकार दिये गये थे। इन शासनों पर स्थानीय लोकसभाओं का पूरा नियन्त्रण और देखरेख रहता था। गुप्त-शासनकाल में तो राज्य की परती या ऊसर भूमि बेचने के लिए भी ज़िले की लोकसभा की स्वीकृति आवश्यक थी। प्राचीन भारत की नगर और ग्राम सभाओं के अधिकार, आधुनिक या प्राचीन, पाश्चात्य या पौर्वात्य, कहीं भी इसी प्रकार की संस्थाओं से बहुत अधिक थे। ये संस्थाएँ केंद्रीय-शासन की ओर से कर एकत्र करती थीं, अनुचित करों को एकत्र करने से इनकार कर देती थीं, गाँव के झगड़ों का निपटारा करती थीं, सार्वजनिक निर्माण-कार्य करती थीं और बहुधा अस्पताल, अनाथालय, और शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित करती और चलाती थीं। भारत के नवविधान में भी इसी परिपाटी का ग्रहण वांछित है और स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक अधिकार और कार्य सौंपना हितकर होगा। पर इसमें एक बात का ध्यान रखना होगा। प्राचीन

काल में ग्राम या नगर संस्थाओं की सफलता का सबसे बड़ा कारण यह था कि भारतीय जनता सत्य और चारित्र्य का आदर करती थी और योग्यता, अनुभव तथा वय का हार्दिक सम्मान करती थी। ग्राम-पंचायत के सदस्यों के निर्वाचन के लिए दौड़-धूप न करनी पड़ती थी, जनमत ही उन्हें उस पद पर प्रतिष्ठित कर देता था। आजकल की लोकतंत्र-पद्धति और चुनाव, दलसंघटन और मतदान की प्रणाली उस समय अज्ञात थी और आज भी इस देश के लिए नयी ही है। इसकी सफलता के लिए शिक्षा के व्यापक प्रचार की आवश्यकता है और हमें शीघ्र उसके बारे में प्रयत्नशील होना चाहिये। ईश्वर और नरक का भय, धर्माधर्म का विचार तो आज लोप हो चुका है पर इसके स्थान पर नागरिक-कर्तव्य-पालन की भावना का विचार होना चाहिये। इसीसे हमारे निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के हित को सबसे ऊँचा स्थान देने में समर्थ हो सकेंगे।

प्राचीन भारत की ग्रामपंचायतों को न्यायदान के व्यापक अधिकार थे। सिवा संगीन अपराधों के बाकी सब मामलों का फैसला ये ही करती थीं। प्राचीनकाल में जीवन सादा था, न्याय के लिए आने वाले झगड़े अधिकतर स्थानीय जनता के हाल-व्यवहार से संबंध रखते थे। सभी लोग विधि-नियमों को जानते और समझते थे। आजकल का कानून पेचीदा और दुर्बोध होता है, इसकी व्याख्या या प्रयोग के लिए विशेषज्ञों की सहायता आवश्यक होती है। न्यायार्थी-प्रतिपक्षी भी कभी-कभी दूर के स्थानों के होते हैं। अतः आजकल की ग्राम-पंचायतें उतना विस्तृत कार्य नहीं कर सकतीं जितना दीवानी मुकदमों में प्राचीनकाल की पंचायतें करती थीं। फिर भी ग्राम-पंचायतों को कुछ दीवानी अधिकार देकर न्याय-व्यवस्था के विकेंद्रीकरण का श्रीगणेश अवश्य करना चाहिये। अपने पड़ोसियों और रात-दिन के साथियों के सामने सर्वविदित घटनाओं और तथ्यों के संबंध में सर्वथा मिथ्या साक्षी देना प्रायः कठिन होता है। ग्राम-पंचायतों को न्यायकार्य सौंपने से झगड़ों के निपटारे में विलंब अवश्य कम होगा। फिर भी प्रारंभ में अवश्य कठिनाइयाँ आवेंगी। प्राचीनकाल में ईश्वर पर श्रद्धा, धर्म से प्रेम और अधर्म से तिरस्कार के कारण लोगों में सत्यप्रेम तथा न्यायभावना प्रबल थी। अब नागरिक-कर्तव्यों का अज्ञान और स्वार्थप्रवृत्ति के कारण ग्रामों में परस्पर द्वेष और दलबंदी का प्राबल्य है और न्याय-अन्याय का विवेक कुंद पड़ गया है। अतः जब तक प्राचीनकाल की धर्मभावना के रिक्त स्थान पर नागरिक-उत्तरदायित्व का भाव

नहीं प्रतिष्ठित होता, ग्राम-पंचायतों के सफलता-पूर्वक कार्य करने में कुछ दिक्कत अवश्य होगी।

स्थानीय संस्थाओं के लिए आवश्यक द्रव्य की व्यवस्था भूमिकर के एक अंश को उनको देकर की गयी थी। सरकार के लिए ग्रामसभाएँ जो कर एकत्र करती थीं, उसका १५ से २० प्र. श. सरकार उन्हें ही दे दिया करती थी। आधुनिककाल में भी इस परिपाटी को अपनाया जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन भारतीयों ने कर-व्यवस्था का आधार बहुत अच्छे सिद्धांतों पर रखा था। कर में छूट और रियायतों के लिए भी बहुत अच्छे सिद्धांत स्थिर किये गये थे। सभी लोग इस बात से सहमत होंगे कि सरकार उसी प्रकार कर एकत्र करे जिस प्रकार मधुमक्खी फूलों से रस एकत्र करती है और उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाती। व्यापार और उद्योग की आय पर नहीं किंतु लाभ पर कर लिया जाय, किसी वस्तु पर दो बार कर न लगाना चाहिये, और यदि कर बढ़ाना आवश्यक ही हो तो धीरे-धीरे वृद्धि होनी चाहिये। कर में छूट की व्यवस्था भी ठीक थी। प्रारंभ में केवल निर्धन और विद्वान् ब्राह्मणों को ही, जो निःशुल्क शिक्षादान किया करते थे, कर से मुक्त करने का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया था। इसका कुछ दुरुपयोग भी हुआ, पर साधारणतः व्यापार या सरकारी नौकरी करने वाले ब्राह्मण कर से छूट न पाते थे। ऐसे उदाहरण बिरले ही थे जहाँ समूचा ब्राह्मण-वर्ग कर से मुक्त था। जो हो आधुनिककाल में जाति के आधार पर किसी वर्ग को इस प्रकार की सुविधा नहीं दी जा सकती।

देश-काल की परिपाटी और परंपरा के अनुसार ही कर लगाये जाते थे। पर बाद में, लोकसभाओं के लोप हो जाने के पश्चात् अत्यधिक और मनमाने कर भी कभी-कभी लगाये जाते थे। अक्सर हमें इस विषय में केंद्रीय-शासन और ग्रामसभाओं में खींच-तान भी दीख पड़ती है, जब कि सरकार नये और कष्टदायक कर लगाना चाहती थी और ग्रामसंस्थाएँ इन्हें वसूल करने से इन्कार करती थीं। पर इसमें अधिकतर न्याय को शक्ति के सामने नीचा देखना पड़ता था और ऐसे दृष्टांत मिलते हैं, जब दुर्वह करों के बोझ से छुटकारा पाने के लिए लोग ग्राम छोड़ कर अन्यत्र चले जाते थे। इसमें संदेह नहीं कि बाद के समय में अन्यायी शासक के सिंहासनारूढ़ होने पर जनता अनुचित करों से सुरक्षित न थी। इसका प्रधान कारण समिति या अन्य किसी लोकसभा का अभाव था।

जनता के स्वत्वों और हितों की रक्षा के लिए सजग और सुदृढ़ लोकसभा का होना अत्यंत आवश्यक है।

प्राचीन भारत के राज्य केवल कर वसूलने वाली संस्था मात्र न थे, जिन्हें अमन-कानून की रक्षा के सिवा अन्य किसी बात से मतलब ही न था। यह आनंद और आश्चर्य का विषय है कि प्राचीनकाल के भारतीय राज्य ऐसे बहुत से लोकहित के कार्य करते दिखायी देते हैं, जिन्हें आधुनिक राज्यों ने भी अभी हाल में ही करना आरंभ किया है। पर सरकार की कार्रवाई से व्यक्तिगत उद्योग में कोई बाधा न पहुँचती थी क्योंकि सरकार के कार्य साधारणतः विभिन्न व्यवसायों और वृत्तियों के संघटनों, सभाओं और श्रेणियों के माध्यम से ही किये जाते थे। विशेषज्ञों को भी एक सीमा तक अपनी योजनाएँ बनाने की स्वतंत्रता थी, और राष्ट्र के लिए लाभदायक प्रतीत होने पर इन्हें कार्यान्वित करने में राज्य की सहायता भी मिलती थी। प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र की यह विशेषता समाज के लिए बड़ी शुभ थी। उदाहरणार्थ राज्य द्वारा शिक्षा-संस्थाओं को उदारतापूर्वक सहायता दी जाती थी, पर ये संस्थाएँ प्रायः पूर्णतः गैरसरकारी होती थीं और सरकार भी इनके कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती थी। आजकल की भाँति सरकारी शिक्षा-विभाग और शिक्षाधिकारियों द्वारा शिक्षा-संस्थाओं को राज्य की नीति का अनुसरण करने या सरकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ्यक्रम पढ़ाने को बाध्य नहीं किया जाता था। आधुनिककाल में राज्य के कार्यक्षेत्र के निरंतर विस्तार से व्यक्ति और राज्य में संघर्ष की संभावना उत्पन्न हो रही है। यदि प्राचीन भारत की भाँति आधुनिककाल की सरकार भी समाज-हित के कार्यों में स्थानीय संस्थाओं और विभिन्न वृत्तियों और व्यावसायिक संघटनों को अपना माध्यम बनाने लगे तो व्यक्ति और राज्य में सामंजस्य स्थापित हो जाय।

प्राचीन भारतीय राज्यों के आदर्श वास्तव में बहुत ही ऊँचे और व्यापक थे। इनका लक्ष्य पूरे समाज की भौतिक, नैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति करना था। यह उन्नति क्या है, इस विषय में विभिन्न युगों की धारणाओं में अंतर हो सकता है। इसलिए इन चारों क्षेत्रों में उन्नति के लिए प्राचीन भारत में सरकार की ओर से जो कार्य किये जाते थे, उनमें से संभवतः कुछ का समर्थन आज नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ वर्णव्यवस्था राज्य द्वारा समर्थित थी, यद्यपि यह शूद्रों और अंत्यजों के लिए अन्याय करती थी। पर हमें यह न

भूलना चाहिये कि राज्य-संस्था समाज का दर्पण होती है। यदि प्राचीन भारत में राज्य अन्याय्य कर-व्यवस्था का समर्थक था तो इसका दोष तत्कालीन समाज पर भी है। पर प्राचीन रीतियों और व्यवस्थाओं को हम आधुनिक आदर्शों और मापदंडों से नहीं जाँच सकते। प्राचीनकाल में भारतवर्ष में लोगों का कर्मफल के सिद्धांत पर पूरा विश्वास था; शूद्र और अंत्यज भी यही समझते थे कि पूर्वजन्म के कुकृत्यों के फल से ही उन्हें नीच जाति में जन्म लेना पड़ा है, और इसी के प्रायश्चित्तस्वरूप शास्त्रों द्वारा उनके लिए इस जन्म में भी धार्मिक और सामाजिक प्रतिबंधों का विधान किया गया है। अस्तु, इस दशा में प्राचीन भारत के राज्यों के लिए इन प्रतिबंधों को न मानने की कल्पना ही असंभव थी, इन्हें हटाने को कौन कहे। अतः प्राचीन भारत में सबके लिए एक ही कानून और दंडव्यवस्था न थी। यह अवश्य खेद की बात है। अवश्य ही हमारी संस्कृति के लिए यह गौरव का विषय होता यदि स्मृतिकारों ने शूद्र के मुकाबले ब्राह्मण के लिए अधिक कठोर दंड की व्यवस्था की होती, क्योंकि स्मृतियों ने शूद्र के मुकाबले ब्राह्मण का अपराधजन्य पाप गुरुतर माना है। पर हमें यह भी न भूलना चाहिये कि इस प्रकार अन्यायमूलक भेदभाव पूर्व या पश्चिम सभी जगह के सभ्य समाज में पाया जाता था और आधुनिककाल में भी पाया जाता है। यदि प्राचीन भारत में शूद्र की हत्या के लिए ब्राह्मण की हत्या की अपेक्षा कम अर्थदंड होता था तो यूरोप में भी सर्फ या दास के हत्यारे को नाइट या सरदार के हत्यारे से कम जुर्माना देना पड़ता था। यदि प्राचीन भारत में विद्वान् ब्राह्मणों को कर से कुछ मुक्ति मिली थी तो यूरोप में १८ वीं सदी तक ईसाई पुरोहितों या धर्माचार्यों और धनी सरदारों को भी इससे कहीं अधिक अनुचित कर-मुक्ति और सुविधाएँ प्राप्त थीं। निस्संदेह प्राचीन भारत में मोची के पुत्र को प्रधानमंत्री होने का अवसर न दिया जाता था पर प्राचीनकाल में किसी भी पूर्वी या पश्चिमी देश में ऐसी घटना नहीं होती थी। निष्पक्ष आलोचकों को मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारतीय राज्य न केवल ब्राह्मणों की ही चिंता करते थे वरन सब जातियों की भौतिक और नैतिक उन्नति के लिए यत्नशील रहते थे। हाँ एक जाति के व्यक्ति की अन्य जाति की वृत्ति ग्रहण करने की चेष्टा अनुचित समझी जाती थी, कारण समाज का यही विश्वास था कि वृत्ति जन्म से ही निश्चित हो जाती है।

आसेतुहिमाचल एकछत्र साम्राज्य के रूप में सर्व भारतीय राज्य की कल्पना १००० ई० पू० से तो अवश्य वर्तमान थी। पर भारतीय इतिहास में इसके

फलीभूत होने के एक-दो ही उदाहरण पाये जाते हैं। यह आदर्श भारत की मूलभूत भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के अनुभव का ही परिणाम था। पर प्राचीन भारतीय राज्यतंत्र स्थानीय स्वतंत्रता, संस्कृति और संस्थाओं को नष्ट करके साम्राज्य स्थापित करना अनुचित समझता था, इसी से यह सिद्धांत स्थिर किया गया कि चक्रवर्तीपद का आकांक्षी राजा अन्य राजाओं से कर लेकर या अपना प्रभुत्व स्वीकार करा कर ही संतुष्ट हो जाय, उनका राज्य न नष्ट करे। युद्धक्षेत्र में मारे जाने पर भी वह किसी राजा के राज्य को अपने राज्य में न मिलावे, बल्कि मृत शासक के किसी कुटुम्बी या रिश्तेदार को यदि वह उसकी प्रभुता स्वीकार करे तो उसकी गद्दी पर बैठावे। विजेता को स्थानीय विधि-नियम, रीति और परंपरा में भी हस्तक्षेप करने का निषेध था।

अस्तु, प्राचीन भारत के आदर्शराज्य के रूप में ऐसे शक्तिशाली राज्य की कल्पना की गयी थी, जो समस्त देश को एक सूत्र में ग्रथित करके एक केंद्रीय-शासन के अंतर्गत सब राज्यों और सूबों के सहयोग से बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से देश की रक्षा की व्यवस्था करे और साथ ही स्थानीय राज्यों या शासनों को अपनी रीति-रिवाज और परंपरा का पालन करने की तथा अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के विकास की स्वतंत्रता दे। यह आदर्श हमारे वर्तमान अखंड और सुदृढ़ भारत और पूर्ण स्वायत्त प्रांत के आदर्श से पूर्णतया मिलता है। अतः हम इसका सूक्ष्म विश्लेषण करके इसके गुण और दोष समझने की चेष्टा करेंगे।

पराजित राज्यों को करद सामंत रूप में जीवित रहने देने की नीति के कुछ अच्छे फल जरूर निकले। इससे स्थान-विशेष की संस्कृति, परंपरा और राजनीतिक संस्थाओं को अनुरूप विकास का अवसर मिला। इससे प्रांतीय स्पर्धा का भाव अनिष्ट और संहारक रूप ग्रहण न करने पाया, क्योंकि एक प्रांत दूसरे प्रांत या एक राज्य दूसरे राज्य की संस्कृति या अस्तित्व नष्ट करने का भाव मन में न लाता था, उनका लक्ष्य अपनी प्रभुता स्वीकार कराना ही रहता था। इससे युद्ध वह सर्वसंहारक और बर्बर रूप भी न ग्रहण कर पाया, जो इस विश्वयुद्ध में दिखाई पड़ा, क्योंकि पराजित होने पर समूल नाश की आशंका किसी पक्ष के सामने न थी, जो युद्ध में अमानुषिक व अधार्मिक उपायों का भी अवलंबन करने को प्रेरित करती।

अधीन किंतु अंतर्गत स्वातंत्र्य रखने वाले प्रांतों या राज्यों से बने हुए इस

साम्राज्य के अनेक गुणों को स्वीकार करते हुए भी हम इसके दोषों को भी आँख से ओझल नहीं कर सकते। पराजित राज्यों को कायम रखने की नीति भारत के स्थायी एकीकरण में बाधक सिद्ध हुई। प्राचीन भारत के अधिकतर साम्राज्य सामंत-राज्यों के एक ढीले संघ से थे, जो कुछ प्रभावी सम्राटों के पराक्रम और कार्यक्षमता के कारण कुछ दशक तक एक में बँधे रहते थे। सभी सामंत सम्राट्पद के आकांक्षी रहते थे, और प्राचीन राजनीति-शास्त्री भी इस आकांक्षा को स्वाभाविक और उचित स्वीकार करते थे। फलस्वरूप प्राचीन भारत के किसी भी बड़े राज्य की स्थिरता अधिक दिनों तक न रह पाती थी। सर्वकांक्षित चक्रवर्तीपद के लिए निरंतर संघर्ष चला करता था। प्रत्येक राजा का कर्तव्य था कि पड़ोसी राज्य को कमजोर पाते ही उसपर आक्रमण करे, और चक्रवर्ती बने। अतः सामंत लोग सदा अपने अधिपति के विरुद्ध विद्रोह करने की ताक में रहते थे। यदि अधीन सामंत-राजाओं के सम्मुख चक्रवर्तीपद प्राप्त करने का आदर्श न उपस्थित रहता और पराजित राजाओं का अस्तित्व कायम रखने की नीति न बर्ती जाती तो प्राचीन भारत के ६० प्र. श. युद्ध न हुए होते।

प्राचीन भारतीय विचारकों को इस आदर्श में कोई दोष नहीं दीख पड़ा। संभवतः उनका यह विचार था कि प्रत्येक प्रांत या राजवंश को चक्रवर्तित्वपद प्राप्त करने का उचित अवसर मिलना चाहिये। इससे बार-बार युद्ध अनिवार्य हो जाते थे, पर संभवतः ये युद्ध क्षत्रियों की सामरिक प्रवृत्ति को बनाये रखने के लिए उपयोगी समझे जाते थे। भारत के साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र हो या कन्नौज या अवंती, कोई भी प्रांत शेष भारत पर आधिपत्य प्राप्त करे, इससे किसी भी अधीन प्रांत की संस्कृति, धर्म, या भाषा पर कोई संकट न आता था, क्योंकि विजेता को किसी भी स्थान-विशेष की संस्कृति, रिवाज और संस्थाओं में तनिक भी हस्तक्षेप करने का कड़ा निषेध था।

धीमे-धीमे प्राचीन भारतीय दृढ़ और सुस्थिर केंद्रीय राज्य की आवश्यकता और उपयोगिता को भूलते गये। चूँकि ४०० ई० से सर्वत्र नृपतंत्र ही प्रचलित हो गया, अतएव राज्यों की प्रतिस्पर्धा ने राजवंशों की व्यक्तिगत स्पर्धा का रूप धारण कर लिया। जनता इन संघर्षों से उदासीन रहती थी, क्योंकि इसके परिणाम से उसके रीति-रिवाज, विधि-नियम, और संस्थाओं पर कोई भी विशेष असर पड़ने की आशंका न थी। लड़ने वाली सेना में भी अपने प्रांत या जन्म-भूमि के लिए नहीं राजा के लिए लड़ने का भाव रहता था। इसमें स्वदेश-प्रेम

को कोई गुंजाइश ही न थी। अस्तु इस सामंतबहुल संघीय साम्राज्य के आदर्श ने, जिसमें प्रत्येक सामंत को साम्राज्यपद के लिए प्रयत्न करने का पूरा अधिकार था पर विजय प्राप्त करके एक केंद्रीय राज्य की स्थापना की अनुमति न थी, प्राचीन भारत की राजनीति में स्थायी अस्थिरता उत्पन्न कर दी। युद्ध बराबर हुआ करते थे, पर उनसे किसी सुदृढ़ एककेंद्रीय राज्य का प्रादुर्भाव न हो पाया था। राष्ट्र की शक्ति आंतरिक कलह में बेकार क्षय होती गयी। लड़ने वालों को कोई लाभ न हो सका उलटे वे कमजोर ही हुए, और देश शक्तिहीन होकर आसानी से मुसलमानी आक्रमण का शिकार बना।

हमारे इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रकट होगा कि भारत ने उसी समय उन्नति की है जब यहाँ कोई सुदृढ़ केंद्रीय शासन स्थापित था। अशोक, द्वितीय चद्रगुप्त और अकबर के समय केंद्र में सुदृढ़ सरकार कायम थी अतः भारत काफी उन्नति कर सका। पिछले १०० वर्षों में देश ने जो उन्नति की है उसका भी यही कारण है। अपने देश का नया विधान बनाते समय हम इतिहास की यह शिक्षा भुला नहीं सकते थे। पराजित राज्य का अस्तित्व और उसके नियम और व्यवस्था नष्ट न करने का प्राचीन सिद्धांत आज प्रांतीय स्वतंत्रता का नया रूप धर कर उपस्थित हुआ है। इससे प्रत्येक अंगीभूत प्रदेश को अपने ढंग पर अपनी संस्कृति के विकास का पूरा अधिकार मिलता है।

ऐसे होते हुए भी भाषाओं की विभिन्नता या आर्थिक स्वार्थों में विरोध के कारण प्रांत-प्रांत में वैमनस्य उत्पन्न होकर बढ़ सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्राचीन भारत में भी अनेक भाषाएँ थीं, किंतु आसेतुहिमाचल संस्कृत का ही अभ्यास राष्ट्रभाषा के रूप में होता था। द्राविड़भाषी दक्षिण हिंदुस्तान में भी राजशासनादि में अधिकतर संस्कृत का ही उपयोग किया जाता था। विजयनगर-साम्राज्य के ताम्रपत्र संस्कृत में थे न कि कन्नड़ में। एक राष्ट्रभाषा रूढ़ करने की योजना सिद्धांततः बिल्कुल युक्तिसंगत है। संस्कृत विद्वज्जनों की भाषा थी, उसके कारण बँगाल, मराठी, गुजराती इत्यादि भाषाओं की प्रगति में बाधा उत्पन्न नहीं हुई। हिंदी राष्ट्रभाषा होने के कारण प्रांतीय भाषाओं को क्षति पहुँचेगी, यह भावना पूर्णतया गलत है।

प्रांतों-प्रांतों में आर्थिक झगड़े उत्पन्न होने के कारण राष्ट्रीय ऐक्य में बाधा आ सकती है। किंतु इन सब झगड़ों का निपटारा लोकसभाओं में

आसानी से किया जा सकता है। 'संहतिः कार्य साधिका' इस सुभाषित को यदि हम भूलेंगे, तो राष्ट्रीय उत्थान व प्रगति कभी भी नहीं हो सकेगी। यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ् अमेरिका व यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ् सोविएट रशिया आज संसार में अग्रसर हैं। इसका एक ही कारण है कि वे यूनाइटेड माने संहत या एकीकृत राज्यों के संघ हैं। यदि पश्चिम यूरोपीय देश एक शासनप्रणाली में सूत्रित होते तो, वे अमेरिका या रशिया की तुलना में निष्प्रभ न होते।

केंद्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाने के लिए यदि प्रांत अपनी पृथकता की भावना रोकें, और यदि केंद्रीय सरकार विभिन्न प्रांतों की सांस्कृतिक व आर्थिक प्रगति के विषय में पर्याप्त मदद दे, तो हमारी केंद्रीय सरकार निस्संशय सशक्त बनेगी और विदेशीय आक्रमणों से देश की रक्षा करने व उसकी सर्वांगीण प्रगति साधने में सफल होगी। फलस्वरूप भारत की राष्ट्रसंघ में प्रतिष्ठा बढ़ेगी तथा उसकी विचारधारा से विश्व प्रभावित होने लगेगा।

अध्याय ५ का अंश

राज्याभिषेक

●

राज्याभिषेक-संस्कार प्राचीन काल से प्रचलित था और उसका वैधानिक महत्व भी है; इसलिए उस पर दृष्टिपात कर लेना उचित होगा। यद्यपि उसके धार्मिक विधान पर विचार करना आवश्यक नहीं है। राज्याभिषेक को वैदिककाल में राजसूय कहते थे;. उसका वर्णन ब्राह्मण-ग्रंथों में ही पाया जाता है किन्तु यह प्रथा पीछे भी अनेक सदियों तक प्रचलित थी। प्राथमिक धार्मिक विधि, राज्याभिषेक व उत्तरकालीन समारंभ ऐसे राजसूय के तीन भाग थे। प्राथमिक धार्मिक विधि में रत्निहवि का मुख्य रूप से उल्लेख आवश्यक है। रत्नि राजा के सलाहकार होते थे। ग्रंथों में लिखा है कि रत्नि-हवि के लिए राजा को रत्नियों के घर जाना आवश्यक था। इस से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजा अपने अधिकारी व सलाहकारों के साथ प्रेम व विश्वास का संबंध प्रस्थापित करना आवश्यक समझता था व उनकी सम्मति 'राजगद्दी' पर बैठने के लिए आवश्यक थी।

राज्याभिषेक दूसरे दिन किया जाता था। राजा का अभ्यंजन किया जाता था और उसे व्याघ्रचर्माच्छादित सिंहासन पर बैठाकर पवित्र नदियों के जल से अभिषेक करते थे। उस समय जिन मंत्रों का उच्चारण किया जाता था उनमें भगवान् सूर्य से प्रार्थना थी कि वह राजा को तेजःपुंज व शक्तिशाली बनाये, इन्द्र से प्रार्थना थी कि वह उसको सुशासक बनाये और बृहस्पति, मित्र व वरुण से विनती थी कि वे राजा को वाग्मी, सत्यप्रेमी व धर्मरक्षक बनायें।

उत्तरकाल में राज्याभिषेक में क्षत्रिय व वैश्य भी भाग लेने लगे। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्ण नागरिकों में महत्व के थे। उन तीनों को राज्याभिषेक-विधि में लेकर यह व्यक्त किया जाता था कि राजा के अभिषेक के लिए सर्व द्विजातियाँ सहमत हैं। महाभारत में एक कदम आगे बढ़कर शूद्र को भी अभिषेक-विधि में स्थान दिया गया है।

राज्याभिषेक में राजा को एक शपथ लेनी पड़ती थी। आजकल भी राज्याभिषेक के समय राजा शपथ लेता है कि वह कानून के अनुसार राज्य चलाएगा व प्रजा के हित के लिए प्रयत्नशील रहेगा। उसी प्रकार प्राचीन भारतीय अभिषेक की भी शपथ थी ऐसा कुछ विद्वानों का मत है[1]। किंतु यह मत ग्राह्य नहीं जान पड़ता है। राजा जो शपथ लेता था उसमें वह केवल पुरोहित से द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करता था, कारण अभिषेक के फलस्वरूप उसे दैवी शक्ति प्राप्त होने वाली थी। प्रजा को न सताने की उसमें बात न थी। न पुरोहित को प्रजा का प्रतिनिधि कहा गया है। महाभारत में राजा को राज्याभिषेक के समय नीतिशास्त्रनिर्दिष्ट धर्माचरण करने की शपथ लेने का विधान है[2]। यदि वह ऐसा न करे तो क्या किया जाय इसके बारे में कुछ चर्चा नहीं है।

शुक्रादि कुछ ग्रंथकारों ने युवराज्याभिषेक का भी उल्लेख किया है। गुप्त-साम्राज्य में यह प्रथा प्रचलित थी ऐसा समुद्रगुप्त की इलाहाबद वाली प्रशस्ति से ज्ञात होता है। जब राष्ट्रकूट वंश का तृतीय गोविंद युवराज चुना गया तब उसका भी युवराज्याभिषेक हुआ। कलचुरी राजा कर्ण ने स्वयं अपने पुत्र का युवराज्याभिषेक किया था। वेंगी के चालुक्य वंश में द्वितीय भीम व तृतीय विजयादित्य का युवराज्याभिषेक हुआ था। उस समय उनको एक कंठिका अभिषेक-चिह्न के स्वरूप में दी गयी थी।

राज्याभिषेक के पश्चात् रथाधिष्ठित राजा का जुलूस निकलता था। जुलूस के बाद दरबार होता था जिसमें सर्व वर्गों के महाजन आकर राजा को अभिवादन कर के राजनिष्ठा की शपथ लेते थे। तदनंतर शतरंज का खेल या रथों की दौड़ होती थी। रथ-दौड़ में ऐसी व्यवस्था होती थी कि राजा ही सबसे आगे आये।

पौराणिककाल में राज्याभिषेक में काफी हेर-फेर हो गया। वाजपेय-यज्ञ, रथ-दौड़ व रत्नि-हवि लुप्त हो गये। राजा का शरीर अनेक प्रकार की पवित्र मृत्तिका से मर्दित करने की प्रथा प्रचलित हुई। और नदियों, समुद्र आदि के

---

1 जायसवाल, हिंदू पॉलिटी, २. पृ. २८ (प्रथम संस्करण)

2 एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेन क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिंचेत्। सच ब्रूयात्सह श्रद्धया यांच रात्रिमजायेऽहं यांच प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः-प्रजां वृंजीथा यदि ते द्रुह्येयमिति। ऐ. ब्रा. ८. १५

जल से अभिषेक होने लगा[1]। विधानशास्त्र दृष्टया महत्व की बात यह है कि पुरोहित या प्रजा का द्रोह न करने की शपथ लुप्त हो गयी। राजा की सत्ता व अधिकार इतने बढ़ गये थे कि उसका शपथ लेना लोगों को विचित्र मालूम पड़ने लगा।

पौराणिक धर्म इस समय तक लोकप्रिय हो चुका था इसलिए पुराणों में विहित अनेक दान राज्याभिषेक के समय दिये जाते थे। राष्ट्रकूटवंशीय इन्द्र राजा ने अभिषेक के समय ४०० ग्राम ब्राह्मणों को दान दिये थे। विजयनगर के कृष्णदेवराय ने अभिषेक के समय अनेक महादान दिये व सोना, चाँदी, मोती इत्यादियों से अपने को तौल कर दान किया। इस प्रकार के दान आठवीं सदी से पश्चात बराबर दिये जाते रहे।

---

१ प्रतिज्ञां चावरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौम ब्रह्म इत्येव चासकृत ॥
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
नाशंकाः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ १२-५८, ११५ ६

परिशिष्ट १

विशिष्टार्थक शब्दसूची

हिंदी-अंग्रेजी

अंतिमेत्थम् Ultimatum
अर्धधार्मिक अर्धलौकिक Semi-religious
अपदस्थ करना Dethrone
अनुमति-पत्र License
अमीरसभा House of Lords
असामी Lesee
अहस्तक्षेप Laissez-faire
आन्तरिक स्वायत्तता Internal autonomy
आयव्यय-विभाग Finance department
इजारेदार Lesee
उच्चवर्ग-तंत्र Aristocracy
उपसामन्त Sub-feudatory
उपायन Tribute
एकात्मक राज्य Unitary state
केन्द्रीय लोकसभा Parliament
कोषाध्यक्ष Treasurer
खण्डणी Tribute
खनक व परिसारक Sappers and miners
खरीददार Consumers
गणराज्य Republic
चिकित्सापथक Red cross
जनराज्य Tribal state
तक्षण Sculpture
थाती Trustee
दायित्व Obligations
दूत Ambassador
दूतावास Embassy
धर्मनिगडितराज्य Theocracy
नौसेना Navy
पट्टेदार Lesee
प्रजातंत्र Democracy
प्रतिनिधि-पद्धति Representative government
प्रभुराज्य Sovereign state
प्रादेशिक राज्य Territorial state
प्रादेशिक शासन Divisional Administration
भूस्तरशास्त्र Geology
महाव्यूहपति Chief of the General Staff
मित्र Ally
मूल्यांकन Evaluation
रणभाण्डागारिक Quarter Master General
राजमहल विभाग Palace department
राज्यसंघ Federal state
राष्ट्रीयता Nationality
विधान Constitution
विधिनियम बनाना Legislate
विशेषाधिकारी वर्ग Privileged class
विश्वस्त Trustee
वैधानिक व्यक्तित्व Legal

personality
व्यवहारविधान Administration of law
शक्तिसमता } Balance of power
शक्तिसंतुलन }
शासन Firman
शासनकार्यालय(केन्द्रीय) Secretariat
शासन विभाग Department
संपत्तिहरण Forfeiture
सम्मिलित कुटुंब Joint family
सम्मिलित राज्य Composite state
सशस्त्र तटस्थता Armed neutrality
सहमतिसिद्धान्त Theory of contract
सामन्तराज्य Feudatory state
सार्वजनिक निर्माण कार्य Public works
सुरक्षित कोश } Reserve fund
स्थायी कोश }

अंग्रेजी-हिंदी

Administration of law व्यवहार विधान
Allies मित्र
Ambassador दूत
Aristocracy उच्चजनतंत्र
Armed neutrality सशस्त्र तटस्थता
Balance of power शक्तिसंतुलन, शक्तितुला
Chief of the General Staff महाव्यूहपति
Composite state सम्मिलित राज्य
Constitution विधान
Consumers खरीददार नागरिक
Democracy प्रजातंत्र
Department शासन विभाग
Dethrone अपदस्थ करना, राज्यच्युत करना
Divisional administration प्रादेशिक सरकार
Embassy दूतावास
Evaluation मूल्यांकन
Federal state राज्यसंघ
Feudatory state सामंत राज्य
Finance department आयव्यय विभाग
Forfeiture संपत्तिहरण
Geology भूस्तरशास्त्र
House of Lords अमीरसभा
Internal autonomy आंतरिक स्वायत्तता
Joint family सम्मिलित कुटुंब
Laissez-faire अहस्तक्षेप
Laws विधिनियम, कानून
Legal personality वैधानिक व्यक्तित्व
Lesee असामी, पट्टेदार, इजारेदार
License अनुमतिपत्र
Nationality राष्ट्रीयता
Navy नौसेना
Obligation दायित्व
Palace department महल विभाग
Parliament केन्द्रीय लोकसभा
Privileged class विशेषाधिकारी वर्ग

Public works सार्वजनिक निर्माणकार्य
Quarter Master General रणभांडागारिक
Red cross चिकित्सापथक
Representative government प्रातिनिधिक सरकार
Republic गणराज्य
Reserve fund स्थायी कोष
Sappers and miners खनक और परिसारक
Sculpture तक्षण कला
Secretariat केन्द्रीय शासन-कार्यालय
Semi-religious अर्धधार्मिक व अर्धलौकिक
Sovereign power प्रभुसत्ता
Sub-feudatory उपसामंत
Territorial state प्रादेशिक राज्य
Theocratic state धर्मनिगडित राज्य
Theory of contract सहमति सिद्धांत, इकरारनामा
Treasurer कोषाध्यक्ष
Tribal state जन-राज्य
Tribute खंडणी, उपायन
Trustee थाती, विश्वस्त
Ultimatum अंतिमेत्थम्
Unitary state एकात्मक राज्य

परिशिष्ट २

काल-सूची

इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर विविध ग्रंथ, राजा, गणराज्य और काल-खंडों के निर्देश आये हैं। इतिहास-अनभिज्ञ पाठकों के लिए उनके काल इस सूची में अकारानुक्रम से दिये गये हैं। कोष्ठ में (अं) अंदाज का संक्षेप है।

अग्निपुराण	ई० ४०० (अं०)
अग्निमित्र शुंग, राजा	ई० पू० १५० (अं०)
अजातशत्रु, राजा	ई० पू० ४९५-४७० (अं०)
अझिलायेज, राजा	ई० पू० २५ (अं०)
अथर्ववेदकाल	ई० पू० १५०० (अं०)
अमोघवर्ष तृतीय, राजा	ई० ८१४-८७८
अर्थशास्त्र कौटिलीय	ई० पू० ३००
अशोक	ई० पू० २७३-२३२
आचारांगसूत्र	ई० पू० ३००
उत्तर संहिता ग्रंथकाल	ई० पू० १५००-१००० (अं०)
उपनिषत्काल	ई० पू० १०००-६०० (अं०)
ऋग्वेदकाल	ई० पू० २०००-१५०० (अं०)
कडफायसेस द्वितीय, राजा	ई० ६०-७८ (अं०)
कनिष्क, राजा	ई० ७८-१०५ (अं०)
कण्वराजवंशकाल	ई० पू० ७५-२५ (अं०)
कामंदक नीतिसार, ग्रंथ	ई० ४०० (अं०)
कालिदास	ई० ४०० (अं०)
कुषाणराजवंश काल	ई० ५०-२५०
खारवेल, राजा	ई० पू० १५०
गंगवंश काल (मैसूर का)	ई० ४००-१००० (अं०)
गहडवाल राजवंश काल	ई० ११९०-१२०३
गुदफर (गोंडोफार्नेस) राजा	ई० २०-४५
गुप्तयुग काल	ई० ३००-६००
गुप्त सम्राटों का काल	ई० ३१९-५१०
गुर्जर-प्रतिहार वंश काल	ई० ७७५-१०००
ग्रीक राजवंश काल	ई० पू० १९०-९०
चंदेल राजवंश	ई० ९००-१२००
चंद्रगुप्त द्वितीय (गुप्त)	ई० ३८०-४१४
चंद्रगुप्त मौर्य	ई० पू० ३२०-२९५
चालुक्य राजवंश (बदामी)	ई० ५५०-७५०
चालुक्य राजवंश (कल्याणि)	ई० ९७५-११५०

चंदेल राजवंश	ई० ९००-१२००
चंद्रगुप्त द्वितीय (गुप्त)	ई० ३८०-४१४
चंद्रगुप्त मौर्य	ई० पू० ३२०-२९५
चालुक्य राजवंश (बदामी)	ई० ५५०-७५०
चालुक्य राजवंश (कल्याणि)	ई० ९७५-११५०
चालुक्य राजवंश (वेंगी)	ई० ६१५-१२७०
चाहमान राजवंश	ई० द्वादश शतक
चुल्लवग्ग, ग्रंथ	ई० पू० ४००
चेदि वंश काल	ई० ९५०-१२००
चोल राजवंश काल	ई० ९००-१२००
चौलुक्य राजवंश काल	ई० ९५०-१२००
जातक समाजस्थिति काल	ई० पू० ५००
दीघनिकाय, ग्रंथ	ई० पू० ४५०
धर्मसूत्र ग्रंथकाल	ई० पू० ६००-२००
नंदराजवंश काल	ई० पू० ४००-३२५
नहपाण, राजा	ई० १००-१२०
नारद स्मृति	ई० ५०० (अं०)
निबंध ग्रंथकाल	ई० १०००-१६००
पतंजलि, ग्रंथकार	ई० पू० १५० (अं०)
परमार राजवंश काल	ई० ९५०-१२००
पर्शियन स्वारी	ई० पू० ५१५ (अं०)
पुराणों का युग	ई० ४००-८०० (अं०)
पुष्यमित्र शुंग	ई० पू० १९०-१६० (अं०)
पूर्व मीमांसा, ग्रंथ	ई० पू० १५० (अं०)
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र	ई० ८०० (अं०)
बुद्धनिर्वाण काल	ई० पू० ४८७ (अं०)
ब्राह्मण ग्रंथकाल	ई० पू० १५००-८०० (अं०)
भोज, परमार राजा	ई० १०१५-१०४५ (अं०)
भोज, प्रतिहार राजा	ई० ८४०-८९० (अं०)
मनुस्मृति	ई० पू० १०० (अं०)
महाभारत ग्रंथकाल	ई० पू० ३०० (अं०)
महाभारत युद्धकाल	ई० पू० १४०० (अं०)
मिनॅडर, राजा	ई० पू० १६०-१४०
मेगॅस्थेनीज	ई० पू० ३००
मौखरिराजवंश काल	ई० ५४०-६०६
मौर्यराजवंश काल	ई० पू० ३२०-१८५ (अं०)
याज्ञवल्क्य स्मृति	ई० २००

यादवराजवंश काल	ई० १०९०-१२१०
युआन च्वांग, चीनी प्रवासी	ई० ६२९-६४४
यूनानी राजवंश काल	ई० पू० १९०-९०
यौधेय गणराज्य	ई० पू० १५०-३५० ई०
राजतरंगिणी, ग्रंथ	ई० ११५०
रामायणग्रंथकाल	ई० पू० ५०
राष्ट्रकूटवंश काल	ई० ७५०-९७७
रुद्रदामन्, शकराजा	ई० १३०-१६०
लिच्छवि गणराज्य	ई० पू० ६००-३५० ई०
वाकाटक राजवंश काल	ई० २५०-५००
वैदिककाल, पूर्वखंड	ई० पू० २५००-२००० (अं०)
वैदिककाल, उत्तर खंड	ई० पू० २०००-१५०० (अं०)
शक-कुषाण राजवंश काल	ई० पू० १००-३०० ई०
शाक्य गणराज्य	ई० पू० ५००
शुंगराजवंश काल	ई० पू० १८५-७५
शुक्रनीति, ग्रंथ	ई० ८०० (अं०)
समुद्रगुप्त, राजा	ई० ३३०-३७५
सातवाहन राजवंश काल	ई० पू० २००-२०० ई०
हगान, राजा	ई० पू० २५ (अं०)
हगामष, राजा	ई० पू० २५ (अं०)
हर्षवर्धन, राजा	ई० ६०६-६४८

परिशिष्ट ३

आधारभूत ग्रंथ : संस्कृत, प्राकृत व पाली

ऋग्वेद
यजुर्वेद
अथर्ववेद
काठक संहिता
तैत्तिरीय संहिता
ऐतरेय ब्राह्मण
शतपथ ब्राह्मण
पंचविंश ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण
बृहदारण्यक उपनिषद्
आपस्तंब धर्मसूत्र
गौतम धर्मसूत्र
वशिष्ठ धर्मसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
विष्णु धर्मसूत्र
रामायण
महाभारत
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्य स्मृति
नारद स्मृति
कौटिलीय अर्थशास्त्र, शामशास्त्री द्वारा संपादित
कामंदकीय नीतिसार
नीलकंठ, राजनीतिमयूख
मित्रमिश्र, राजनीतिप्रकाश
शुक्रनीति
अग्निपुराण
मार्कंडेय पुराण
दीघनिकाय
चुल्लवग्ग
दिव्यावदान
जातक
आचारांग सूत्र
अशोक के शिलालेख
प्रतिज्ञायौगंधरायण
मृच्छकटिक
रघुवंश
मालविकाग्निमित्र
पंचतंत्र
राजतरंगिणी
कथासरित्सागर

आधारभूत अंग्रेजी-ग्रंथ

Books on Hindu Polity.

K. P. jayaswal, Hindu Polity. Calcutta, 1924, (First Edition)

J. J. Anjaria, The Nature and Grounds of Political

Obligation in the Hindu State, Longmans, Green & Co. 1935.

H. N. Sinha, Sovereignty in Ancient Indian Polity, London. 1938.

Beni Prasad, Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1927.

Beni Prasad, The State in Ancient India, Allahabad, 1928.

A. K. Sen, Studies in Ancient Indian Political Thought, Calcutta, 1926.

N. C. Vandyopadhyaya, Development of Hindu Polity and Political Theories, Calcutta, 1927.

N. N. Law, Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford, 1921.

N. N. Law, Studies in Ancient Indian Polity, Longmans, Green & Co.

N. N. Law, Inter-state Relations in Ancient India, Calcutta, 1920.

T. V. Mahaligam, South Indian Polity, Madras, 1955.

S. V. Visvanathan, International Law in Ancient India, Longmans, Green & Co., 1925.

D. R. Bhandarkar, Some Aspects of Ancient Indian Polity, Benares, 1929.

V. R. R. Dikshitar, Hindu Administrative Institutions, Madras, 1939.

V. R. R. Dikshitar, Mauryan Polity, Madras, 1932.

J. Mathai, Village Communities in British India, London. 1915.

R. C. Majumdar, Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1932.

R. K. Mookerji, Local Self Government in Ancient India, Oxford, 1920.

A. S. Altekar, History of Village Communities in Western India, Bombay, 1926.

U. Ghosal, A History of Hindu Political Theories, Calcutta, 1923.

U. Ghosal, Hindu Revenue System, Calcutta, 1929.

R. Pratapgiri, Problem of Indian Polity, Bombay, 1935.

P. V. Kane, History of Dharmasastra, Vol. III.

V. P. Varma, Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundation, Delhi, 1954.

U. Ghosal, History of Public Life in Ancient India, Calcutta, 1944.

K. V. Rangaswami Aiyangar, Some Aspects of Ancient Indian Polity, 2nd Edition, Madras, 1935.

Epigraphical Works.

Epigraphia Indica.

Indian Antiquary.

Epigraphia Carnatica, Edited by Rice, Bangalore.

South Indian inscriptions, 5 Vols., edited by Hultzsch.

South Indian Epigraphical Reports. Published by Madras Government annually.

Fleet, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. III, (Gupta Inscriptions), Calcutta 1888.

Hultzsch, Corpus Inscriptionum Indicarum, Vol. I, (Ashoka Inscriptions) Oxford, 1925.

V. Rangacharya, Inscriptions from Madras Presidency, 3 Vols. Madras, 1919.

Archaeological Survey of India, Annual Reports.

General Works.

Maccrindle, Invasion of India by Alexander the Great, Westminister, 1896.

Maccrindle, Ancient India as discribed by Megasthenes, Arrian etc., Calcutta, 1906.

T. Watters, On Yuan Chwang's Travels in India, London, 1904.

Elliot and Dowson, History of India as told by her own historians, Vols. I-III.

Rhys Davids, Dialogues of the Buddha.

A. S. Altekar, Rashtrakutas and their Times, Poona, 1932.

A. S. Altekar, Education in Ancient India, 1943, Benares.

A. S. Altekar, Position of Women in Hindu Civilization, Benares, 1938.

A. S. Altekar, Village Communities in Western India, Bombay, 1927.

R. Fick, Social Conditions in North-Eastern India at the times of the Buddha. tr. by S. K. Maitra, Calcutta, 1920.

R. C. Majumdar, History of Bengal, Calcutta, 1943.

R. C. Majumdar and A. S. Altekar, The Age of the Vakatakas and the Guptas, Lahore, 1946.

K. A. Nilkantha Shastri, Studies in Chola History and Administration, Madras, 1932.

R. N. Mehta, Pre-Buddhist India, Bombay, 1939.

Macdonel and Keith, Vedic Index of Names and Subjects. London, 1912.

परिशिष्ट ४

अनुक्रमणिका

सूचना—संख्या पृष्ठ-संख्या निर्देशक है।

इ

उ

ऊ

ऋ

औ

क

ख

ग

घ

च

ज

त

भ

म

ग्रंथकार के अन्य ग्रंथ

हिन्दी

१. प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति, नंदकिशोर ब्रदर्स, बनारस. १९५५; ५ रु.

२. गुप्तकालीन मुद्राएँ, राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना ३; १९१४; ९ रु.

मराठी

३. प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति अप्राप्य

English.

	Rs.	nP
4. History of Village Communities in Western India. Oxford University Press. Bombay. Out of print.		
5. Education in Ancient India. 5th edition, Nand Kishore Brothers, Banaras. ..	5	0
6. Rashtrakutas and their Times, Oriental Book Agency, Poona 2, 1934. ..	8	50
7. Silaharas of Western India. reprinted from *Indian Culture*, 1935-36; to be had from the author. ..	2	0
8. Position of Women in Hindu Civilisation: 2nd Edition 1956: Motilal Banarsidas. Delhi 6. ..	15	0
9. State and Government in Ancient India. 3rd Edition, 1958. Motilal Banarsidas, Delhi 6. ..	15	0
10. Banaras and Sarnath: Past and Present. 1943. To be had from the author. ..	1	25
11. The age of the Vakatakas and the Guptas, Edited jointly with Dr. R. C. Majumdar. Motilal Banarsidas, Delhi 6. ..	15	0
12. Sources of Hindu Dharma, 1952; D. A. V. College, Sholapur. ..	2	0
13. The Catalogue of the Gupta Gold Coins of the Bayana Hoard, 1954. To be had from the author. ..	60	0
14. The Coinage of the Gupta Empire, 1957 Numismatic Society of India, Banaras 5. ..	30	0